BEESWIN SHATABDI KE ANTIM DASHAK KE UPANYASON MEIN SAMAJIK VISANGATIYAN

A Thesis submitted during 2014 to the University of Hyderabad in partial fulfillment of the award of a **Ph.D. degree** in Department of Hindi, School of Humanities.

By

SATABDI BEHERA
08HHPH10

Department of Hindi
School of Humanities

University of Hyderabad
(P.O.) Central University
Prof. C. R. Rao Road
Gachibowli
Hyderabad - 500 046
Telangana
INDIA

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "**BEESWIN SHATABDI KE ANTIM DASHAK KE UPANYASON MEIN SAMAJIK VISANGATIYAN"(“बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यासों में सामाजिक विसंगतियां”)** submitted by **Satabdi Behera** bearing Reg. No. 08HHPH10 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in Hindi is a bona fide work carried out by her under my supervision and guidance which is a plagiarism free thesis.

The thesis has not been submitted previously in part or full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor

Head of the Department

Dean of the School

<u>DECLARATION</u>

I, **SATABDI BEHERA**, hereby declare that this thesis entitled "BEESWIN SHATABDI KE ANTIM DASHAK KE UPANYASON MEIN SAMAJIK VISANGATIYAN**" (**"बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यासों में सामाजिक विसंगतियां"**)** submitted by me under the guidance and supervision of **Prof.** Noorjahan Begum is a bona fide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Date :

Name : **SATABDI BEHERA**

Signature of the Student
Regd. No. 08HHPH10

प्राक्कथन

गत्यात्मकता समाज की प्रकृति में अंतर्निहित होती है। परिवर्तन की चुनौतियों के साथ समाज का आगे बढ़ते जाना एक सतत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में समाज में अनेक नये मूल्य स्थापित होते हैं और पुराने मूल्य धूमिल पड़ जाते हैं। परन्तु दोनों में संतुलन होना जरूरी है। जहाँ इसके संतुलन में विघ्न दृश्यमान हुए वहीं सामाजिक ढाँचा चरमराने लगता है। बीसवीं शताब्दी मुख्य रूप से इसी द्वंद्वात्मक स्थिति से अस्त व्यस्त प्रतीत होती है। शताब्दी के आरंभ में जहाँ नई आशाएँ जागृत हुई, अंत तक आते-आते वे सभी मलिन पड़ने लगीं। मूल्यों का विघटन होने लगा। विकास के नाम पर विसंगतियाँ और विकृतियाँ उत्पन्न हुईं। इन्हीं विसंगतियों को कभी कारण बनते हुए तो कभी इसका शिकार बनते हुए मनुष्य अजीब जद्दोजहद में जीवन यापन करने के लिए बाध्य हुआ।

साहित्य और समाज का गहन संबंध है। सामाजिक सरोकार के बिना साहित्यकार कल्पनालोक से उद्धार नहीं पा सकता है। सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करना उसका स्वभाव ही नहीं कर्तव्य है। साहित्यकार के उत्तरदायित्व के कारण उसकी कृति में उस समय तथा समाज का चित्र प्रतिफलित होता है। जीवन की इस विराटता को विस्तार से केवल उपन्यास में ही उजागर किया जा सकता है। शायद इसी कारणवश उपन्यास को मानव जीवन की महागाथा के रूप में आख्यायित किया गया है। उपन्यास में समाज के सभी पहलुओं को निस्संकोच भाव से चित्रित किया जाता है। जीवन के सुख, दुख, आशा-निराशा, न्याय-अन्याय आदि समस्त संगत-विसंगत स्थिति का विस्तृत विवेचन उपन्यास में ही संभव किया जाता है।

विसंगति एक ऐसी स्थिति है जो समाज में संतुलन रखने में असमर्थ है। यह नियमहीन तथा अमानवीय स्थिति ही समाज के विकास में बाधा पहुँचाती है तथा समाज को विघटन की

ओर ले जाती है। मनुष्य जीवन में कुछ मान्यताएं होती हैं और इन मान्यताओं के साथ संगतता स्थापित करते हुए जीवन गतिशील होता है। मगर बदलते परिवेश में इन मान्यताओं में बाधा उत्पन्न होने के कारण विसंगति सृष्टि होती है। समाज शास्त्री रॉबर्ट के.मर्टन ने सही कहा है कि ''जब सांस्कृतिक लक्ष्य तथा उन लक्ष्यों की प्राप्ति के संस्थागत साधनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तभी व्यक्ति का आचरण विसंगतिपूर्ण होता है।'' विकास क्रम में समाज में अनेक विकृतियाँ सर उठाने लगे। स्थिति बदतर होने लगी। परम्परा तथा आधुनिकता के जद्दोजहद में समाज में विसंगतियाँ अपनी पंख पसारने लगीं। विसंगतियों के कारण समाज, परिवार तथा व्यक्ति का विघटन हुआ। भ्रष्टाचार, बाल यौन शोषण, समलैंगिकता, आतंकवाद, चोरी, घूसखोरी आदि अनगिनत विसंगतियों के कारण सामाजिक जीवन त्रासदीय बन गया।

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध विसंगतियों का दौर है। विसंगतियाँ अपने नये रूपों में काया विस्तार करने लगी हैं। भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद आदि आँधी के रूप में समाज के विकास को छद्मता में उड़ा ले जा रही है। आधुनिकता की एक लहर चल पड़ी है जिस ज्वार में घिरकर मनुष्य अपनी परम्परा को झुठलाने लगा है। वास्तव में यह वह द्वंद्वात्मक स्थिति है जहाँ व्यक्ति यह निश्चय करने में असफल है कि किसे गले लगाये और किसे ठुकराये। पश्चिम संस्कृति का अंधानुकरण समाज को रसातल की ओर ले जाता है। इस तालमेल के अभाव में जिस प्रकार समाज तथा व्यक्ति विघटित हुआ है उसका यथार्थ चित्रण इस समय के उपन्यास में हो पाया है या नहीं इसका अवलोकन तथा विश्लेषण करना मेरे इस शोध कार्य का उद्देश्य है। समाज में जो विसंगतियाँ व्याप्त हैं उसका वास्तविक चित्रण इस समय के उपन्यासकार कर पाये हैं या नहीं यह मेरी जिज्ञासा है। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के जिन उपन्यासों में सामाजिक विषमता अधिक दृष्टिगोचर हुई है उन्हीं उपन्यासों का मैंने यहाँ चित्रण किया है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के काल खंड के अंतर्गत मैंने बीस उपन्यासों का चयन किया है, जिसमें इस काल खंड के प्रमुख उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा, गिरिराज किशोर, कमलेश्वर, गीतांजलि श्री, चित्रा मुद्‌गल, प्रभा खेतान, नमिता सिंह, वीरेन्द्र जैन, सुरेन्द्र वर्मा, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, बलवंत गार्गी, मनमोहन सहगल, देवेश ठाकुर, सूर्यबाला, राजी सेठ आदि महानुभवों ने अपनी लेखनी से सामाजिक विषमता का संस्पर्श कर किया है। इन उपन्यासकारों ने उन तमाम विसंगतियों को उपन्यास में स्थान दिया है, क्या इससे समाज का दिग्दर्शन संभव हो सकेगा? इसका अध्ययन तथा विश्लेषण इस शोध प्रबंध की उपलब्धि होगी जो समाज के सम्मुख साहित्यिक शोध के महत्व को सशक्त करने में सहायक सिद्‌ध होगी।

उपन्यासों में अत्यधिक रुचि होने के कारण मैंने इस पर शोध कार्य करना चाहा। अपने एम.फिल. के दौरान स्त्री विमर्श पर काम करते हुए मुझमें यह इच्छा जगी कि किसी एक फलक पर नहीं बल्कि विस्तृत फलक पर शोध कार्य करूँ। मेरी यह इच्छा पी-एचडी. में प्रवेश मिलने के बाद बलवती होने लगी। अत: अपनी निर्देशिका प्रो. नूरजहाँ बेगम जी के साथ इस पर विचार-विमर्श करने के पश्चात उन्होंने मुझे इस विषय पर शोध कार्य करने के लिए अनुमति प्रदान की तथा अंतर्मन से प्रोत्साहित किया और शोध के शीर्षक का भी पथ प्रदर्शन किया। फलस्वरूप मैंने शोध कार्य के लिए 'बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में उपन्यासों में सामाजिक विसंगतियाँ' नामक शीर्षक चुना और हिंदी विभागीय समिति ने इस विषय को स्वीकृति प्रदान की।

इस शोध कार्य के अंतर्गत बीसवीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों में उन तमाम विसंगतियों को ढूँढना भर नहीं है जो उस समय समाज में त्रासदी का कारण बनी हुई हैं बल्कि उनके कारण तथा परिणाम का विश्लेषण करते हुए सकारात्मक संभावनाओं की ओर दिशा निर्देशन भी संभव होगा। पात्रों के माध्यम से साधारण व्यक्ति को अपने वास्तविक जीवन से रू-

ब-रू करना तथा भूलो-भटकों को चेतना प्रदान करना इस उपन्यास में हो पाया है या नहीं यह मेरे शोध के केन्द्र में है।

शोध प्रबंध को अध्ययन, विवेचन एवं विश्लेषण की सुविधा हेतु उपसंहार के अतिरिक्त पाँच अध्यायों में विभक्त किया है।

प्रथम अध्याय - 'भारतीय समाज और सामाजिक विसंगतियाँ : अवधारणा और स्वरूप' है। इस अध्याय के अंतर्गत सामाजिक विसंगति का शाब्दिक अर्थ, परिभाषा एवं सामाजिक विसंगतियों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए अंतिम दशक के बीस महत्वपूर्ण उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक 'सामाजिक जीवन और विसंगतियाँ' है। इस अध्याय में धर्म, अर्थ और काम के आधार पर समाज में व्याप्त विसंगतियों को उपन्यास के संदर्भ में विवेचन विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय - 'सामाजिक व्यवस्था में विसंगतियाँ' है। इसके अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था में जैसे वर्ग, वर्ण तथा शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त उन तमाम विसंगतियों का सोदाहरण उल्लेख किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का शीर्षक है - 'परिवार और सामाजिक विसंगतिया'। इस अध्याय में सामाजिक विसंगति किस प्रकार संबंधों के बिखराव तथा परिवार के टूटन का कारण बनी हैं इसे उपन्यास के संदर्भ में दर्शाया गया है। साथ ही उन अनेकों पारिवारिक संबंधों जैसे - पिता- पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-भाई, पति-पत्नी तथा परिवार में स्त्री की स्थिति किस प्रकार विघटित हो रही है उसे सूक्ष्म रूप से उदाहरण के माध्यम से उजागर किया गया है।

पंचम तथा अंतिम अध्याय 'सामाजिक विसंगतियों के कारण और परिणाम' के अंतर्गत सामाजिक विसंगतियों के लिए उत्तरदायी उन तमाम कारणों को उपन्यास में ढूँढा गया है और

इसके परिणामस्वरूप यह विसंगतियाँ कैसे इस समाज तथा व्यक्ति को असहाय, अजनबी बताते हुए मानसिक विकृतियों जैसे कुंठा, अकेलापन, तनाव, संत्रास, हिंसा से गुजरते हुए हत्या तथा आत्महत्या की चरम स्थिति पर पहुँचाती है। इसको सोदाहरण विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

उपसंहार के अंतर्गत बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यासों में उपन्यासकारों की दृष्टि एवं विषय की उपलब्धि और भावी शोध की संभावनाओं को दर्शाया गया है।

अंत में सहायक ग्रंथों की सूची संलग्न है।

सर्वप्रथम मैं अपने माता-पिता के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होंने मुझे घर से दूर भेजकर शोध-कार्य करने के लिए अनुमति प्रदान की। तत्पश्चात पूज्या गुरू माँ के चरणों की अंतर्मन की गहराइयों से वंदना करती हूँ जिनके आशीर्वाद से वह शोध-प्रबंध निर्विघ्न संपन्न हो पाया है।

इस शोध प्रबंध के प्रस्तुतीकरण का यह विनम्र प्रयास प्रो. नूरजहाँ बेगम, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के विद्वतापूर्ण एवं कुशल निर्देशन में संपन्न हुआ है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे प्रो. नूरजहाँ बेगम जी के सुयोग्य निर्देशन में शोध प्रबंध को पूर्ण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। विषय चयन से लेकर समापन तक मुझे उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन नहीं मिला होता तो मेरे लिए यह शोध-कार्य करना असंभव ही था। शोध-कार्य के प्रारंभ से लेकर अंत तक उनसे जो स्नेह एवं आत्मीयता मिली उसके लिए उन्हें शत-शत नमन। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि उनके स्नेह, आत्मीयता के तमाम पलों को जीवन पर्यंत मैं अपनी स्मृति मे संजोये रखूँगी।

विभाग के सभी गुरूजनों तथा कार्यकर्ताओं के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने जरूरतों के पल में मुझे सहायता प्रदान की।

इस शोध-प्रबंध को सफलतापूर्वक साकार रूप देने में मुझे अपने परिवारों का अपार स्नेह व सहयोग प्राप्त हुआ है। विशेष रूप से मेरी दीदी, जीजाजी का योगदान हर कठिन पलों में मेरी सहायता, प्रोत्साहन मुझे और भी ऊर्जा प्रदान करता रहा है। इसलिए उनके प्रति मैं चिर कृतज्ञ हूँ। दीदी के बेटे के सहयोग को भूल जाने में मेरी कृतघ्नता होगी जो समय-समय पर मुझे मेरी आलस्य तथा विलम्ब को मासूमियत के साथ उजागर करता रहा। छोटी दीदी ने भी हमेशा मेरे हौसले को बुलंद किया है। इसलिए उनके प्रति भी मैं चिर ऋणी रहूँगी। भैया-भाभी का स्नेह भी इसमें शामिल है।

मेरे मित्रों ने भी इस शोध-कार्य की अवधि के अंतर्गत मुझे अपार सहायता प्रदान की है। सुख-दुख में वे हमेशा मेरे साथ रहे हैं। विशेषकर नगिना, सीमा, दत्ता, स्वयंप्रभा, सुचिस्मिता, अर्पिता, असीना, आद्याशा का मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

अत: सविनम्र यह मेरा शोध-प्रबंध सुधी जनों के सम्मुख प्रस्तुत है।

शताब्दी बेहेरा

अनुक्रमणिका

	पृ.सं.
प्राक्कथन	i-v
प्रथम अध्याय	
भारतीय समाज और सामाजिक विसंगतियाँ : अवधारणा और स्वरूप	1-66
1.1 सामाजिक विसंगतियों से तात्पर्य	**4-5**
1.1.1 शाब्दिक अर्थ	**5-6**
1.1.2 परिभाषा	**7-10**
1.2 सामाजिक विसंगतियों के स्वरूप	**10-11**
1.2.1 भ्रष्टाचार	**11-14**
1.2.2 बलात्कार	**14-16**
1.2.3 बाल यौन शोषण	**16-17**
1.2.4 पारिवारिक विघटन	**17-19**
1.2.5 बिन ब्याही माँ	**19-21**
1.2.6 स्त्री-पुरुष संबंध के बदलते प्रतिमान	**21-23**
1.2.7 समलैंगिकता	**23-24**
1.2.8 पुरुष वेश्यावृत्ति या Gigolo	**24-26**
1.2.9 कोख का विक्रय (Surrogacy)	26-27
1.2.10 बिना विवाह के साथ रहना (Live-in Relationship)	28-30
1.2.11 मुक्त भोग	**30-31**
1.2.12 पुत्री-भ्रूण हत्या (Female Foeticide)	31-34

1.2.13 साम्प्रदायिकता **34-36**

1.2.14 आतंकवाद (Terrorism) 36-38

1.2.15 माफिया **38-39**

1.2.16 वृद्ध समस्या **40-41**

1.2.17 शिक्षा जगत की विसंगतियाँ **41-43**

1.3 बीसवी शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यास : संक्षिप्त परिचय **43-45**

1.3.1 अर्धनारीश्वर (1992) **46-45**

1.3.2 दीक्षांत (1992) **46-47**

1.3.3 नरमेध (1992) **47-48**

1.3.4 छिन्नमस्ता (1993) **48-49**

1.3.5 मुझे चाँद चाहिए (1993) **49-51**

1.3.6 निष्कवच (1995) **51-52**

1.3.7 अपनी सलीबें (1995) **52-53**

1.3.8 पाँच आँगनों वाला घर (1995) **53-54**

1.3.9 शिखर पुरुष (1995) **55-55**

1.3.10 कठगुलाब (1996) **55-57**

1.3.11 पंचनामा (1996) **57-57**

1.3.12 चाक (1997) **57-58**

1.3.13 यातना घर (1997) **58-59**

1.3.14 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता (1998) **60-61**

1.3.15 मॉडल गर्ल (1998) **61-61**

1.3.16 हमारा शहर उस बरस (1998)	**62-63**
1.3.17 विस्रामपुर का संत (1998)	**63-64**
1.3.18 आवां (1999)	**64-65**
1.3.19 कितने पाकिस्तान (2000)	**65-65**
1.3.20 समय सरगम (2000)	**66-66**
द्वितीय अध्याय	
सामाजिक जीवन और विसंगतियाँ	67-150
2.1 धर्म	**69-70**
2.1.1 धार्मिक भ्रष्टाचार	**70-76**
2.1.2 साम्प्रदायिकता	**76-84**
2.1.3 आतंकवाद	**84-89**
2.2 अर्थ	**89-90**
2.2.1 अर्थ प्राप्त करने के विसंगत साधन	**90-91**
2.2.2 माफिया	**91-95**
2.2.3 घूसखोरी	**95-99**
2.2.4 सत्ता लोलुपता	**99-107**
2.2.5 पुरुष वेश्यावृत्ति (Gigolo)	107-111
2.2.6 वेश्यावृत्ति तथा कॉल गर्ल समस्या	**112-118**
2.2.7 नग्न प्रदर्शन	**118-123**
2.2.8 बाल श्रम	**124-126**
2.2.9 कोख का विक्रय (Surrogacy)	126-128

2.3 काम **128-129**

2.3.1 मुक्त भोग **129-133**

2.3.2 बिन ब्याहे माँ **133-137**

2.2.3 बलात्कार **137-143**

2.3.4 समलैंगिकता **143-149**

2.3.5 बाल यौन शोषण **149-150**

तृतीय अध्याय

सामाजिक व्यवस्था में विसंगतियाँ 151-224

3.1 वर्ग व्यवस्था का विसंगत रूप **153-162**

3.2 वर्ण व्यवस्था का विसंगत रूप **162-170**

3.3 शिक्षा जगत में विसंगतियाँ **171-176**

3.3.1 गुरू और शिष्य संबंध **177-184**

3.3.2 शिक्षा का गिरता हुआ स्तर **184-188**

3.3.3 शिक्षक की योग्यता तथा उनका चुनाव **188-192**

3.3.4 विद्यार्थी तथा गुरू की अनुशासनहीनता एवं उद्दंडता **192-201**

3.3.5 शिक्षा जगत में पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद **201-207**

3.3.6 शिक्षा जगत में जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता **207-216**

3.3.7 सुरापान तथा विविध विसंगत मनोरंजन **217-223**

3.3.8 शिक्षा जगत में यौन शोषण **223-224**

चतुर्थ अध्याय

परिवार और सामाजिक विसंगतियाँ 225-291

4.1 पारिवारिक विघटन **226-227**

4.1.**1** संयुक्त परिवार का विघटन **227-233**

4.2 एकल परिवार **233-238**

4.3 पारिवारिक संबंध में विसंगतियाँ **238-240**

4.3.1 पिता-पुत्र संबंध **240-243**

4.3.2 पिता-पुत्री संबंध **243-247**

4.3.3 माता-पुत्र संबंध **247-250**

4.3.4 माता-पुत्री संबंध **250-254**

4.3.5 भाई-भाई संबंध **254-258**

4.4 वृद्ध समस्या **258-266**

4.5 परिवार में यौन शोषण **266-273**

4.6 विवाहेत्तर संबंध **273-279**

4.7 विवाह विच्छेद के बढ़ते स्तर **279-285**

4.8 पति और पत्नी के बदलते प्रतिमान **285-291**

पंचम अध्याय

सामाजिक विसंगतियों के कारण और प्रतिमान 292-351

5.1 सामाजिक विसंगतियों के कारण **294-295**

5.1.1 पश्चिमीकरण **295-299**

5.1.2 पूँजीवाद तथा भूमंडलीकरण **299-304**

5.1.3 उपभोक्तावादी संस्कृति **304-310**

5.1.4 नैतिकता का ह्रास **310-314**

5.1.5 अल्प परिश्रम और अधिक पाने की ललक **314-317**

5.1.6 तकनीकी विकास का गलत प्रयोग **318-322**

5.1.7 विज्ञापन का प्रभाव **322-326**

5.2 सामाजिक विसंगतियों के परिणाम **326-326**

5.2.1 अकेलापन **326-330**

5.2.2 तनाव **330-333**

5.2.3 हिंसा **333-337**

5.2.4 संत्रास **337-341**

5.2.5 कुंठा **341-343**

5.2.6 हत्या **344-347**

5.2.7 आत्महत्या **347-351**

उपसंहार 352-359

संदर्भ ग्रंथ सूची 360-365

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज और सामाजिक विसंगतियाँ : अवधारणा और स्वरूप

1. सामाजिक विसंगतियों से तात्पर्य

1.1 शाब्दिक अर्थ

1.2 परिभाषा

2. सामाजिक विसंगतियों के स्वरूप

2.1 भ्रष्टाचार

2.2 बलात्कार

2.3 बाल यौन शोषण

2.4 पारिवारिक विघटन

2.5 बिन ब्याही माँ

2.6 स्त्री-पुरुष संबंधों के बदलते प्रतिमान

2.7 समलैंगिकता

2.8 पुरुष वेश्यावृत्ति या Gigolo

2.9 कोख का विक्रय (Surrogacy)

2.10 बिना विवाह के साथ रहना (Live-in Relationship)

2.11 मुक्त भोग

2.12 पुत्री भ्रूण हत्या (Female Foeticide)

2.13 साम्प्रदायिकता

2.14 आतंकवाद (Terrorism)

2.15 माफिया

2.16 वृद्ध समस्या

2.17 शिक्षा जगत की विसंगतियाँ

3. बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यास : संक्षिप्त परिचय

3.1 अर्धनारीश्वर (1992)

3.2 दीक्षांत (1992)

3.3 नरमेघ (1992)

3.4 छिन्नमस्ता (1993)

3.5 मुझे चाँद चाहिए (1993)

3.6 निष्कवच (1995)

3.7 अपनी सलीबें (1995)

3.8 पाँच आँगनों वाला घर (1995)

3.9 शिखर पुरुष (1995)

3.10 कठगुलाब (1996)

3.11 पंचनामा (1996)

3.12 चाक (1997)

3.13 यातना घर (1997)

3.14 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता (1998)

3.15 मॉडल गर्ल (1998)

3.16 हमारा शहर इस बरस (1998)

3.17 विश्रामपुर का संत (1998)

3.18 आवां (1999)

3.19 कितने पाकिस्तान (2000)

3.20 समय सरगम (2000)

प्रथम अध्याय

भारतीय समाज और सामाजिक विसंगतियाँ : अवधारणा और स्वरूप

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही संस्कृति तथा परम्परा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है एवं उनकी निरंतरता को शाश्वत माना गया है। इसके आधार पर ही हमारे समाज में सदा जीवन मूल्य, आदर्श, नैतिकता, प्रेम आदि को पूज्य माना गया है। प्राचीन काल में व्याप्त रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, कुप्रथाओं आदि के बावजूद भी समाज में समन्वय तथा सहयोग की भावना बनी हुई थी। मानव मन में विद्यमान अपनी संस्कृति तथा परम्परा के प्रति गहन लगाव ने सदा उसे सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया। यही कारण है कि समन्वय और सहयोग भारतीय समाज की संरचना और विकास के प्रमुख आधार रहे।

समय के साथ समाज में काफी बदलाव हुए हैं। हम यह जानते हैं कि परिवर्तन ही सृष्टि का नियम है। इस परिवर्तन के कारण ही व्यक्ति तथा समाज विकास करता है। परन्तु ऐसा परिवर्तन भी हमें ग्राह्य नहीं होना चाहिए जो हमें हमारी जड़ से, परमपरा से ही विच्युत कर दे। परन्तु समय ने हममें समाज में जो विकास किया है उसमें अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हुई हैं। हम अपनी जड़ से कटते जा रहे हैं। समाज के इस परिवर्तन के बारे में गिरिजा कुमार माथुर की यह कविता यथास्थिति का वर्णन करती है-

"जो कुछ पुराना है मोहक तो लगता है
टूटन का दर्द मगर सहना ही पड़ता है।"[1]

आज भारत में जो स्थिति बनी हुई है वहाँ परम्परा तथा आधुनिकता के बीच संघर्ष चल रहा है। फलस्वरूप समाज की तमाम मान्यताएं टूट रही हैं। प्राचीन काल में जो कुछ विसंगतियाँ थीं वह आधुनिक काल में अत्यधिक विकृत हो रही हैं। सत्येन्द रंजन का कहना है - "समाज के इस संघर्ष ने गहरे राजनैतिक आयाम हासिल कर लिए हैं। एक तरफ परम्परा के समर्थक हैं, जो समाज की प्रगति

---

[1] संक्रमण की पीड़ा - श्यामचरण दुबे, पृ.सं. 11

और उत्थान से विचलित होकर इसपर एकजुट हमला कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ न्याय, समता और लोकतंत्र के पक्षधर आधुनिकतावादी लोग हैं।"[1]

ऐसे हालात में अनेक सामाजिक विसंगतियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्यों भारत एक विकासशील देश होने के कारण वह विकसित होने का लक्ष्य का पोषक है इसलिए पाश्चात्य प्रभाव से वह बहुत अधिक प्रभावित होता है। इससे भारतीय समाज में स्थिति और भी बिगड़ती जाती है और ऐसे हालात में भारतीय परम्परावादी कहलाने में संकोच अनुभव करता है। यह मनोभाव उसके जीवन को पतनोन्मुखी कर रहा है। श्यामाचरण दुबे कहते हैं - "भारत की स्थिति तेजी से बदल रही है। लोक संस्कृतियों के विशाल सागर में अभिजात्य के दीप पनप रहे हैं। कभी ये राष्ट्रीय चेतना और नवजागरण के दीप स्तंभ थे, आज उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ और उनसे उत्पन्न विकृतियाँ पनप रही हैं। समाज अब परम्परा-निर्देशित नहीं रहा। उसमें अंत:करण निर्देशन भी क्षीण हो रहा है। उसमें निर्देशन बढ़ रहा है, जो व्यावसायिक हित-साधन में पश्चिम की उत्तर दायित्वहीन अनुकृति मात्र है।"[2]

ऐसे संक्रमण की स्थिति में भारतीय समाज आज दिशाहीन होकर विसंगतपूर्ण समाज में जीने के लिए मजबूर है। किसी भी समाज में विसंगतियाँ स्वाभाविक हैं, परन्तु उसमें संतुलन होना आवश्यक है अन्यथा समाज विघटन की ओर प्रवृत्त होगा, फलस्वरूप समाज जीने लायक नहीं रह पायेगा।

1.1 सामाजिक विसंगति से तात्पर्य

समाज एक संगठन है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य को अपना संबंध समाज के साथ जोड़ना पड़ता है तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोगों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इसे एक प्रक्रिया कहा जा सकता है जो निरंतर चलती रहती है। मनुष्य के इस पारस्परिक संबंध सर्वदा सकारात्मक नहीं होते हैं। एक विशाल समाज होने के नाते परिस्थिति एवं परिवेश सदा बदलते रहते हैं और इनके आधार पर मनुष्य की प्रवृत्ति में भी समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं। इस गत्यात्मकता के फलस्वरूप अनेक नकारात्मक तथा विसंगतपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न होती है जो समाज के विकास में बाधा पहुँचाते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि विसंगतपूर्ण स्थिति के कारण समाज विकास तो करता है

[1] स्त्री, परम्परा और आधुनिकता - सत्येन्द्र रंजन, पृ.सं. 40
[2] संक्रमण की पीड़ा - श्यामचरण दुबे, पृ.सं. 27

क्योंकि विकास एक चिरंतन प्रक्रिया है मगर संगठित होने के बजाय विघटित होता है। संतुलन बिगड़ता जाता है। लोगों के बीच मित्रता समाप्त हो जाती है। अत: लोग एक दूसरे से बैर भाव से पेश आते हैं। समाज पतनोन्मुख हो जाता है। अत: समाज में जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न होती है तब इसे सामाजिक विसंगति कहा जा सकता है। विसंगति की इस अवस्था में लोगों में निराशा, असंतोष, तनाव, विद्रोह, कुंठा, अकेलापन आदि भावना पनपती है, जिसके कारण व्यक्ति का सुख चैन लुप्त हो जाता है। अर्थात जब कोई व्यक्ति अपनी आशा तथा जरूरतों की पूर्ति करने में असफल होता है तब वह जाने-अनजाने समाज द्वारा मान्य नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों को स्वीकार नहीं करता है। इन आदर्शों तथा मूल्यों से वह अपना अहित मानता है।

समाज में विसंगति प्राचीन काल से ही विद्यमान है। जैसे बिना दु:ख के सुख को महसूस नहीं किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार विसंगति रहित समाज विकास की गत्यात्मकता में बाधा पहुँचाता है। परन्तु इसमें संतुलन होना अत्यंत जरूरी है अन्यथा अच्छाई के ऊपर बुराई का पलड़ा भारी हो जाएगा और मानव जाति के आदर्शों, लक्ष्यों और साधनों में अधिक संतुलन तथा भ्रम की स्थिति उत्पन्न होगी। फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया में बाधा पहुँचना स्वाभाविक हो जाता है। यहाँ पर 'विकास' से मेरा तात्पर्य है मूल्यपरक तथा आदर्शपूर्ण विकास न कि केवल 'आर्थिक विकास'। भारतीय समाज में आर्थिक विकास हमेशा गौण रहा है। हमारी संस्कृति, मूल्य, परम्परा सर्वदा हमारे लिए मुख्य रहे हैं। परन्तु समय के साथ-साथ तथा सामाजिक विसंगतियों के प्रबलता के कारण इस प्रकार के विकास में बाधा पहुँची है।

1.1.1 शाब्दिक अर्थ

'विसंगति' पर अधिक चर्चा करने से पहले हमें इसके शाब्दिक अर्थ से अवगत होना जरूरी है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में विसंगति शब्द का गठन 'विसङंगत (वि) (वि-सम√गम्+क) दिया गया है जिसका अर्थ है अयोग्य, असंङगत तथा बेमेल। मानक हिंदी-अंग्रेजी कोश में 'विसंगति' को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है - " 'विसंगत' एक संस्कृत शब्द और विशेषण है जिससे 'विसंगति' बना है जो स्त्रीलिंग है और संस्कृत शब्द है जिसके लिए अंग्रेजी में Discordance, Discrepancy,

Irrelevancy आदि शब्द प्रयोग किया गया है।"[1] व्यावहारिक हिंदी-अंग्रेजी शब्दकोश में 'विसंगति' के लिए Irrelevancy, Illogicality तथा Incoherence आदि शब्द दिया गया है।"[2] भोलानाथ तिवारी द्वारा रचित हिंदी पर्यायवाची कोश में 'विसंगति' शब्द के लिए हिंदी में अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे - "अनुपयुक्तता, असंगतता, असंगति, असंबद्धता, विपरीतता तथा अतर्कसंगतता आदि।"[3] राजपाल अंग्रेजी-हिंदी कोश में भी "विसंगति के लिए असंगति, अयुक्त, असंगत, हास्यास्पद, मूर्खतापूर्ण, बेतुकापन आदि शब्द दिये गये हैं एवं विसंगति का अंग्रेजी Absurd दिया गया है।"[4] उसी प्रकार "राजपाल हिंदी शब्दकोश में 'विसंगति' का अर्थ विसंगत होना या असंगति है।"[5] संक्षिप्त हिंदी-अंग्रेजी कोश में भी "विसंगति के लिए अंग्रेजी में Irrelevancy, Illogicality, Incoherence आदि शब्द बताये गये हैं।"[6] मीनाक्षी हिंदी-अंग्रेजी कोश में भी 'विसंगति' शब्द का शाब्दिक अर्थ यही है।"[7] ऑक्सफोर्ड ऐशेन्सियल शब्दकोश में " 'विसंगति' के लिए अंग्रेजी शब्द Absurdity दिया गया है तथा हिंदी में बेतुकापन, मूर्खता, असंगति आदि शब्द से नामित किया गया है।"[8] गुगल अनुवाद में भी " 'विसंगति' को अंग्रेजी में absurdity, Impertinence, Irrelevancy आदि बताया गया है।"[9]

अत: 'विसंगति' शब्द का कोशगत अर्थ लगभग सभी कोश में समान दिया गया है और समस्त शब्दों से परिचित होने के पश्चात ज्ञात होता है कि 'विसंगति' एक नकारात्मक शब्द है, जिसे 'संगति' शब्द से विपरीत माना जा सकता है। मुझे 'विसंगति' शब्द का सीधा अर्थ 'तालमेल का अभाव' या 'जो संगत नहीं है' लगता है एवं मुख्य रूप से 'विसंगति' का इसी अर्थ को मैंने अपने शोधकार्य का आधार माना है।

---

[1] मानक हिंदी-अंग्रेजी कोश - राममूर्ति सिंह, पृ.सं. 294
[2] Practical Hindi/-English Dictionary - B.N. Tiwari, pg. 719
[3] हिंदी पर्यायवाची कोश - भोलानाथ तिवारी, पृ.सं. 580
[4] राजपाल अंग्रेजी-हिंदी शब्दकोश - डॉ. हरदेव बाहरी, पृ.सं. 21
[5] राजपाल हंदी शब्द कोश - डॉ. हरदेव बाहरी, पृ.सं. 757
[6] संक्षिप्त हिंदी-अंग्रेजी कोश - महेन्द्र चतुर्वेदी, भोलानाथ तिवारी, पृ.सं. 288
[7] मीनाक्षी हिंदी-अंग्रेजी कोश - डॉ. ब्रजमोहन, डॉ. बदरीनाथ कपूर, पृ.सं. 656
[8] Oxford Essential English-English-Hindi Dictionary - Oxford University Press, pg. 2
[9] Google Translate - www.google.com

1.1.2 परिभाषा

'विसंगति' को परिभाषित करने के लिए हमें मुख्यत: समाजशास्त्रीय सिद्धांत को आधार के रूप में ग्रहण करना होगा। पाश्चात्य समाजशास्त्रियों ने ही विसंगति पर मुख्य रूप से चर्चा की है एवं उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। भारत में इस आशय पर कहीं पर भी विस्तार से अथवा इसे सिद्धांत मानकर विश्लेषण नहीं किया गया है। अत: आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत के क्षेत्र में 'विसंगति' के लिए अंग्रेजी में Anomie शब्द का प्रयोग करते हैं। रवीन्द्र नाथ मुखर्जी के अनुसार - "आधुनिक समाजशास्त्रीय सिद्धांत के क्षेत्र में 'विसंगति' (Anomie) की अवधारणा बहुत महत्व की है और उसे आधुनिक अर्थ में प्रयोग करने का श्रेय श्री दुर्खीम को ही है। वैसे इस अवधारणा का उल्लेख जर्मन दर्शनशास्त्री श्री हीगल की कृतियों में भी देखने को मिलता है पर उन्होंने Anomie शब्द का नहीं, अपितु Alienation शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में आज Anomie शब्द का प्रयोग विभिन्न विद्वान करते हैं।"[1] इससे यह ज्ञात होता है कि विसंगति पर प्रथम चर्चा पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया था।

विसंगति की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए रवीन्द्रनाथ मुखर्जी फ्रेंच दार्शनिक तथा समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम का उद्धरण देते हुए कहते हैं - "श्री दुर्खीम के अनुसार विसंगति का कारण स्वयं समाज ही है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएं हैं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपना संबंध समाज के साथ जोड़ना पड़ता है और वह यह आशा भी करता है कि उन आवश्यकताओं की पूर्ति में समाज या समाज के अन्य सदस्यों का सहयोग उसे मिलता रहेगा। जब उसकी यह आशा पूरी नहीं होती है तो व्यक्ति में निराशा, असंतोष, बदला लेने की भावना आदि पनप जाती हैं और वह समाज द्वारा मान्य स्थापित नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों को स्वीकार करने से इनकार कर देता है और इस प्रकार का व्यवहार करता है कि उसका वह व्यवहार विसंगति या नियमविहीनता का ही परिचायक होता है।"[2] विसंगति एक सामाजिक असंतुलन की अवस्था है जहाँ समस्त मूल्य आदर्श धराशायी होते नजर आते हैं। दुर्खीम के अनुसार - "विसंगति

---

[1] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 158

[2] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 155

आदर्शविहीनता की एक अवस्था है, स्वाभाविकता का अभाव है, नियमों का निलम्बन है, एक ऐसी स्थिति है जिसे कि हम अक्सर नियमविहीनता कहते हैं।"[1] दुर्खीम की इस परिभाषा को विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि विसंगति समाजविरोधी है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का समस्त कार्य समाज के विपक्ष में होते हैं।

विसंगति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए दुर्खीम का कहना है - "एक बार जब समाज में विसंगति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो फिर वह छूत की बीमारी की तरह फैलती जाती है और संपूर्ण समाज में मूल्यहीनता व आदर्शविहीनता की स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक सामाजिक शक्तियाँ अपने को पुन: प्रतिष्ठित करके समाज में संगठन व एकीकरण की स्थिति को उत्पन्न करने में सफल न हों।"[2] रवीन्द्रनाथ मुखर्जी इस संबंध में कहते हैं - "जब व्यक्ति सामूहिक स्वार्थों, नियमों तथा शक्तियों को तुच्छ समझने लगता है तो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच तथा समूह और समूह के बीच का जो पवित्र आधार है, वह समाप्त हो जाता है। रह जाती है केवल नवीनताओं के लिए अनजाने सुखों के लिए कभी न बुझने वाली एक प्यास।"[3]

अमेरिका निवासी प्रख्यात समाजशास्त्री डॉ. टालकॉट पारसन्स ने भी विसंगति या एनोमी (Anomie) की अवधारणा को अपनी पुस्तक The Social system के सातवें अध्याय में विकसित किया है। उन्होंने विसंगति को कुछ इस प्रकार परिभाषित किया है- "समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति को कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति करनी होती है और उसके लिए व्यक्ति को एक कर्ता (Actor) के रूप में विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियाएं (Social actions) करनी पड़ती है। इन क्रियाओं में कुछ ऐसी क्रियाएं भी हो सकती हैं जो कि सामाजिक अवस्था के संगठन व अखंडता को नष्ट करती हैं। यह स्थिति ही विसंगति (Anomie) की होती है।"[4] पारसन्स का मत है कि - "प्रत्येक स्वाभाविक समाज में विसंगति या एनोमी की स्थिति सामाजिक व्यवस्था के एक अंग के रूप में ही विद्यमान होती है और

---

[1] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 156
[2] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 157
[3] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 157
[4] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 364

इसीलिए सामाजिक नियंत्रण के साधनों को अपनाने की आवश्यकता होती है।"[1] समाज में विसंगति की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि इतने बड़े समाज में समस्त कार्य संगतपूर्ण रूप से संपन्न होना कठिन है। अत: सामाजिक विसंगति अवश्यंभावी है। परन्तु पारसन्स इसे नियंत्रण करने का साधन के पक्षधर रहे हैं। डॉ. पारसन्स विसंगति की अवधारणा को अधिक स्पष्ट करने के लिए कहते हैं- "यह आशा नहीं की जा सकती कि समाज के प्रत्येक कर्ता (actor) की सभी भूमिकाएं (role) समाज द्वारा मान्य नियमों या आदर्शों के अनुरूप ही होंगी। उसी प्रकार यह भी आशा करना व्यर्थ है कि समाज के सभी कर्ताओं के लक्ष्यों और क्रियाओं में पूर्ण समन्वय होगा और उनमें कभी किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होगा। ऐसा न कभी हुआ है और न होगा। इसीलिए ऐसे अनेक अवसर हो सकते हैं जबकि व्यक्ति (कर्ता) का व्यवहार व क्रिया समाज द्वारा निर्धारित आदर्शों व नियमों के विपरीत हो। वास्तव में यही विसंगति की स्थिति है।"[2] पारसन्स का कहने का तात्पर्य यह है कि विशाल समाज में सभी लोग समाज के नियम तथा आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करेंगे यह असंभव है और जब लोग समाज विरोधी व्यवहार करते हैं उस स्थिति को ही विसंगति कहते हैं। विसंगति के परिणामस्वरूप पारसन्स का कहना है - "विसंगति की स्थिति एक ऐसी स्थिति है जिसमें कर्ता अपने दबावों एवं संघर्षों को संस्थागत साधनों द्वारा दूर न करके ऐसे तरीकों से दूर करने का प्रयत्न करता है जिसकी स्वीकृति समाज नहीं देता है और जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था में विघटन की दशा उत्पन्न हो जाती है।"[3]

टालकॉट पारसन्स के सर्वाधिक सफल शिष्य रॉबर्ट के. मर्टन ने भी 'विसंगति' को परिभाषित करते हुए उसकी अवधारणा को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। उनके अनुसार - "सामाजिक संरचना के स्वरूप या प्रकृति का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व व कार्यों पर पड़ता है क्योंकि व्यक्ति सामाजिक संरचना का ही एक अंग होता है। यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। इसीलिए यह हो सकता है कि व्यक्ति का व्यवहार इस रूप में प्रकट हो जैसा कि उससे आशा नहीं की जाती। इस

[1] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 364
[2] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 364
[3] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 364

अस्वाभाविक अवस्था या स्थिति को ही मोटे तौर पर 'विसंगति' की संज्ञा दी गई है।"[1] रॉबर्ट के. मर्टन ने भी अन्य समाजशास्त्रियों के समान 'विसंगति' को परिभाषित किया है। मर्टन के अनुसार - "जब सामाजिक संरचना की कोई असंतुलित अवस्था व्यक्ति पर एक प्रकार का निश्चित दबाव डालती है और व्यक्ति सामाजिक आशाओं के प्रतिकूल आचरण करता है तो उस स्थिति को विसंगति कहते हैं। आपने आगे यह भी लिखा है कि जब सांस्कृतिक लक्ष्य तथा उन लक्ष्यों की प्राप्ति के संस्थागत साधनों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है तभी व्यक्ति का आचरण विसंगतिपूर्ण होता है। अर्थात् विसंगति सांस्कृतिक लक्ष्य व संस्थागत साधनों के बीच असंगति के फलस्वरूप उत्पन्न व्यक्ति के प्रतिकूल आचरणों की एक अवस्था है।"[2]

उपर्युक्त समस्त विचारों का विश्लेषण करने के पश्चात अपने शोधकार्य के लिए 'विसंगति' को जिस अर्थ में मैंने ग्रहण किया है वह है - समाज में उत्पन्न हुई ऐसी नियमहीन तथा अमानवीय स्थिति जो समाज के विकास में बाधा पहुँचाती है तथा समाज को विघटन की ओर ले जाती है। सरल रूप ये यह कह सकती हूँ - जो समाज में संगत या संतुलन स्थापन नहीं कर पाते हैं उस स्थिति को 'विसंगति' कहा जा सकता है।

1.2 सामाजिक विसंगतियों के स्वरूप

विसंगति एवं विडम्बना को लेकर काफी विवाद है। इसलिए इन दोनों में जो अंतर है इससे अवगत होना जरूरी है। जब कोई घटना बिना सूचना के घटित होती है उसे विडम्बना कहा जाता है। मगर विसंगति का कारण स्वयं समाज है। समाज विसंगति के लिए उत्तरदायी होता है, परन्तु विडम्बना असूचित अचानक आता है। आगे विसंगतियों के स्वरूप पर चर्चा करते हुए इस अंतर को स्पष्ट रूप से समझ पाएँगे।

समाज में सदियों से विसंगति विद्यमान हैं। क्योंकि विस्तृतफलक पर विस्तारित विसंगतियों को जड़ से मिटा पाना किसी भी समाज के लिए असंभव है। परन्तु यह बात सत्य है कि प्राचीन काल में विसंगतियों के स्वरूप में इतनी अधिक विविधता नहीं थी जितनी कि आधुनिक समय में, खासकर

[1] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 381
[2] सामाजिक विचारधारा - रवीन्द्रनाथ मुखर्जी, पृ.सं. 381

स्वतंत्रता के पश्चात उभर कर आई है। जैसे-जैसे मनुष्य विकास के पथ पर अग्रसर होता जाता है वैसे-वैसे उसके सामने नयी-नयी परिस्थिति उद्भूत होती है और हमेशा यह परिस्थिति सकारात्मक होंगी यह मान्य नहीं है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तेजी से समाज में परिवर्तन हुए। विशेषकर आर्थिक विकास के कारण समाज के ढाँचे में असंभव परिवर्तन आया। इस विकास के साथ ही समाज में अनेक नये प्रकार की विसंगतियाँ दृश्यमान हुई। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में खासकर भूमंडलीकरण, औद्योगीकरण, सूचना क्रांति, उपभोक्तावादी सभ्यता के विकास के फलस्वरूप समाज के सम्मुख अनेक विसंगतपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक था। अत: इतनी विसंगतियाँ समाज में मौजूद है जिसे गिनाना असंभव है। ना ही इनकी रोकथाम ही संभव है। इसलिए हम आर्थिक विकास करते जा रहे हैं, मगर इससे उत्पन्न विसंगतियों के कारण हम दिन-ब-दिन मानसिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक स्तर पर विघटित होते जा रहे हैं।

1.2.1 भ्रष्टाचार

आधुनिक समाज में भ्रष्टाचार एक व्याधि बन गया है। प्राचीन समय में भी भ्रष्टाचार की समस्या पायी जाती थी मगर तब सीमित लोग तथा राजतंत्र के कारण भ्रष्टाचार सीमित हद तक व्याप्त था। परन्तु आधुनिक समय में मुख्य रूप से स्वतंत्रता के पश्चात इसमें बढ़ोत्तरी होते हुए बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक भ्रष्टाचार अपने चरम पर अवस्थापित है। प्रकाश नारायण नाटाणी भ्रष्टाचार के बारे में यह कहते हैं कि - "भ्रष्टाचार में व्यक्ति सामाजिक नियमों का सोच-समझकर उल्लंघन करता है एवं अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हितों की अवहेलना करता है। भ्रष्टाचार में एक व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने अधिकारों का दुरूपयोग करता है, वह मिलावट करता है, रिश्वत लेता है।"[1] भ्रष्टाचार का दायरा विस्तृत है क्योंकि इस शब्द का अर्थ है भ्रष्ट आचरण। अत: आधुनिक समाज में ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहाँ भ्रष्ट आचरण न हो रहा हो। इसलिए भ्रष्टाचार का किस अर्थ में प्रयोग किया गया है यह जानना जरूरी है। इस संदर्भ में सच्चिदानंद सिन्हा का कहना है - "देश काल के अनुसार भ्रष्ट आचरण के अर्थ भिन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए वर्ण-व्यवस्था के भीतर वर्णाश्रम

---

[1] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पृ.सं. 338

धर्म की मान्यताओं के बाहर जाकर आचरण करना - मसलन वर्ण की मर्यादाओं को तोड़ना-भ्रष्टाचार माना जाता था। इसी तरह विभिन्न धार्मिक संप्रदायों में अनेक कर्मकांडों का अतिक्रमण भ्रष्ट आचरण माना जाता है और ऐसा करने वाला आदमी धर्म-भ्रष्ट माना जाता है।"[1] बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भ्रष्टाचार मुख्य रूप से शासन तंत्र तथा अर्थ के साथ जुड़ा हुआ था। सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं - "वर्तमान समाज की भ्रष्टाचार संबंधी मान्यताएँ आधुनिक समाजों के संस्थागत नियमों, विशेषकर नियुक्तियों और आर्थिक लाभ से संबद्ध नियमों के अतिक्रमण के इर्द-गिर्द केन्द्रित होती हैं।"[2] अंतिम दशक में जिस प्रकार भ्रष्टाचार में वृद्धि हुई है, इसके लिए मुख्य रूप से आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ ही उत्तरदायी हैं। 'पूँजी' को जीवन में अत्यधिक महत्व देने के कारण लोग बस किसी भी तरह रातों-रात पूंजीपति बनने का सपने संजोने लगे हैं। फलस्वरूप वे भ्रष्टाचार के पथ पर चलने के लिए एक तरह से बाध्य हो गये हैं। समाज में भ्रष्टाचार की इस स्थिति के कारण ही भारतीय दंड विधान की धारा 161 के अनुसार भ्रष्टाचार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- "कोई भी सार्वजनिक कर्मचारी वैध पारिश्रमिक के अतिरिक्त अपने या किसी दूसरे व्यक्ति के लिए जब कोई लाभ इसलिए लेता है कि सरकारी निर्णय पक्षपातपूर्ण ढंग से किया जाए तो यह भ्रष्टाचार है तथा इससे संबंधित व्यक्ति भ्रष्टाचारी है।"[3] अंतिम दशक में सामाजिक मूल्य बदले हैं। विदेशी वाणिज्य नीति के प्रभाव के फलस्वरूप अब व्यक्तिवाद तथा भौतिक लाभ को जीवन में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जा रहा है। व्यक्ति के मूल्यांकन का परिमापक आज धन बन गया है। अत: व्यक्ति सभी प्रकार के अनुचित साधनों का प्रयोग कर धनवान बनना चाहता है।

हमारे त्रुटिपूर्ण शासन तंत्र ने भी सर्वोच्च स्तर पर भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है। यहाँ पर आसीन देश के ताकतवर लोग अपने उच्चपद तथा रूतवे के कारण शासन तंत्र को अपनी संपत्ति समझते हैं और जनता को लूटते हैं। इसलिए राजकिशोर कहते हैं - "अभी भी देश में भ्रष्टाचार के शिकार ज्यादा

---

[1] भ्रष्टाचार की चुनौती - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 66

[2] भ्रष्टाचार की चुनौती - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 66

[3] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पृ.सं. 339

हैं, भ्रष्ट लोग कम। यानी देश भ्रष्ट नहीं हुआ है बल्कि देश के ताकतवर लोग भ्रष्ट हो चुके हैं।"[1] अत: भ्रष्टाचार का शिकार साधारण जनता ही होते हैं। वे ही हमेशा सत्ताधीन व्यक्ति के कोपभाजन होते हैं। अंतिम दशक में भ्रष्टाचार के क्षेत्र में व्यापकता दिखाई पड़ती है। धार्मिक क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार दृश्यमान हैं। अपनी स्वार्थ पूर्ति की खातिर मनुष्य कुछ भी कर गुजरने को तैयार हो जाता है। व्यक्ति में चारित्रिक तथा नैतिकता का इस प्रकार स्खलन होता है कि वह यह बिसर जाता है कि वह भगवान के साथ धोखाधड़ी करने लग गया है। प्रकाश नारायण नाटाणी इस संदर्भ में कहते हैं - "सामाजिक क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार के कई रूप देखने को मिलते हैं। लोग मंदिर, मस्जिद, धर्मशाला, अनाथालय, गौशाला आदि बनवाने के लिए चंदा वसूल करते हैं और चन्दे की रकम हड़प जाते हैं। धार्मिक स्थानों पर पंडे, पुजारियों एवं महंतों द्वारा मादक द्रव्य व यौन अनाचार से संबंधित भ्रष्ट तरीके अपनाये जाते हैं।"[2] इस प्रकार अंतिम दशक में भ्रष्टाचार हर क्षेत्र में व्याप्त है। राजनीति, शिक्षा, धार्मिक, पुलिस विभाग आदि सभी क्षेत्र भ्रष्ट हो चुके हैं। प्रियदर्शन का कथन है - "सामाजिक-आर्थिक विषमता भारत में पहले भी रही, मगर स्वातंत्र्योत्तर भारत में विकास का जो नया मॉडल बना, उसने इस विषमता को कम नहीं किया, बल्कि तेजी से बढ़ाया।"[3] लोग आज भ्रष्टाचार को जीवन का एक अंग मानने लगे हैं क्योंकि यह आज हमारे समाज तथा दिलोदिमाग में इस तरह घर कर गया है कि इससे छुटकारा मिलना असंभव सा लगता है। समाज में भ्रष्टाचार की इस व्यापकता के संदर्भ में प्रियदर्शन का कहना है - "भ्रष्टाचार आज भारत में सिर्फ प्रशासनिक तंत्र का हिस्सा नहीं रह गया है। वह पूरे समाज की रगों में बहता हुआ जहर हो गया है जो इस देश के समूचे आर्थिक-सामाजिक विकास को विकलांग बना रहा है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इस देश के सारे लोग भ्रष्ट हो गये हैं, मगर इस देश की नियामक व्यवस्था कुछ ऐसी हो गयी है कि वह अधिक से अधिक लोगों को भ्रष्टाचारोन्मुख बना रही है। भ्रष्टाचार को एक अपरिहार्य बीमारी की तरह कबूल करने के लिए उकसा रही है। आज स्थिति यह है

[1] भ्रष्टाचार की चुनौती - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 139

[2] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पृ.सं. 346

[3] भ्रष्टाचार की चुनौती - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 80

कि भ्रष्ट लोग खटक नहीं रहे हैं बल्कि स्वीकार्य हो गये हैं।"[1] वास्तव में बीसवीं सदी के अंतिम दशक में समाज में भ्रष्टाचार की यही स्थिति है।

1.2.2 बलात्कार

प्राचीन काल से ही नारी को समाज में अनेक तरह से दबाया-कुचला गया है। मानसिक तथा शारीरिक रूप से नारी को पुरुष ने हमेशा पददलित किया है। पितृसत्ता के बल पर पुरुष को सदा स्त्री पर भारी पाया गया है। बलात्कार भी पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति एक शारीरिक तथा मानसिक हनन तथा शोषण का आसुरिकता की प्रक्रिया है। जहाँ पुरुष अपने काम वासना को तृप्त करने के लिए स्त्री के साथ जबर्दस्ती करता है और अपने पितृसत्ता को गर्व के साथ कायम करता है। बलात्कार करने के पश्चात उसमें तनिक भी शर्म नहीं बच जाती है। ऐसे बहुत कम बलात्कारी होते हैं जिनमें पश्चाताप की भावना होती है। मगर जिस स्त्री के साथ यह हादसा होता है उसकी हालत जीकर भी मरने के सदृश्य होती है। कहीं-कहीं तो बलात्कारी बलात्कार करने के पश्चात उस स्त्री की हत्या भी कर डालते हैं। भारतीय समाज में स्त्री को वस्तु माना गया है जिसे भोगने के लिए पुरुष को हर प्रकार की छूट प्राप्त है और स्त्री को नैतिकता, आदर्श, कर्तव्यनिष्ठा के बोझ तले दबाया गया है। उसे पवित्र, सती, देवी आदि विशेषणों से नवाजा गया है। परन्तु असलियत में यह सब पुरुष का छल ही है। वह खुद स्त्री को एक पल में सती कहता है और दूसरे ही पल उसका बलात्कार करके उसके सतीत्व को पददलित करता है। पुरुष के इसी छल को ही स्त्री समझने में चूक गई है। जब उसका बलात्कार होता है वह भी अपने सतीत्व लूट जाने के कारण लहुलूहान होती है और स्वयं के बारे में बिना सोचे परिवार तथा समाज में अपने हश्र के बारे में अधिक सोचती है। सतीत्व रक्षा की जिम्मेदारी उसे बचपन से ही सिखायी जाती है। तसलीमा नसरीन इस संदर्भ में लिखती हैं - "धर्म और समाज जो चीज सबसे ज्यादा संभालकर रखना सिखाता है, वह है सतीत्व। इसे संभाले रखने पर ही लड़कियों का समाज में सबसे ज्यादा मूल्य होता है। मूल्य इस हिसाब से कि उसे लोग अंपाक्तेय या अछूत घोषित नहीं करेंगे। दुनिया में प्रचलित

---

[1] भ्रष्टाचार की चुनौती - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 79

सभी धर्मों में लड़कियों के सतीत्व को सबसे ज्यादा महत्व दिया गया है। लेकिन किसी भी धर्म में पुरुष के लिए किसी तरह के सतीत्व का विधान नहीं है।"[1]

आधुनिक समाज में बलात्कार को अपराध तो माना गया है, मगर फिर भी दिन-ब-दिन इसकी संख्या में बढ़ोत्तरी हो रही है। दोषी को सजा मिलने के बजाय बाइज्जत बरी किया जा रहा है। और दु:ख की बात यह है कि अनेक स्थल पर तो समाज में होने वाले अपवाद तथा लांछना के कारण ऐसे मामलों को दबा दिया जाता है। चाहे बलात्कारिता और उसके माता-पिता आत्महत्या ही क्यों ना कर ले दोषी समाज में उन्मुक्त विचरण करता है। मानचंद खेडेला का कहना है - "बलात्कार को घृणित अपराध मानने के बावजूद हमारी कानूनी प्रक्रिया में इतने झोल क्यों है कि पकड़ा गया कुकर्मी 'ससम्मान रिहाई' का हकदार बन जाता है। दरअसल बलात्कार के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में वही पुरातनपंथ हावी है जो इस तरह की घटनाओं में पुरुष से ज्यादा स्त्री को ही दोषी मानने की कोशिश करता है।"[2] कानूनी व्यवस्था के होने के बावजूद भी बलात्कार पर रोकथाम नहीं हो पा रहा है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब 'अर्थ' तथा 'काम' आधारित समाज का विकास होता गया तब समाज में अधिक स्वच्छंदता की व्याप्ति हुई और इसके साथ अपराध भी तेजी से बढ़ा। स्त्री जहाँ स्त्री विमर्श के कारण स्वयं को सशक्त मानने का भ्रम की थी वहीं दिन-ब-दिन वह असुरक्षित होती जा रही थी। स्त्री के साथ अत्याचार, उत्पीड़न बढ़ते जा रहे थे। बाजारवाद ने उसे एक भोग्य वस्तु के रूप में अवस्थापित कर दिया था। इसलिए अब छोटी बच्ची से लेकर वृद्धा तक सभी बलात्कारियों के शिकार होने लगे हैं। मानचंद खेडेला का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "बलात्कार एक जघन्य अपराध है। इसकी गिरफ्त में महानगर से लेकर गाँव देहात का वह आधा समाज है जो विकृत मानसिकता वाले अपराधी के लिए कमजोर है। 3 साल की बच्ची से लेकर 80 बरस की वृद्धा कहीं-न-कहीं हर आधे घंटे में बलात्कार का शिकार हो रही होती हैं।"[3]

---

[1] नष्ट लड़की : नष्ट गद्य - तसलीमा नसरीन, पृ.सं. 114

[2] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 50

[3] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 51

आधुनिक समाज में स्त्री चाहे कितनी भी शिक्षित, सशक्त तथा आत्मनिर्भर क्यों न हो बलात्कार रूपक व्याधि से उसकी जो दुर्दशा होती है उसे शब्दों में बयान कर पाना कठिन है। यह नारी जीवन पर लगने वाला ऐसा दाग है जो बुरे जीवन को अभिशप्त कर देता है। चाहे वह इस हादसे के लिए उत्तरदायी न हो फिर भी उसे परिवार तथा समाज में प्रताड़ित होने के लिए छोड़ दिया जाता है। हर स्तर पर उसकी चीड़-फाड़ होते हैं। न्याय की अपेक्षा जब वह करती है तब भी उसे ही नाना अवांछित प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में गुजरते हुए उसे न्याय मिल भी जाए तो उसे समाज में, परिवार में, कार्यस्थल में मरणपर्यंत उपेक्षित छोड़ दिया जाता है। हर नजर उसे कटाक्ष दृष्टि निक्षेप करती है और उनके नजर जैसे बार-बार स्त्री को ही अपनी इस अवस्था के लिए दोषी साबित करते हैं।

1.2.3 बाल यौन शोषण

सामाजिक विसंगति के इस स्वरूप का विकास मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की ही देन है। भूमंडलीकरण, औद्योगीकरण के साथ ही पाश्चात्य सभ्यता की चाल ढाल भारत में ग्रहणीय होने लगी। लोग अपना होशो हवाश खोकर आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य सभ्यता की विकृतियों को अपना रहे हैं। प्राचीन काल में 'काम' को पवित्र स्थान दिया गया था। चतु: पुरुषार्थ में इसे महत्वपूर्ण माना जाता है। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप आधुनिक काल में 'काम' को उत्श्रृंखल माना गया और समाज में अधिक अपराध इसके कारण ही हुए। जो 'काम' कभी गोपनीय बात हुआ करता था, आधुनिक काल में उसे उन्मुक्त माना गया। कहा जाता है कि कोई वस्तु जितना अधिक उन्मुक्त तथा स्वच्छंद हो उसके प्रति लोगों की रुचि अधिक बढ़ती है ओर फिर यह एक संक्रमण व्याधि की तरह समाज में व्याप्त हो जाती है। 'काम' को लेकर इतना अधिक खुलेपन के कारण लोगों के मन से डर कम हो गया तब इंसानियत के स्थान पर असुर प्रवृत्ति उनमें उदय हई। काम लिप्सा की तृप्ति के लिए वे छोटे बच्चों को भी अपना शिकार बनाते हैं। अत्यंत दु:खद स्थिति यह है कि वह अपने घर परिवार जहाँ बच्चे स्वयं को सुरक्षित मानते हैं वहाँ पर भी उनको यौन शोषण का शिकार होता देखा जाता है। परिवार में बड़े बुजुर्ग इन्हें इसलिए अपना शिकार बनाते हैं क्योंकि नाबालिग होने के नाते इनमें यौन शोषण को समझने की बुद्धि विकसित नहीं हुई होती है और इन्हें

विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिखाकर या डरा धमकाकर चुप किया जाता है। अंतिम दशक में समाज में इस प्रकार की भयानक स्थिति बनी हुई है। बहुत से ऐसे बच्चे होते हैं जिन्हें बचपन से वेश्यावृत्ति करने के लिए मजबूर किया जाता है। गरीबी, अशिक्षा आदि के कारण इनके पास इससे छुटकारा पाने के लिए अन्य रास्ता नहीं होता है।

अंतिम दशक में इस भयंकर विसंगति के कारण शिक्षा जगत जैसे पवित्र अनुष्ठान में भी बच्चे सुरक्षित नहीं होती हैं। ऐसे अनेक तथ्य सामने आते हैं जहाँ अपने ही शिक्षक के द्वारा यह शोषित, प्रताड़ित होते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यौन शोषण का शिकार केवल बालिका ही नहीं होते हैं बालक भी इस कुत्सित कार्य का शिकार होते हैं। इनके भोलेपन का फायदा उठाकर इनके साथ यह घिनौनी हरकत की जाती है। भारत जैसे परंपरावादी देश में यह एक पतनोन्मुख तथा आसुरिक कार्य है। फलस्वरूप कोमलमति बालक/बालिका शैशव से ही कुंठित तथा प्रताड़ित होते हैं और इसके कारण उनके व्यक्तित्व का विकास बाधित होता है। बाल यौन शोषण हमारी संस्कृति तथा नैतिकता का हनन करता है। कहीं-न-कहीं इससे हम व्यथित होते हैं। मगर फिर भी पाश्चात्य संस्कृति की इस देन को पुरस्कार मानकर ग्रहण कर रहे हैं। यह छद्म आधुनिकता हमारे लिए प्राणघाती साबित हो रही है।

1.2.4 पारिवारिक विघटन

'परिवार' समाज की सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक संस्था है। समाज के साथ किस प्रकार संबंध जोड़ना है यह सब परिवार में ही सिखाया जाता है। अत: सामाजिक प्राणी के लिए परिवार प्रथम गुरू, माता-पिता, बंधु सब कुछ है। नैतिकता, आदर्श, मानवीय जीवन मूल्य आदि व्यक्ति को परिवार में रहकर ही सीखना होता है। अत: किसी व्यक्ति का पारिवारिक संबंध जितना अधिक सशक्त होगा वह उतना ही सफल सामाजिक नागरिक बन पाएगा।

परन्तु आधुनिक युग में क्या सचमुच परिवार अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने में सफल हो पाया है? बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाज में बहुत अधिक परिवर्तन हुए। अत: यह परिवर्तन केवल ऊपरी स्तर पर नहीं हुआ समाज के बुनियादी ढाँचे में भी परिवर्तन कर दिया। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मुख्य रूप से अंतिम दशक में समाज एक अजीब परिवर्तन के चंगुल में फँसा हुआ है। इस

संदर्भ में श्यामा चरण दुबे का कहना है - "परिवर्तन की आँधियाँ कई दिशाओं से आ रही हैं - एक ओर आधुनिकीकरण की अनिवार्यता है, दूसरी ओर परंपरा के आग्रह हैं। पश्चिम की आर्थिक और तकनीकी सहायता अपने साथ वहाँ की जीवन-शैली और नये मूल्य ला रही है, जिन्हें अपनी जड़ से कटे भारतीय आधुनिकता समझकर बिना तर्क के अपना रहे हैं। इस अंधानुकरण ने एक नयी चिंता को जन्म दिया है - अपनी अस्मिता और पहचान खोकर एक आकृतिहीन भीड़ की गुमनामी में खो जाने की।"[1] असलियत में इसी विचित्र परिवर्तन के बहाव में पारिवारिक सौहार्द, संबंध, प्रतिबद्धता सब बह गये। अंतिम दशक में अनेक कारक हुए जो परिवार-विघटन के लिए उत्तरदायी हुए। परंतु सबसे अधिक जो कारक इस विघटन के लिए उत्तरदायी है वह है 'अर्थ'। भूमंडलीकरण के कारण विदेशी पूंजी हमारे देश में प्रविष्ट हुई तथा औद्योगिक विकास ने समाज में 'अर्थ' को सबसे महत्वपूर्ण ऊँचाई पर पहुँचा दिया। तब लोगों के जीवन में रिश्ते-नाते से अधिक महत्वपूर्ण तथा विश्वसनीय 'अर्थ' या 'पूंजी' बन गया है। मानवीय जीवन मूल्य, नीति, आदर्शों से पल्लवित जीवन व्यक्ति के लिए अब रसहीन हो गया है। भौतिक सुख-सुविधा को प्राप्त करना ही उसके जीवन का परम एवं एकमात्र लक्ष्य बन गया है। सत्येन्द्र त्रिपाठी भी यह मानते हैं कि - "आधुनिक तकनीकी समाज के विकास के फलस्वरूप उत्पन्न नागरीकरण एवं उद्योगीकरण की प्रक्रियाओं ने परिवार को प्रभावित किया है और आज पूरे विश्व में परिवार की संस्था में तीव्र तथा अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं।"[2] संक्रमण के जिस दौर से भारतीय समाज गुजर रहा है वहाँ बस अपना सब कुछ लुटाकर पाश्चात्य सभ्यता के सुख स्वच्छंदता को प्राप्त करने के लिए सब वाचाल प्राय हो रहे हैं। एक लिप्सावादी वर्ग परिवार की नींव को चरमराने के लिए उत्तरदायी है। श्यामाचरण दुबे का यह कथन संगत लगता है कि - "भारत में एक भोगवादी समाज विकसित हो रहा है जो पश्चिम के अनुकरण में नये-नये उत्पादनों का अधिक से उपभोग करना चाहता है। उसकी जीवन शैली का आधार ही उपभोक्तावाद है; वह सुख की व्याख्या परिग्रह और उपभोग के मानकों से करता है।"[3] इसलिए आज सभी अपने स्वार्थ के हित में ही कार्य करते हैं। परिवार में माता,

[1] समय और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 131
[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 203
[3] समय और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 139

पिता, भाई, बहन की सुख सुविधा उनके लिए कोई मायने नहीं रखती हैं। अपना बैंक बैलेंस, गाड़ी, बंगला करने में वह इतना अधिक व्यस्त हो जाता है कि माता-पिता के पास दो मिनट बैठकर उनके स्वास्थ्य तथा सुख-दु:ख का जायजा नहीं ले पाता है या लेना ही नहीं चाहता है। बचपन की प्रतिबद्धता, प्रेम, स्नेह भाव आज उससे दूर होते जा रहे हैं। आधुनिक समाज में व्यक्ति यांत्रिक बनता जा रहा है। यही कारण है कि परिवार में बिखराव की स्थिति उत्पन्न हो रही है। परिवार में जब सभी भावना का स्थान यांत्रिकता ले लेता है तब पारिवारिक संबंध विघटित होने लगते हैं। पारिवारिक संगठन को मजबूत बनाने के त्याग, धैर्य, कर्तव्यनिष्ठा, स्नेह आदि महत्वपूर्ण नींव माने जाते हैं। जब परिवार के सदस्यों के बीच इन सबों का अभाव होता है तब पारिवारिक विघटन की स्थिति पैदा होती है।

भारतीय समाज में संयुक्त परिवार की अवधारणा रही है। परन्तु अंतिम दशक में यह विखंडित होकर एकल परिवार में तब्दील होने लगा है। इसका कारण केवल अर्थपरक मानसिकता की देन आत्मकेन्द्रिकता ही है। जहाँ केवल पति-पत्नी अपने बच्चों के साथ जीवन बसर करते हैं। माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची समस्त आत्मीय स्वजनों को पीछे छोड़ आते हैं। लेकिन दु:ख की बात यह है कि आज व्यक्ति एकल परिवार में भी सुखी नहीं है। उसे उसमें भी खोट नजर आ रहा है। खासकर के अंतिम दशक का समय इसी एकल परिवार के टूटन का समय है जिसके बारे में आगे उपन्यासों के संदर्भ में चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

1.2.5 बिन ब्याही माँ

स्वतंत्र भारत में शिक्षा के प्रचार प्रसार के फलस्वरूप स्त्री की अवस्था में उन्नति परिलक्षित हुई। सदियों से पुरुष सत्ता के नीचे दबी-कुचली नारी आधुनिक समाज में खुलकर सांस लेने में सफल हुई। शिक्षित होकर वह आत्मनिर्भर बनी। उसके खिलाफ पुरुष ने जो-जो षड्यंत्र रचा था उसके विरोध में नारी ने आवाज बुलंद किया। मानचंद खेडेला कहते हैं - "आज ऊपरी तौर पर समाज में महिलाओं का स्थान बनता सा नजर आने लगा है। पर्दा प्रथा, विधवा उत्पीड़न, स्त्री निरक्षरता, कौमार्यता, बालिका विवाह, समाज व परिवार में उपेक्षा, बेमेल विवाह, विधवा विवाह निषेध जैसी समस्याएँ अब

उतनी भयानक नहीं रही हैं।"[1] इसी प्रकार अनेक कुप्रथाओं को नारी तोड़ती जा रही है। नारी स्वतंत्रता के कारण उसे पारिवारिक निर्णय में भागीदारी तथा अभिव्यक्ति के अवसर सुयोग मिलने लगे हैं। अपने बारे में वह आज स्वयं निर्णय लेने में सक्षम है। अपना जीवन साथी भी वह खुद चुनने लगी है। उसे आज कैसे जीना है, किसके साथ जीना है यह तय करने के लिए उसे किसी पुरुष की सहायता की जरूरत नहीं पड़ती है। परंतु अगर स्त्री की स्थिति को हम टटोलने का प्रयास करें कि क्या सचमुच स्त्री ऐसी स्वतंत्रता में वास्तव में खुश है? तब हमें यह अहसास होगा कि स्त्री अब एक घुटन भरा जीवन जीने के लिए बाध्य है। अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री की यह स्वतंत्रता स्वच्छंदता में परिवर्तित हो गई है। वह यह नहीं समझ पा रही है कि वह किस दलदल में फँसती जा रही है। विवाह किये बिना माँ बनना, विवाहेत्तर परपुरुष के साथ संबंध स्थापन या तलाक देने को वह आज स्त्री सशक्तीकरण की निशानी समझती है। विवाह व्यवस्था को वह नकारती है। उसे लगता है कि विवाह करके पुरुष का गुलाम बनने से अच्छा अविवाहित रहना और अपने हिसाब से जीवन निर्वाह करना। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे बच्चे भी चाहिए। तब वह पुरुष को केवल बच्चा प्राप्त करने के लिए व्यवहार तो करती है, मगर उससे शादी करने के लिए नकारती है।

कई बार ऐसा भी होता है कि पुरुष द्वारा प्रेम में प्रताड़ित होने के कारण भी स्त्री बिन ब्याहे माँ बनने के लिए कमर कस लेती है, क्योंकि उसे पुरुष सत्तावादी समाज में अपना में साहस दिखाना होता है कि वह अविवाहित रहकर भी अपने बच्चे की देखभाल कर सकती है। अंतिम दशक में शिक्षित तथा आत्मनिर्भर स्त्री, पुरुष को नीचा दिखाने के लिए कोई भी मौका गंवाना नहीं चाहती है। वह इस अहं के साथ रहती है कि किसी भी सूरत में वह पुरुष से कम नहीं है। लेकिन समाज के लिए यह एक विसंगतिपूर्ण स्थिति है। स्त्री-पुरुष समाज की आधारशिला हैं, प्रकृति का आधार हैं। अत: दोनों के संबंध में संतुलन से ही समाज में संगति स्थापित हो पाएगी। समाज जीने लायक बन पाएगा। मगर स्त्री जिस भ्रम की ओर गतिशील है उससे सामाजिक पतन का ही अहसास होता है। मानचंद खेडेला स्त्री की इस मनोदशा से व्यथीत होकर लिखते हैं - "नारी स्वतंत्र होने के स्थान पर स्वच्छंद और इसी कारण

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 1

पहले से अधिक घुटन व भ्रमित महसूस कर रही है। अधिक आधुनिक प्रगतिवादी व स्वतंत्र कही जाने वाली महिलाएं सिगरेट व शराब पीने, नाइट क्लबों में जाने, अविवाहित रहने, जरा-सी बात पर विवाह-विच्छेद कर लेने, बच्चों से परहेज करने, शारीरिक श्रम से दूर रहने, स्वजनों से रिश्ते काट लेने, विवाहेत्तर संबंधों की ओर प्रवृत्त होने, शारीरिक प्रदर्शन करने की मानसिकता से ग्रसित होती जा रही हैं।"[1]

बिन ब्याही माँ बनने को आत्मनिर्भरशील स्त्री जब निर्णय लेती है तब संबंधों में बिखराब आते हैं। पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सवयं को नाना समस्याओं से घेर लेती है। स्वस्थ परिवार तथा स्वस्थ समाज गठन के लिए स्त्री-पुरुष उभय का साथ अत्यंत जरूरी है। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। स्त्री की इस दशा को मानचंद खेडेला कहते हैं - "अविवाहित, तलाकशुदा, परित्यक्ता व अविवाहित माताओं की बढ़ती जा रही संख्या, छिन्न-भिन्न होते जा रहे परिवारों, बढ़ती जा रही अवैध संतानों, महिलाओं के लिए बन रही लाइट सिगरेटों की बढ़ती बिक्री, बंद होती जा रही रसोइयां, खुलते जा रहे फास्ट फूड सेंटर व नाच गृह को परिवर्तन तो मानना ही होगा, लेकिन प्रगति बिल्कुल नहीं।"[2]

1.2.6 स्त्री-पुरुष संबंध के बदलते प्रतिमान

समय स्रोत में बहते हुए स्त्री-पुरुष के संबंध एक ऐसी छोर पर आ पहुँचे हैं जहाँ दोनों एक दूसरे के परिपूरक न होकर विपरीत दण्डायमान हैं। आधुनिक समय में यही सच्चाई है। पारंपरिक समस्त रिश्ते-नाते को आज दोनों ही नकारने लगे हैं। पितृसत्ता पुरुष के लिए जिस प्रभुत्व तथा स्त्री के लिए जिस अधीनता को मान्यता प्रदान किया था वह स्वतंत्रता के बाद चरमराने लगी। स्त्री शिक्षा तथा सशक्तीकरण स्त्री के लिए वरदान बन गया। स्त्री आज पुरुष को केवल पति के रूप में स्वीकार नहीं करती है उसके लिए पुरुष अब दोस्त भी बन गया है। बिना विवाह किए दोनों दैहिक संबंध स्थापन करने में कुंठा बोध नहीं करते हैं और सालों तक बिना विवाह किए साथ-साथ पति-पत्नी जैसा संबंध स्थापित करने में नहीं हिचकते हैं।

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 2

[2] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 2

वास्तव में स्त्री-पुरुष संबंध के यह बदलता प्रतिमान अंतिम दशक में एक सामाजिक विसंगति बन गया है। संबंध में अत्यधिक खुलापन के कारण दोनों में मतांतर भी अधिक होता है। दोनों के 'अहं' संबंध में टकराव पैदा करते हैं। इसलिए छोटे-मोटे कारण से भी तलाक की स्थिति पैदा होती है। स्त्री आत्मनिर्भर होने के कारण पुरुष के सामने अपने मत को दृढ़ता के साथ स्थापित करती है, मगर यह पुरुष के आत्मसम्मान में चोट करती है। इसलिए दोनों के वैचारिक सामंजस्य तथा पारस्परिक आत्मसंबंध एक दूसरे के साथ टकराते हैं। अंतिम दशक का समय व्यक्तिवादी समय है जहाँ व्यक्ति को सर्वोपरि माना जाता है। सत्येन्द्र त्रिपाठी इस संदर्भ में कहते हैं - "आधुनिक समाज में व्यक्ति सामाजिक संबंधों की दृष्टि से अलगाव की स्थिति महसूस करते जा रहे हैं। समूह में बाँधने वाली पारंपरिक प्रक्रियाओं का ह्रास होता जा रहा है।"[1] पति-पत्नी संबंध भी इस व्यक्तिवाहिता के कारण टूटन के कगार पर आ खड़ा है। यही कारण है कि आज विवाह का आधार प्रेम या भावात्मक संवेदना नहीं रह गया है। पति-पत्नी विवाह को एक समझौता मानकर जीवन की गाड़ी को खींचने का कार्य करते हैं और मामूली दुर्घटना के कारण इस गाड़ी को आसानी से खाई में ढकेल देते हैं। स्त्री की अत्यधिक स्वतंत्रता प्राप्ति के कारण वह आज अन्याय भी करती है तब भी पुरुष के कंधे से कंधे मिलाकर। व्यक्तिवादिता के कारण दोनों विवाह के बाद भी तीसरे के साथ यौन संबंध स्थापन करते हैं। पहले स्त्री-पुरुष के संबंध में 'काम' को पवित्र माना गया था और इसी के आधार पर मृत्यु पर्यंत दोनों एक-दूसरे के साथ विश्वास, प्रतिबद्धता के साथ निभाते थे। मगर आधुनिक समाज में यह 'काम' वासना में तब्दील हो गया है और दोनों ही केवल एक के साथ सिमटकर रहना पसंद नहीं करते हैं। उन्हें अनेकों से काम तृप्ति चाहिए। अत: कभी कभी तो दोनों जान बूझकर, दोनों की सहमति के साथ ही ऐसा करते हैं। भोगवादी समाज के कारण स्त्री-पुरुष संबंध भी भोग की वस्तु बनकर रह गया है। दोनों एक दूसरे को बस 'व्यक्ति' मानकर चलते हैं। इसलिए दोनों के संबंधों में दरारें उत्पन्न होने लगी है। एक दूसरे में साझेदारी से ज्यादा दोनों एक दूसरे पर दोषारोपण अधिक करते हैं। अत: जब स्त्री-पुरुष के संबंध इस प्रकार विघटित होंगे तब जाहिर है समाज भी विघटित होगा। मानचंद खेडेला का कथन है - "पति-पत्नी दोनों एक ही जीवन

[1] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 25

नय्या के दो पतवार होते हैं। दोनों के आपसी हित एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। दोनों के बीच आपसी मन-मुटाव, विवाह से वैवाहिक जीवन में दरार आने की भी आशंका हो सकती है।"[1] लेकिन आज असलियत यह है कि दरार आने की आशंका नहीं की जा सकती है, यह दरार आ ही गयी है। स्त्री-पुरुष दोनों कहीं न मिलने वाले रेल की पटरी बन गये हैं।

1.2.7 समलैंगिकता

समलैंगिकता से तात्पर्य यह है कि समान लिंग के साथ काम संबंध स्थापन करना। अर्थात् पुरुष का पुरुष के साथ काम संबंध या दैहिक संबंध रखना एवं स्त्री का किसी स्त्री के साथ दैहिक संबंध रखने को समलैंगिकता कहा जाता है। पुरुष समलिंगी को अंग्रेजी में Gay या Homosexual कहा जाता है और स्त्री समलिंगी को Lesbian कहा जाता है।

भारतीय समाज में इसे विसंगति के रूप में स्वीकार किया गया है। भारत में यह विकृति पाश्चात्य सभ्यता की ही देन है। भारत जैसे देश में सांस्कृतिक तथा पारम्परिक मूल्यों से समृद्ध देश में इसे विकृति ही माना जाएगा। आधुनिक समाज में जब औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण के साथ उपभोक्तावादी संस्कृति विकसित हुई, तब लोगों की जीवन शैली में भारी परिवर्तन हुए। पारम्परिक समाज में पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध भरी जीवन शैली को तेजी से स्वागत किया गया। पूंजीवादी सभ्यता के बदौलत लोगों को आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। स्त्री पढ़ लिखकर आत्मनिर्भर बनी। अपना निर्णय स्वयं लेने लगी। सदियों से जिस बेड़ी की जकड़न से स्त्री का अंतर्मन अवरोधित था। अब खुले गगन में विचरण करने लगा। इसलिए पश्चिम की इन विकृतियों में उसे परम आनंद महसूस हुए। स्त्री इस विकृति को ही अपनी स्वतंत्रता के रूप में परिभाषित करने लगी। आधुनिकता के भ्रम में उभय स्त्री-पुरुष समस्त आदर्शों, जीवन मूल्य, नैतिक मूल्य, शालीनता को ठोकर मारकर अग्रसर होने में कुंठाग्रस्त नहीं हुए। ये जीवन की सादगी तथा चिंतन शक्ति को भ्रष्ट करने लगे।

प्रकृति का नियम ही यही है कि स्त्री के साथ पुरुष तथा पुरुष के साथ स्त्री का मिलन ही सृष्टि को सुन्दर तथा संपूर्ण करता है। इससे प्रकृति में संतुलन स्थापित होता है। जब इस क्रम में व्यतिक्रम

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 9

दृश्यमान होगा तो इसे विसंगति ही कहा जाएगा। स्त्री-पुरुष की इस चिंतन धारा को स्वतंत्रता नहीं बल्कि स्वच्छंदता कहा जाएगा। अंतिम दशक में समलैंगिकता धीरे-धीरे उभर कर सामने आने लगी। पुरुष तो पहले से ही स्वच्छंद था मगर अंतिम दशक में स्त्री नारीवादी होने का हवाला देकर पुरुष सत्ता को चुनौती देते हुए समलैंगिकता को अपनाने लगी। उसे लगता है कि समलिंगी होने से जीवन उसे पुरुष के ऊपर निर्भर नहीं होना पड़ेगा क्योंकि वह चाहे जितना स्वयं को पुरुष के समकक्ष होने का दावा कर ले यौन तृप्ति के लिए उसे पुरुष पर निर्भर करना ही पड़ेगा। अत: आधुनिक स्त्री के लिए समलिंगी होना मान्य बन गया। परन्तु प्रकृति के नियम के विरूद्ध जाना कभी भी संगत नहीं कहलाएगा।

1.2.8 पुरुष वेश्यावृत्ति (Gigolo)

पुरुष वेश्यावृत्ति (Gigolo) से तात्पर्य यह है कि पुरुष वेश्या जो पैसे के लिए वयस्क स्त्रियों की यौनिक इच्छाओं की तृप्ति करता है। मरियम वेवस्टर शब्द कोश में इसे इस तरह परिभाषित किया गया है - "A gigolo is a male escort or social companion who is supported by woman in a continuing relationship, often living in her residence or having to be present at her back and call. The gigolo is expected to provide companionship to serve as consistent escort with good manner and social skills," अमेरिकन हैरिटेज शब्दकोश में gigolo के बारे में लिखा गया है - "A man who has a continuing sexual relationship with and receives financial support from a woman." एवं दूसरा है - "A man who is hired as an escort or a dancing partner for a woman." कलिनस अंग्रेजी शब्दकोश में gigolo को इस तरह परिभाषित किया गया है - "A man who is kept by woman especially an older woman." एवं दूसरी परिभाषा है - "A man who is paid to dance with or escort woman."

विकिपिडिया में gigolo को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है - "The term gigolo usually implies a man who adopts a life style consisting of a number of such relationship serially, rather than having other means of support." इन्हें पुरुष वेश्या

(Male Escorts), पुरुष यौन कर्मी (Gigolo), खरीदा हुआ युवक (Rent boy), अंगमर्दक (Masseuses) आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

इसके इतिहास को टटोलने से यह ज्ञात होता है कि पाश्चात्य देशों में यह लगभग सत्रहवीं सदी से विद्यमान है। अमेरिका, जापान, फ्रांस, लंदन, पेरिस आदि देशों में यह परम्परा अपनी जड़ें फैलाती रही। मगर भारत में इसका प्रभाव बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही परिलक्षित हुआ। जब भारत में उपनिवेशवादी संस्कृति के साथ भूमंडलीकरण तथा पूंजीवादी समाज का विकास हुआ। साधारणत: इस परम्परा में उच्च वर्ग की स्त्री निम्न वर्ग के पुरुष के साथ यौन तृप्ति करती है और बदले में उसे पैसा के साथ अन्य भौतिक सुख-सुविधा भी मुहैया कराती है। यह एक विचित्र सामाजिक विसंगति है और इसके कारण अनेक परिवार टूटते हैं। अंतिम दशक में नारी अत्यंत उत्छृंखल बन गयी थी। खासकर उच्च वर्ग की नारी। या ऐसा कहा जा सकता है कि जीवन में अर्थ को अधिक महत्व देने के कारण पति हमेशा अपने व्यवसाय तथा नौकरी के पीछे ऐसा भागता है कि पति-पत्नी संबंध इससे प्रभावित होता है। दोनों के पास एक दूसरे के लिए समय की कमी होती है। ऐसी हालात में स्त्री अपनी कामोइच्छा पूर्ति के लिए तड़पती है। और इनके पास अधिक पैसे होने के कारण कामोइच्छा पूर्ति के लिए वह पुरुष वेश्या को खरीद लेती है। उच्च मूल्य देकर वह उसका सानिध्य प्राप्त करती है। यह मुख्य रूप से महानगरीय जीवन शैली है जहाँ लोग पैसों के पीछे पागल हैं और अनेक विसंगत माध्यम से प्राप्त धन को यौन तृप्ति के लिए खर्च करते हैं। इस संदर्भ में श्यामाचरण दुबे का यह कथन सार्थक लगता है - "प्रगति और परंपरा के समन्वय के जो प्रयत्न हुए हैं उनके अधिकांश परिणाम हास्यास्पद रहे हैं, न हम भारतीय रह गये हैं न हम सच्चे अर्थों में आधुनिक हुए हैं। छद्म भारतीयता पर हमने छद्म आधुनिकता का लबादा ओढ़ लिया है और अनेक भ्रमों को पालते हुए एक गंतव्यहीन यात्रा पर निकल पड़े हैं।"[1] एक ओर उच्च वर्ग की औरत अपनी मनमानी पर उतर आयी हैं और वही दूसरी ओर निम्न वर्ग के पुरुष बेरोजगारी के मार से त्रस्त होकर पुरुष वेश्या बनते जा रहे हैं। यह पूंजीवादी समाज की ही चाल है

[1] भारतीय संस्कृति : परिवर्तन की चुनौतियाँ, श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 131

जो सही में अमीर को स्वच्छंद और गरीब को उनके गुलाम (पैसों के खातिर) बनने के लिए बाध्य करते हैं।

1.2.9 कोख का विक्रय (Surrogacy)

इस शब्द को सुनते ही मन में अनेक प्रश्न उभरते हैं। गाँव देहात में इस संकल्पना से भी लोग परिचित नहीं होंगे और शायद ही वे इसे समझ पाएंगे। परन्तु महानगरीय जीवन शैली में यह आज साधारण बनती जा रही है। खासकर उच्च वर्ग के लोगों में इसे अपनाया जा रहा है। कोख का विक्रय (Surrogacy) से तात्पर्य यह है कि किसी दूसरे पति-पत्नी के लिए कोई बाहर की स्त्री उनका बच्चा अपनी कोख में धारण करती है और बच्चे का जन्म के पश्चात उस पति-पत्नी को बच्चा निस्वार्थ भाव से दे देती है और इस प्रक्रिया में जो औरत अपना कोख का विक्रय करती है उसके परिचय को गोपनीय रखा जाता है। यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से डॉक्टरों की देख-रेख में संपूर्ण होती है। जो स्त्री अपने कोख का विक्रय करती है वह स्वेच्छा से यह कार्य करती है क्योंकि इसके बदले उसे मुंहमांगी कीमत मिलती है। इस प्रक्रिया के तहत उसके शरीर की पूर्ण रूप से जांच की जाती है। फिर IVF (In Vitro Fertilization) प्रक्रिया द्वारा शरीर के बाहर ही अंडे को फॉर्टलाइज किया जाता है फिर उसके गर्भाशय में इसे डाल दिया जाता है और बच्चा धारण के समय सीमा के उपरांत बच्चा पैदा होने के बाद ही चिकित्सालय से ही उन माता-पिता के हाथ में बच्चे को सौंप दिया जाता है। इस चिकित्सालय प्रक्रिया के अलावा भी पारंपरिक तरीके (Traditional Technique) से भी कोख का विक्रय किया जाता है जहाँ बच्चा चाहने वाली औरत आपसी साझेदारी से सीधा पति के साथ दैहिक संबंध स्थापन करके किसी बाहरी स्त्री को गर्भवती होने के लिए स्वीकृति देती है। क्योंकि बच्चे के लिए पागल माता-पिता कुछ भी करने के लिए पश्चाताप नहीं करते हैं। परन्तु आधुनिक युग में विज्ञान के असीम तरक्की करने के कारण नये-नये कौशल अपनाये जा रहे हैं। इसलिए प्रथम प्रक्रिया आजकल ज्यादा ग्राह्य है क्योंकि इसमें दैहिक संबंध रखना नहीं पड़ता है। और ना ही कोख का विक्रय करने वाली स्त्री भावनात्मक रूप से बच्चे के साथ जुड़ी होती है। आधुनिक समाज में उच्च वर्ग के लोगों के बीच यह फैशन बनता जा रहा है। क्योंकि जीवन शैली में भारी परिवर्तन होने के फलस्वरूप आज उन्हें बच्चा

पैदा करने में कठिनाई हो रही है। उन्मुक्त तथा स्वच्छंद जीवन निर्वाह करने के कारण देरी से स्त्री-पुरुष विवाह करते हैं। इसलिए साधारण रूप से बच्चे प्राप्त करना दोनों के लिए असंभव हो जाता है। और तो और आधुनिक स्वच्छंद स्त्री आज अपने शरीर के सौंदर्य नष्ट हो जाने के डर से भी बच्चा पैदा करना नहीं चाह रही है। ऐसी परिस्थिति में वह कोख का विक्रय करने वाली स्त्री के ऊपर निर्भर रहती है।

आधुनिक जीवन में पति-पत्नी संबंधें में वह आत्मीयता, प्रेम, विश्वास, धैर्य नहीं है, इसलिए दोनों एक-दूसरे से दिन-ब-दिन कटते जा रहे हैं। दैहिक संबंधों में भी रुचि नहीं रह जाती है। लेकिन समाज को या परिवार को दिखाने के लिए उन्हें बच्चों की जरूरत होती है। मानचन्द खेडेला का कहना है - "यह सही है कि पति-पत्नी के रिश्तों की मिठास बनाए रखने के लिए यौन संतुष्टि का बड़ा हाथ होता है। लेकिन आज की भाग दौड़ और तनाव भरी जिंदगी इसमें रोड़े अटका रही है।"[1] यही कारण है कि पति-पत्नी संबंध तनावपूर्ण बनता जा रहा है। भावनात्मक स्तर पर जब दोनों में जुड़ाव न हो तो वे दैहिक संबंध के द्वारा माता-पिता बनने के लिए विवश होते हैं। ऐसी हालात में ये 'सरोगेसी' का सहारा लेते हैं। पैसे के बल पर ये धनाढ्य लोग कुछ भी कर लेने की फिराक में रहते हैं। मानचन्द खेडेला इस संदर्भ में कहते हें - "जीवन में बढ़ती जा रही आपाधापी, समयाभाव, कमाने की बढ़ती जा रही अनावश्यक लालसा, अहम् का टकराव, कभी शांत नहीं हो सकने वाली भौतिक वस्तुओं की लालसा आदि कारण भी अनैतिक आचरण को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।"[2] यही वे कारण हैं जिसके कारण भारत में 'सरोगेसी' जैसे विसंगति भी कानूनन वैध मानी जाने लगी है और भारत में यह सुविधा अन्य देशों की तुलना में कम मूल्य में हो रही है। पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण कर हम उनके जैसा बनने की कोशिश में अपने घर-परिवार तथा समाज से कटते जा रहे हैं, धीरे-धीरे यांत्रिक बनते जा रहे हैं। अपनी सुख-सुविधा तथा स्वार्थ की खातिर हम आने वाली पीढ़ी के लिए भी व्यभिचारीपूर्ण समाज का गठन कर रहे हैं।

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 37

[2] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 33

1.2.10 बिना विवाह के साथ रहना (Live-in Relationship)

समाज में विवाह संस्था को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विवाह बंधन में बँधकर ही स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी संबंध के साथ मृत्यु पर्यन्त सुख-दु:ख के साथी बन जाते हैं। इसीलिए 'विवाह' को सात जन्मों का रिश्ता कहा जाता है। दोनों में प्रेम, सहानुभूति, धैर्य, विश्वास तथा प्रतिबद्धता की भावना 'विवाह' को सार्थक करता है और दिन प्रतिदिन पति-पत्नी में साझेदारी बढ़ती जाती है। डॉ. इन्द देव लिखते हैं - "हिंदू शास्त्रकारों ने विवाह को एक धार्मिक संस्कार (Sacrament) माना है। उनके अनुसार विवाह केवल यौन इच्छा की तृप्ति तथा अन्य सुखों का साधन नहीं है बल्कि मनुष्य जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक संस्कार है।"[1] विवाह के बिना स्त्री-पुरुष का मिलन भारतीय समाज में ग्राह्य नहीं है। संस्कारों के तहत इसे पाप समझा जाता है।

आधुनिक समाज में इसका खंडन हुआ है। आज के युवा पीढ़ी के लिए विवाह मात्र एक अनुबंध बन गया है। इसलिए विवाह को बोझ समझा जाता है। खासकर नगर-महानगरों में यह स्थिति अत्यंत विसंगतपूर्ण बनती जा रही है। एकल परिवार का विघटन भी मुख्य रूप से इसी आधार पर हो रहे हैं। पति-पत्नी संबंधें में छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव उभरते हैं और जल्द ही तलाक की स्थिति पहुँच जाती है। क्षमा गोस्वामी भी इससे सहमत हैं कि - "वैवाहिक जीवन में बढ़ते हुए तनावपूर्ण संबंधों को देखकर, उससे जुड़े अनेक दायित्वों से बचने के लिए आज अनेक युवा-युवती विवाह संस्था का ही विरोध करने लगे हैं। आज अनेक युवा-युवती यह मानने लगे हैं कि वर्तमान समय की वैवाहिक जीवन की कठिनाइयों को देखते हुए, उनके लिए यही अच्छा है कि वे इस संस्था को जीवन में स्वीकार ही न करें।"[2] युवा पीढ़ी के इस मनोभाव के पीछे पाश्चात्य संस्कृति का ही प्रभाव महसूस किया जाता है। क्योंकि पाश्चात्य देशों में बिना विवाह के स्त्री-पुरुष का साथ रहना आम बात है। और अंतिम दशक में यह स्थिति भारतीय युवा पीढ़ी में दिखाई देने लगी है। सूचना और प्रौद्योगिकी विकास तथा विज्ञापन के चकाचौंध दुनिया से अत्यंत प्रभावित होकर आज युवा पीढ़ी बिना विवाह के एक घर में साथ रहने लगे हैं और विवाह पूर्व यौन संबंध भी स्थापन करने लगे हैं।

---

[1] भारतीय समाज - डॉ. इन्द्र देव, पृ.सं. 95

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 7

'काम' प्रधान समाज में स्त्री-पुरुष संबंध का आधार बस यौन इच्छा की तृप्ति तक सीमित रह गया है। इस चिंता धारा के पीछे उभय स्त्री-पुरुष साझेदारी होती है। सामाजिक विकास ने स्त्री को शिक्षित तथा आत्मनिर्भर बनाकर असीम आत्मविश्वास से भर दिया है। फलस्वरूप स्त्री भी पारम्परिक जीवन मूल्यों को तोड़कर आगे बढ़ रही है। विवाह पूर्व किसी पुरुष के साथ रहना तथा यौन संपर्क रखने में उसे कोई हर्ज नहीं है। क्षमा गोस्वामी स्त्री-पुरुष संबंधों के बारे में कहती हैं - "इसलिए विषय-सेवन को जीवन की स्वाभाविक आवश्यकता मानते हुए वे इसकी आपूर्ति भी चाहते हैं। इसीलिए वे स्वच्छंद यौन संबंधों की ओर उन्मुक्त हो रहे हैं। अनेक युवा-युवती संबंधों की इस स्थिति में परस्पर पति-पत्नी की तरह रहते हुए भी विवाह नहीं करते। आज महानगरों में युवा-युवती के ऐसे अनेक जोड़े एक साथ रहते हुए देखे जा सकते हैं।"[1]

अंतिम दशक में यह एक विसंगत स्थिति है क्योंकि यह हमारे सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्य के विपक्ष है। ऐसा कई बार देखा गया है कि स्त्री-पुरुष अविवाहित एक साथ रहकर एक दूसरे को परखते हैं कि विवाह के पश्चात उनमें प्रेम, विश्वास, धैर्य रह पाएगा या नहीं। अत: बहुत दिन तक एक साथ रहने के पश्चात अगर दोनों को लगा कि वे एक-दूसरे के लिए सही नहीं हैं तब दोनों में विच्छेद (Break up) हो जाता है। भारतीय समाज के संदर्भ में यह स्थिति अत्यंत हास्यास्पद है। क्षमा गोस्वामी को भी इस विसंगति का कारण पाश्चात्य संस्कृति ही लगती है। उनके शब्दों में - "इधर कुछ वर्षों से कहीं हठपूर्वक तो कहीं हमारी स्वयं मौन स्वीकृति से पश्चिम की विकृति मूलक संस्कृति हमारे घरों में घुसपैठ कर चुकी हैं। उन्मुक्त यौन संबंधों को प्रदर्शित करने वाली आधुनिक ब्लू फिल्मों हो अथवा स्त्री-पुरुष के संबंधों पर बने सेटेलाइट टी.वी. प्रोग्राम, सबने मिलकर पुरानी सामाजिक व्यवस्था पर जमकर आक्रमण किया है। ये सब उन नैतिक मूल्यों को उखाड़ने में जुट गये हैं, जो विवाह संस्था के आधार स्तंभ माने जाते हैं।"[2]

आधुनिक समाज में पढ़े-लिखे, कैरियर तथा स्वतंत्र जीवन शैली की ओर उन्मुख युवा-युवतियों के लिए बच्चे के प्रति मोह भी खत्म होता दिखाई दे रहा है। उन्हें बच्चे को जन्म देकर उसके

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 7

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 8

पालन-पोषण के दायित्व में अपना समय अतिवाहित करना भी बोझ प्रतीत होता है। इसलिए भी यह युवा-युवती बिना विवाह के एक साथ रहना पसंद करते हें क्योंकि विवाह करने के पश्चात पति-पत्नी के जीवन में बच्चों को प्राथमिकता दिया जाता है। और विवाह के बिना ये दोनों इन सब चिंता से मुक्त रहेंगे। अत: व्यक्तिवादी तथा काम प्रधान समाज में इस प्रकार का संबंध समाज को पतनोन्मुखी ही करेगा।

1.2.11 मुक्तभोग

उपभोक्तावादी संस्कृति को हमारे समाज का एक हादसा के रूप में व्याख्यायित करने से अत्युक्ति या अतर्कसंगत नहीं होगा। 'उपभोग' समस्त मानव सभ्यता को भोग की वस्तु बना डाला है। अत: केवल निर्जीव वस्तु ही भोग की सामग्री नहीं है स्वयं मनुष्य भी भोग की वस्तु बन गया है। यह सुनने में अटपटा लगता है मगर इस बात में सच्चाई है। भूमंडलीकरण, औद्योगीकरण की उपज पूंजीवादी संस्कृति के इस दौर में वैयक्तिक विकास पर काफी बल दिया गया। इस दौर में स्त्री को अपने व्यक्तित्व विकास का भरपूर अवसर प्राप्त हुए। पुरुष सत्तात्मक समाज की बदौलत उसमें जो पारंपरिक तथा रूढ़िवादी विचार घर किए हुए थे वह धीरे-धीरे टूटने लगे। ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगा कि पूंजीवादी समाज में स्त्री के पंख निकल आये और वह मुक्त गगन में विचरण करने लगी। जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में बदलाव आये। पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर वह कार्य करने लगी। अत: पुरुष से किसी गुण में वह खुद को कम नहीं समझती है। खासकर शिक्षित एवं आत्मनिर्भरशील स्त्री जीवन को पुरुष के समान भरपूर उपभोग करना चाहा और यहाँ से विडम्बना का प्रारंभ हुआ। और स्वतंत्रता के स्थान पर उसने स्वच्छंदता को जीवन में महत्व देने लगी। पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करने लगी। नारीवाद के नाम पर विभिन्न विसंगत कार्य में लिप्त रही।

पुरुष जैसा बनने की चाह में उसमें स्वच्छन्द यौनाचार की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। मुक्तभोग के लिए वह घर की मर्यादा को तोड़कर बाहर जाने लगी। गैर-पुरुषों के साथ अवैध यौन-संबंध स्थापन करके उसे आत्मतृप्ति मिलने लगी। मुक्तभोग अब उसकी नैतिकता-मर्यादा तथा 'स्व' को कष्ट नहीं पहँचाते हैं बल्कि उसे गर्व महसूस होता है कि वह पुरुष के समकक्ष हो गयी है।

समाज में जिस नैतिक व्यवस्था के आधार पर स्त्री-पुरुष को जोड़ा गया है और उनके लिए विवाह जैसे धार्मिक संस्था बनायी गयी है, उपभोक्तावादी समय में इस मुक्तभोग के कारण यह चरमराते नजर आ रहे हैं। स्त्री-पुरुष का काम सम्बन्ध के लिए अति लिप्सा के कारण विवाह संस्था अब बेमाने प्रतीत होने लगी है। पारम्परिक नैतिक आदर्शों के स्थान पर वैवाहिक व्यवस्था के बाहर रहते हुए काम-सम्बन्धों का मुक्त आचरण आज की नवीन नैतिक प्रणाली को व्याख्यायित कर रहा है। विडम्बना यह है कि उपभोक्तावादी संस्कृति में उभय स्त्री-पुरुष उपभोग की वस्तु बनकर रह गये हैं। 'काम' को विकृत रूप प्रदान करने में इसकी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। आनंद पाटील का यह कथन इस संदर्भ में सार्थक लगता है कि "देकार्ते ने अपने 'होने' का (अपने मानवीय अस्तित्व का) बोध इस तरह किया था - "मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ" (I think, so I am) लेकिन जिसे हम 'उपभोक्तावाद' कहते हैं, उसने हमारे अस्तित्व बोध की शर्त ही बदल दी है - I consume, So a am! अब 'जीवन मूल्य' के नाम पर हम अपना कोई भी सामर्थ्य बचाकर रख पाना भूलते जा रहे हैं। हमारी चेतना पर हावी हो रहा हे तो बस 'उपभोग मूल्य'।"[1] स्त्री-पुरुष के लिए भी काम संबंध आज ऐसा ही बन गया है। मैं उपभोग करता हूँ इसलिए मैं हूँ। (I consume, so I am!) उपभोक्तावादी समाज में जिस 'मैं' का विकास हुआ है स्त्री-पुरुष के मुक्तभोग के संदर्भ में वह यथार्थ प्रतीत हो रहा है। दोनों साथ-साथ काम उपभोग में शामिल तो हो रहे हैं, मगर अपने 'स्व' तथा 'अहं' को सर्वोपरि समझते हुए। व्यक्तिवादी सभ्यता में मुक्तभोग की संकल्पना वास्तव में एक विसंगति ही कहलायेगी। उभय स्त्री-पुरुष के लिए यौन स्वच्छंदता इतना महत्व रखती है कि वे समलैंगिक संबंध स्थापन करने के लिए भी कुंठाबोध नहीं करते हैं। इसलिए विडम्बनापूर्ण इस समाज में 'स्व' को उपस्थापित करने के लिए देह की भूख अस्वाभाविक और विकृत होती जा रही है।

1.2.12 पुत्री भ्रूण हत्या (Female foeticide)

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ हमेशा स्त्री को पददलित तथा प्रताड़ित किया गया है। स्त्रियों के लिए प्राचीन काल से ही तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए गए हैं ताकि उसे दबोचकर घर

---

[1] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतीकरण - आनन्द पाटील, पृ.सं. 9

की चारदीवारी में कैद किया जा सके। स्त्री को कमजोर माना गया है। बुद्धिहीन, विवेकहीन, माया, मूर्ख, धूर्त आदि विशेषण स्त्री के लिए पुरुषों ने ही गढ़ा है। श्यामाचरण दुबे तुलसीदास के नारी विरोधी मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं - "प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने अपनी एक बहु उद्धृत चौपाई में स्त्री को शूद्रों, गंवारों और ढोल के साथ रखा है जिन्हें सत्मार्ग पर रखने के लिए प्रताड़ना की आवश्यकता है। चूंकि स्त्री कथित रूप से हीन लिंग की मानी जाती है अत: उसे कुछ ऐसे अधिकारों और विशेषाधिकारों से वंचित रहना पड़ा जो एकांतिक रूप से पुरुषों के माने जाते हैं।"[1] इससे साफ-साफ यह ज्ञात होता है कि पुरुष की निगाह में स्त्री समस्त मुसीबत की जड़ है इसीलिए उसे फलने, फूलने तथा विकसित होने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए।

आधुनिक समाज में स्त्री की यही स्थिति बरकरार है। कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि स्त्री चाहे खुद को जितना शिक्षित तथा मुक्त समझे, असलियत में समाज की जड़ में उसका वही स्थान है जो प्राचीन काल में था। बल्कि ऐसा कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण की बदौलत उसके प्रति हिंसा अधिक बढ़ गयी है। दहेज के लिए उसे अधिक जलाया जाता है। बलात्कार, अपहरण आदि आधुनिक समाज में साधारण बन गया है। भले ही शिक्षित समाज में स्त्री निरक्षरता, बालिका विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह प्रथा कम हो गयी है (संपूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं हुई है) मगर उसके स्थान पर ढेरों नये संकट आ गये हैं जिसके बारे में स्त्री ने कभी सोचा भी नहीं होगा। पुत्री भ्रूण हत्या मुख्य रूप से आधुनिक या सूचना प्रौद्योगिकी समाज की ही उपज है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से औरत के पेट में ही पुत्री भ्रूण को मशीन के माध्यम से हत्या कर दी जाती है। इस तरह से पुत्री को दुनिया में आने से पहले ही मार दिया जाता है। अंतिम दशक में जब 'अल्ट्रासाउंड' तकनीक का विकास हुआ तब पुत्री भ्रूण हत्या अधिक मात्रा में होने लगी। इस तकनीक के द्वारा यह पता चल जाता है कि पुत्र होगा या पुत्री। 'पुत्र' प्राप्ति के लिए पागल माता-पिता जब जानते हैं कि पुत्री होने वाली है तब उसे दुनिया देखने का मौका ही नहीं देते हैं और यंत्र के माध्यम से उसे पेट में ही मार दिया जाता है।

[1] भारतीय समाज - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 7

माता-पिता को लगता है पुत्री के जन्म होने से उनकी वंश रक्षा नहीं हो पाएगी और उसका विवाह करने के लिए दहेज देना पड़ेगा। अगर पुत्र होता है तब वंश रक्षा होगी और साथ-ही-साथ घर में दहेज आयेगा। यानी सोने पे सुहागा। दु:ख की बात यह है कि आधुनिक युग में भी ऐसे मनोभाव से लोग ग्रसित हैं। पुत्री भ्रूण हत्या को सूचना तथा प्रौद्योगीकरण का बुरा असर मान सकते हें। चिकित्सा विज्ञान में नये-नये तकनीक की उपलब्धियाँ लोगों के लिए सुवर्ण सुयोग मुहैया कराते हैं। हालांकि अल्ट्रासाउंड का उद्भव पुत्री भ्रूण हत्या के उद्देश्य से नहीं किया गया था। पुरातन दिनों में लोगों के दिमाग में यह घर कर गया था कि जब तक 'पुत्र' संतान नहीं होगा तब तक बच्चे पैदा करते रहेंगे। क्योंकि बेटा मरने के बाद उनके मुंह में पानी देगा। तथा उनके वंश परम्परा की रक्षा करेगा। मगर बेटी पराया धन है। वह उन्हें खुश नहीं रख पाएगी। उल्टा उसके पालन-पोषण में सावधानियाँ बरतनी पड़ेगी क्योंकि बेटी जल्दी अपवित्र हो जाती है जिससे उन्हें निंदा, अपवाद सहना पड़ेगा। और ऊपर से ब्याह करने के लिए अपना खून-पसीना एक करके दहेज देना पड़ेगा। पितृसत्ता की इस रूढ़िवादी विचारधारा के चलते पुत्री भ्रूण हत्या समाज में सर चढ़कर बोलने लगी। हालांकि वर्ष 1994 में Preconception & Prenatal Diagnostic Techniques (PCPNDT) ऐक्ट के तहत स्त्री भ्रूण हत्या को अवैध माना गया। लेकिन तब भी इसकी रोकथाम नहीं हो पायी है क्योंकि भारत में इस नियम को लचीला कर दिया गया और डॉक्टरों ने अपने व सरकारी चिकित्सालय में धन की लालच में इस तकनीक को मुहैया कराते रहे हैं। राजस्थान, हरियाणा जैसे राज्यों में तो यह स्थिति भयानक बन गयी है। हाल में पुत्री जन्म में अत्यधिक गिरावट के कारण विवाह करने के लिए लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिल रही हैं। यह समाज के लिए आज एक महत्वपूर्ण विसंगति बन गयी है। जब हम मानवीय जीवन मूल्य, नैतिकता, आदर्श जैसी बड़ी-बड़ी किताबी बातें करने में मस्त हैं तभी समाज में स्त्री भ्रूण हत्या जैसा घिनौना अपराध समाज को कलुषित कर रहा है। स्त्री बस भ्रम में जी रही है कि वह स्वतंत्र है और समाज की मुख्यधारा में वह शामिल है। मानचन्द खेडेला का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है कि - "देश का विकास के रास्ते पर आगे बढ़ना हमें कितना ही आश्वस्त क्यों न करे, लेकिन गाँव देहात से लेकर देश

के महानगरों तक में महिलाओं के प्रति लगातार बढ़ती क्रूरता दिखा रही है कि संपन्नता के बावजूद हम आज एक सभ्य नहीं, जंगली समाज के निर्माता ही अधिक बन चले हैं।"[1]

अत: अंतिम दशक में पुत्री भ्रूण हत्या एक सामाजिक विसंगति बन गयी है।

1.2.13 साम्प्रदायिकता

संपूर्ण मानव समाज का सबसे बड़ा तथा प्राणघाती शत्रु है साम्प्रदायिकता। यह एक विष का लावा है जो समस्त मानव समाज को त्रस्त किया हुआ है। कंचन सिंह का कथन है - "साम्प्रदायिकता समाज का अभिशाप है। आज के युग की यह प्रमुख चुनौतियों में से एक है। यह दो समुदायों के मध्य, एक ही सम्प्रदाय की दो विचारधाराओं के मध्य, एक विचारधारा के दो या अधिक क्षेत्रीय नेतृत्व के प्रश्न आदि क्षेत्रों से प्रारंभ होती है। इस प्रकार साम्प्रदायिकता क्षेत्र की साम्प्रदायिक संख्या से जुड़ी किसी न किसी समस्या के मूल में विद्यमान होती है।"[2] आधुनिक समाज में साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण विचारधरा बनकर रह गयी है जहाँ हिन्दू-मुस्लिम, हिंदू-हिंदू, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि के नाम से एक दूसरे के प्राण लेते रहते हैं। प्राचीन काल में साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता था। इस संदर्भ में आई.एन. तिवारी अत्यंत रोचक तथ्य प्रस्तुत करते हैं - "उपनिषद में ऋषि, अपने शिष्य से प्रार्थना करता है- हम एक साथ होवें, एक साथ भोजन करें, एक साथ वीर्य की रचना करें, एक साथ देवी की उपासना करें, एक साथ गायें और एक साथ आध्यात्मिक उड़ान मारें। ठीक यही बात इसी संदेश को सुकरात ने गणतंत्र नामक पुस्तक में दुहराया है। एक साथ शिक्षा मिले, एक साथ संपत्ति अर्जन करें, एक साथ निवास हो, एक साथ संतानोत्पत्ति करें और एक साथ सर्वहित में विलीन हो जाएं। साम्प्रदायिक शब्द, कम्युनल शब्द का शास्त्रीय अर्थ यही है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जो शास्त्रीय है वह कालक्रम से शास्त्रीय (armed) बन गया।"[3] साम्प्रदायिकता अपने शुरूआती दौर में 'धर्म' का आवरण ओढ़े हुए था, परंतु आधुनिक समाज में इसे 'राजनीति' का मोहरा बना दिया गया और तब से स्थिति बदतर होती चली गयी। भारतीय समाज की आधारशिला ही अनेक सम्प्रदायों से

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 21

[2] साम्प्रदायिकता और भारतीय समाज - संपा. आनन्द प्रकाश सारस्वत, पृ.सं. 98

[3] साम्प्रदायिकता और भारतीय समाज - संपा. आनन्द प्रकाश सारस्वत, पृ.सं. 1

बनी है। एकता, सद्भावना, मैत्री भाव हमेशा हमारे सामाजिक जीवन मूल्य रहे हैं। मगर साम्प्रदायिकता की आंधी में यह सब विलीन हो गये हैं। और इनका स्थान ले लिया है घृणा, द्वेष, दंगा आदि। लोगों का लोगों पर से विश्वास समाप्त हो गया है। यह एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये हैं। राष्ट्रीय एकता की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। आर.एस. यादव का कहना है कि - "साम्प्रदायिकता आधुनिक भारत की एक ऐसी मुख्य विशेषता है जो मौलिक रूप से हानिकारक भूमिका अदा करती आ रही है। यह आधुनिक काल में प्रगति की उपज भी है और इस प्रगति के रास्ते में एक मौलिक रूकावट भी है। आधुनिकता की विविध चुनौतियों की प्रतिक्रिया में परम्परा अपने बचाव के लिए विविध रूप में तनकर खड़ी हो जाती है और उनका विरोध करती है। क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता इत्यादि परम्परा के अनेक रूप आधुनिक भारत में उभरे हैं।"[1]

भारत में साम्प्रदायिकता सदा हानिकारक साबित हुए हैं। आधुनिक समाज में इसमें राजनीति के हस्तक्षेप के कारण यह जानलेवा बन गया है। आज मानव जाति के उद्देश्य तथा लक्ष्य ही स्वार्थवादी बन गए हैं। साम्प्रदायिकता ने इसी स्वार्थ को अपना आधार बना डाला है। व्यक्तिगत स्वार्थ, जातीय स्वार्थ और क्षेत्रीय स्वार्थ के अतिरिक्त इसकी कोई दूसरी जड़ नहीं है। जब इसी जड़ को मजबूत करने का प्रयास किया जाएगा तो जाहिर है समाज के बाकी लोगों के साथ टकराव तथ तनाव की स्थिति उत्पन्न होगी और इसके साथ ही राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचेगी। सत्येन्द्र त्रिपाठी कहते हैं - "संपूर्ण मानव समाज में एकता होना एक ऐसा गुण है जिसकी संसार को अधिक आवश्यकता है। यह केवल किसी एक समूह, एक जाति, एक वर्ण या क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है, बल्कि सारे संसार की आवश्यकता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक मानव की जरूरत है। या यों कहा जा सकता है कि आज इसी तत्व के अभाव में साम्प्रदायिक भावना के कारण संसार में दंगा-फसाद आदि विभीषिकाएं मानव जीवन को त्रस्त कर रही है।"[2]

साम्प्रदायिकता का जो उग्र रूप उभर कर आधुनिक जीवन को तहस-नहस करने पर तुला है वह मुख्यत: अंग्रेजी शासन की नीतियों का ही परिणाम है। ब्रिटिश शासन की सामान्य नीति 'फूट डालो

---

[1] साम्प्रदायिकता और भारतीय समाज - संपा. आनन्द प्रकाश सारस्वत, पृ.सं. 20

[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 468

और राज करो' की नीति थी। इसलिए अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने मुख्य रूप से हिंदू-मुसलमान को एक दूसरे के खिलाफ बनाए रखा। अंत में सबसे भयानक कांड अंग्रेजों ने किया वह है भारत का विभाजन। इसके साथ ही कभी ना खत्म होने वाली जंग को अंग्रेजों ने छेड़ कर भारत से पलायन किया। समय क्रम में यह धर्म के नाम पर लड़ी जाने वाली साम्प्रदायिकता, राजनैतिक वर्चस्व को बनाये रखने के लिए सबसे महत्वपूर्ण माध्यम बन गया। बृजबिहारी शर्मा ने साम्प्रदायिकता को पारंपरिक तथा आधुनिकता दृष्टिकोण से इस प्रकार परिभाषित किया है - "यह साम्प्रदायिकता बड़ी सुघड़, सलोनी और आकर्षक विष कन्या है। कहीं साक्षात् ईश्वर है, कहीं महान सांस्कृतिक विरासत है, कहीं भावावेग का बलिदानी तेवर है, कहीं कला का श्रेष्ठ उपादान है। इसे पूजा और अर्घ्य पसंद है। यह उन्मादिनी भीड़ की चंडालिका है। मुंडमाला पहनकर बहुत खुश होती है। तर्क और विश्लेषण के बरक्स इसका चेहरा विवर्ण हो जाता है। वस्तु, विज्ञान और इतिहास की रोशनी में यह भाग खड़ी होती है। सृजनात्मक चिंतन से वह घृणा करती है।"[1]

अत: साम्प्रदायिकता आधुनिक समाज में अत्यंत संवेदनशील विसंगति है।

1.2.14 आतंकवाद (Terrorism)

केवल भारत में नहीं संपूर्ण विश्व में आतंकवाद आज एक गंभीर तथा खतरनाक समस्या बन गया है। आतंकवाद की विभीषिका ने समस्त मानव सभ्यता को त्रस्त किया हुआ है। विकिपिडिया में आतंकवाद (Terrorism) शब्द को इस प्रकार विश्लेषित किया गया है - आतंकवाद का अंग्रेजी शब्द 'टेररिजम' (Terrorism) फ्रेंच शब्द 'टेररजिमे' (Terrorisme) से बना है। और मूल रूप से यह शब्द 1793-1794 में फ्रेंच सरकार द्वारा जो आतंकवाद का अभ्यास किया गया था उससे संबंधित है। पुन: फ्रेंच शब्द 'टेररजिमे' (Terrorisme) लाटिन क्रिया शब्द टेरियो (Terreo) से लिया गया है। जिसका अर्थ है 'I frighten'.

'आतंकवाद' से सीधा यह समझा जाता है कि समाज में हिंसात्मक तरीके से भय दिखाकर आतंक फैलाना। अपने प्रभुत्व व शक्ति से जनता में भय की भावना उत्पन्न कर अपना कार्य सिद्ध

---

[1] जहरमोहरा - संपा. बृजबिहारी शर्मा, पृ.सं. 10

करना ही आतंकवाद है। विश्व के अन्य सभी देशों की तुलना में भारत में यह एक विकट समस्या बन गया है। दिन-व-दिन आतंकवादी हमलों के कारण समाज असुरक्षित बनता जा रहा है। लोगों में एक भय फैल गया है। कहाँ वे इसकी चपेट में आ जाएं इससे वे अनजान हैं।

ऐसा माना जाता है कि भारत में आतंकवाद की शुरूआत बंगाल के उत्तरी छोर पर नक्सलवादियों ने किया। इसका प्रारंभ 1967 से माना जाता है। इस आतंकवाद को भारत में तीव्र रूप से फैलाने का काम तेलंगाना तथा श्रीकाकुलम में नक्सलियों ने किया। अब यह फैलते-फैलते लगभग सभी राज्यों में अपनी जड़ मजबूत कर रहा है। मुख्य रूप से काश्मीर, बिहार, नागालैंड, उड़ीसा, पंजाब आदि राज्यों में स्थिति भयंकर बन गयी है। आतंकवाद के मूल में एक विशेष वर्ग के लोगों के मन में शासन तंत्र या प्रशासन के प्रति तीव्र असंतोष की भावना होती है। और दूसरे अनेक कारण जैसे राजनैतिक, धार्मिक आदि हो सकते हैं। और अपनी बात मनवाने के लिए हिंसा का रास्ता अपनाते हैं। फलस्वरूप साधारण तथा निर्दोष जनता आये दिन अपने प्राण गंवाते रहते हैं। प्रगति घोष कहती हैं - "आज देश में कुछ स्वार्थी तत्वों ने क्षेत्रवाद को बढ़ावा देना शुरू कर दिया है। इससे सांस्कृतिक टकराव, आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार तथा भाषायी मतभेद को बढ़ावा मिल रहा है। ये सभी तत्व आतंकवाद का पोषण करते हैं।"[1]

आतंकवाद की समस्या सूचना प्रौद्योगिकी जगत में क्रांति के कारण अधिक जटिल बनती जा रही है। समाज में आतंक फैलाने के लिए यह नये-नये तकनीकी का सहारा लेकर खतरनाक से खतरनाक औजारों की सहायता से कोहराम मचा रहे हैं। विदेश में बैठे हुए भी आतंकवादी भारत में अपने कार्य को अंजाम दे रहे हैं। ये व्यवस्था विरोधी वर्ग के कारण देश के राजनेता बहुत संख्या में जान गंवाते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी तथा राजीव गांधी भी इस आतंकवादी हमले का शिकार होकर अपनी जान गंवाये हैं। और अभी भी यह सिलसिला जारी है। वर्तमान काश्मीर में जिस प्रकार की दहशत फैली है उसके पीछे आतंकवादी गिरोह का ही हाथ है। अलिभा मंजरी कहती हैं - "मानव-मन में विद्यमान भय प्राय: उसे निष्क्रिय और पलायनवादी बना देता है। इसी भय का सहारा

---

[1] ऑनलाइन उपलब्ध है - www.shareyouressays.com

लेकर समाज का व्यवस्था विरोधी वर्ग अपने दूषित और नीच स्वार्थों की सिद्धि के लिए समाज में आतंक फैलाने का प्रयास करता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए यह वर्ग हिंसापूर्ण साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं चूकता है। इसी स्थिति में आतंकवाद का जन्म होता है।"[1]

आतंकवादी आये दिन बम विस्फोट, राजनेता तथा उच्च पद पर आसीन लोगों का अपहरण, विमान अपहरण आदि करके सरकार से अपनी बात मनवाना चाहते हैं। अलबत्ता सरकार को मजबूर कर देते हैं बात मानने के लिए। अत: अंतिम दशक में यह एक संवेदनशील विसंगति है।

1.2.15 माफिया

अंतिम दशक का समय मुख्य रूप से अपराधीकरण का समय है। महानगरीय जीवन शैली के अत्यधिक खुलेपन की बदौलत समाज में अनेक विकृतियाँ अवश्यंभावी बन गयी हैं। 'माफिया' भी आधुनिक समाज के प्रमुख विसंगति के रूप में सामने आया। अर्थ तथा काम केन्द्रित समाज का ही उपज है 'माफिया'। अत: अब खास करके महानगरों में माफिया एक गंभीर समस्या के रूप में उभरकर सामने आ रही है। माफिया के कारण ही हत्याकांड, बम विस्फोट, चोरी, अपहरण, मारपीट आदि समाज में आम बात बन गई है। साधारण जनता का जीवन त्रस्त तथा असुरक्षित बनता जा रहा है। आपको पता भी नहीं चलेगा कब आपकी हत्या कर दी जाएगी। आधुनिक काल में लोग एक दूसरे के शत्रु बनते जाते हैं। समाज में प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, दया, अपनापन, सहयोग आदि का स्थान ईर्ष्या, घृणा, अहंकार द्वेष आदि ने ले लिया है। इसलिए लोग जितना विकास करते जाते हैं उतना ही सामाजिक संबंध में खाई चौड़ी होती जाती है। आर्थिक विसंगति के फलस्वरूप समाज में हमेशा वर्ग-संघर्ष होता ही रहता है।

अंतिम दशक मुख्यत: पूंजीपतियों का ही समय है। अत: पूंजीपति समाज में आर्थिक असमानता विकट रूप धारण कर चुकी है। अत: धनी अधिक धनी और गरीब और अधिक गरीब होते जा रहे हैं। ऐसी हालात में व्यक्ति के मन में ईर्ष्या, अहं, निराशा आदि उत्पन्न होना स्वाभाविक है और वे असामाजिक कार्य में लिप्त होते हैं।

---

[1] ऑनलाइन उपलब्ध है - www.shareyouressays.com

महानगरों में 'माफिया-तंत्र' एक व्यवसाय बन गया है ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। उपभोक्तावादी संस्कृति ने व्यक्ति को कभी तृप्त न होने वाली मशीन बना डाला है। इसलिए उसे जीने के लिए असीम अर्थ चाहिए। आनंद पाटील कहते हैं - "आज बाजार में विलासिता की तमाम तरह की अजीबोगरीब चीजों से अटी पड़ी दुकानें दिखाई देती हैं और उन्हें खरीदने वालों की भीड़ भी कम नहीं। जिनके पास विलास की वस्तुएं नहीं हैं, वे किसी तरह उन्हें पा लेने की दौड़ में लगे हुए हैं। जिनके पास ये चीजें मौजूद हैं, वे इनसे कुछ अलग पाने की फिराक में रहते हैं। यही उपभोक्तावादी संस्कृति है।"[1] माफिया भी इसी उपभोक्तावादी संस्कृति की उपज है। क्योंकि दोनों ही धनी गरीब अतृप्त है। धनी और अधिक पाने की फिराक में है और गरीब के पास जो नहीं है वह उसे प्राप्त करने के लिए बेचैन है। अत: समाज में इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि अर्थ प्राप्ति करने के लिए वह असामाजिक बनता जाता है।

माफिया तंत्र में उभय उच्च तथा निम्न वर्ग के लोग शामिल हैं। मगर मुख्य रूप से उच्च तथा पूंजीपति वर्ग ही चला रहे हैं। यहाँ तक कि देश को चलाने वाले राजनेता भी इसका हिस्सा हैं। महानगरों में इनकी जड़ें इतनी मजबूत हैं कि इन्हें उखाड़ना अब दिवास्वप्न बन गया है। आश्चर्यजनक बात यह है कि देश के तथाकथित रक्षक पुलिस भी इनके लिए काम करते हैं। विडम्बना यह है कि माफियाकरण पूंजीपतियों का खेल होने के कारण इससे समाज को उद्धार करना अब कठिन बनता जा रहा है। क्योंकि पूंजीपतियों के हाथ में ही देश के शासन तंत्र की बागडोर है। अत: रक्षक ही भक्षक बन बैठा है। इनकी ही निगरानियों में चोरी, नशीले पदार्थों की तस्करी, अपहरण, हत्या आदि असामाजिक कार्य हो रहे हैं। कसीनो सभ्यता, कॉल गर्ल व्यापार आदि भी इन पूंजीपति माफिया का ही सफल व्यवसाय है। दु:ख की बात यह है कि इनके पास इतना पैसा है कि उसका प्रयोग करके ये कानून की आँख में धूल झोंकते रहते हैं और अपना इस असामाजिक व्यवसाय रूपी पेड़ को फैलाते जा रहे हैं।

---

[1] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतीकरण - आनंद पाटील, पृ.सं. 22

1.2.16 वृद्ध समस्या

भारतीय समाज में हमेशा पारम्परिक तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्य को ऊँचा दर्जा दिया गया है। हम इससे अवगत हैं कि समन्वय और सहयोग भारतीय समाज और संस्कृति की संरचना और विकास के प्रमुख आधार रहे हैं। संयुक्त परिवार की संरचना में यह दृश्यमान है। यहाँ अनेक आत्मीय स्वजनों के साथ व्यक्ति जीवन बसर करता है। प्रेम, नैतिक मूल्य, प्रतिबद्धता, धैर्य, कर्तव्यनिष्ठता, रागात्मकता को यहाँ महत्वपूर्ण माना गया है। यहाँ पर डॉ. क्षमा गोस्वामी का यह कथन सार्थक प्रतीत होती है कि - "परम्परागत समाज में वृद्धजन एक भरे-पूरे परिवार में रहते थे। उनका अधिकांश समय परिवार के लोगों के बीच विशेषकर अपने पोते-पोती, नाती-नातिन की देखरेख, बातचीत, परस्पर प्यार-स्नेह, आदर और मान के क्षणों में बीत जाता था। इसके साथ ही उनका एक बड़ा समय परिवार के उत्सव-महोत्सव, तीज-त्यौहारों के आयोजनों आदि में बीत जाता था।"[1] पारम्परिक समाज में एक तरह से वृद्धजन ही परिवार के मुख्य या कर्ता होते थे। उनके विचारों को सभी आदर तथा सम्मान के साथ पालन करते थे। उन्हें परिवार का वटवृक्ष भी कहा जाता है क्योंकि चाहे जितनी भी कठिनाई आये वे सभी को स्नेह तथा धैर्य के साथ एकत्र एक छत के नीचे रखते थे। परन्तु आधुनिक समाज में परिवर्तन के साथ-साथ वृद्धों की स्थिति में बदलाव आया। परिवार में वृद्धों को समस्या मान लिया गया। संयुक्त परिवार टूटने के साथ ही वृद्ध पीढ़ी गहन अंधकार में ग्रसित हो गयी। उनके हिस्से में वह मर्यादा, सम्मान अब नहीं रहा। निराशा, अकेलापन, शारीरिक अक्षमता ही आज उनके साथी है। जीवन के अंतिम पड़ाव में वह एकाकी तथा अनचाहे बनकर रह गये हैं। वैश्वीकरण, आधुनिकीकरण की बदौलत समाज में भौतिक चेतना का विकास हुआ और इस वजह से 'अर्थ' को जीवन में सभी सगे संबंधियों से भी अधिक महत्व दिया गया। शहरीकरण के कारण भी लोग गाँव छोड़कर शहर में जा बसे। मगर गाँव में उनके बूढ़े माता-पिता को आखिरी साँस गिनने के लिए छोड़ देते हैं। उन्हें अनावश्यक मान लिया जाता है। व्यक्तिवादिता के फलस्वरूप व्यक्ति दिन-ब-दिन स्वार्थी बनता जा रहा है। इसलिए वह संयुक्त परिवार की मर्यादा को नकारकर एकल परिवार में बस गया है। एकल परिवार खासकर वृद्धों के लिए अभिशाप

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 10

बन गया है। क्षमा गोस्वामी भी इस बात को स्वीकारती हैं - "वर्तमान समय में व्यक्तिगत अवसरवादिता, व्यावसायिकता और गतिशीलता ने भी परिवार के वृद्धों के जीवन को कम क्षति नहीं पहुँचायी है।"[1] आधुनिकता के कारण दोनों पीढ़ियों में अंतराल आ गया है। युवा पीढ़ी के पास उन्हें समझने के लिए न मन है ना ही धैर्य और न समय है। अत: विकास के नाम पर जिस अंधकार गली की ओर युवा पीढ़ी अग्रसर हो रहे हैं वहाँ न तो उनके लिए वृद्धजनों का आशीर्वाद है ना ही उस वट वृक्ष की छाया ही उन्हें प्राप्त है। व्यक्तिवादिता के अगम्य तथा अनन्त पथ में युवा पीढ़ी दिशाहीन हो गयी है। ऐसे हालात में वृद्ध पीढ़ी को केवल हताशा ही नसीब है।

वृद्ध समस्या अंतिक दशक में एक विसंगति है। स्थिति इतनी बिगड़ रही है कि उपेक्षित वृद्धों के लिए सरकार तथा गैर सरकारी संस्थाओं को इसमें हस्तक्षेप करना पड़ता है। क्षमा गोस्वामी इस संदर्भ में कहती हैं - "नगरों और महानगरों में वृद्ध केन्द्रों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। पहले केन्द्रों में प्राय: असहाय परिवारों के वृद्ध लोग रहते थे अब धनाढ्य और संपन्न परिवारों के वृद्ध लोगों को भी देखा जा सकता है।"[2] इससे हम स्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं।

1.2.17 शिक्षा जगत की विसंगतियाँ

समाज विकास के पथ पर अग्रसर है। उसके मूल में शिक्षा की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। शिक्षा को ज्ञान का पर्याय माना गया है। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य का उभय आंतरिक तथा बाह्य विकास होता है। शिक्षा का उद्देश्य हमेशा मनुष्य को पूर्ण मानव बनाता रहा है। केवल किताबी ज्ञान हासिल करना कभी भी शिक्षा के उद्देश्य नहीं रहे। प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत शिक्षा के संदर्भ में कहते हैं - "देश में सच्ची आवश्यकता शिक्षा की है। शिक्षा का अर्थ ककहरा सीखकर बैठ जाना नहीं है; बल्कि यह जानना है कि हमारे अधिकार क्या हैं, यह समझना है कि अधिकारों के साथ हमारे उत्तरदायित्व और कर्तव्य क्या हैं।"[3] शिक्षा एक तरह से मार्गदर्शक का कार्य करती है। यह मानव का बहुमुखी विकास उसका बौद्धिक, भौतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी है।

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 11

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 11

[3] शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ - प्रो; जगमोहन सिंह राजपूत, पृ.सं. 126

परन्तु परिवर्तित परिवेश में शिक्षा अपने उद्देश्य पूर्ति में असफल है ऐसा प्रतीत होता है। शिक्षा अब 'अर्थ' प्रदायनी बन गयी है। संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था ही भ्रष्ट हो गया है। शिक्षण कार्य व्यवसायिक धंधे का रूप ले लिया है। जो शिक्षार्थी को केवल नौकरी दिलाने तक ही सीमित है। इस शिक्षण व्यवस्था में नैतिकता, मानवता जैसे उच्च जीवन मूल्य आदि को नगण्य माना जा रहा है या इसे प्रासंगिक नहीं समझा जा रहा है। आधुनिक काल में शिक्षा प्रशासनिक तंत्र के अधीन आ गयी है। फलस्वरूप शिक्षा अपने मूल उद्देश्य से विच्यूत हो रही है। शिक्षा आज व्यवस्था की दास बन गयी है। इसलिए शिक्षा जगत में प्रशासन का हेर-फेर चलता है। भौतिकवादी समाज में शिक्षा को भी आर्थिक लाभ की ओर मोड़ दिया गया है। अत: शिक्षा आज आजीविकापरक बन गयी है। अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते शिक्षा अपने अन्य समस्त उद्देश्यों को भूलकर केवल आर्थिक विकास तक सीमित हो गयी है। डॉ. रवीन्द्रनाथ इस संदर्भ में कहते हैं - "शिक्षा का अर्थ प्रदायी स्वरूप उसके अन्यान्य उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। उसकी उपयोगिता को अर्थोपार्जन तक ही सीमित कर देने से मानसिक विकास अवरूद्ध होता है।"[1]

अंतिम दशक में शिक्षा जगत में राजनीति घुसपैठ कर गयी है। इसलिए शिक्षा जगत में हर प्रकार की धांधली आम बात बन गयी है। शिक्षा जगत में घुसखोरी, पक्षपात, भाई-भतीजावाद, साम्प्रदायिकता इस राजनैतिक हस्तक्षेप के बदौलत ही है। जगमोहन सिंह राजपूत कहते हैं - "इस समय हर स्तर पर शिक्षा व्यवस्था के लगभग सभी पक्ष चर्चित हैं और इसमें चिंता का पुट हर तरफ स्पष्ट दिखाई देता है। व्यवस्था में जो कमियाँ होंगी उनका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ेगा। आने वाले समय में समाज की संरचना पर भी पड़ेगा।"[2] आधुनिक काल में शिक्षा की गुणवत्ता पर प्रश्न चिह्न लग गया है। अर्थ प्रदायनी शिक्षा समाज के लिए जरूरी है क्योंकि आर्थिक विकास के लिए बिना किसी समाज का उत्थान नहीं होता है। अर्थ ही जीवन में सब कुछ नहीं है। अर्थ से बढ़कर हमारे मानवीय मूल्य तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्य हैं जो समाज की रीढ़ की हड्डी हैं। इसलिए प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत कहते हैं - "विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता, उपयोगिता तथा उपादेयता राष्ट्र के समक्ष यक्ष-प्रश्न के रूप

---

[1] जीवन प्रणाली की रूप रेखा - डॉ. रवीन्द्र नाथ, पृ.सं. 123

[2] शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ - प्रो; जगमोहन सिंह राजपूत, पृ.सं. 34

में उभर रही हैं। इसका उत्तर किसी के पास है, ऐसा नहीं लगता है। इससे भी अधिक निराशा इस तथ्य से उभरती है कि उत्तर पाने का प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है। ऐसा लगता है कि शिक्षा प्रबंधन में प्रवेश और परीक्षा ही सबसे महत्वपूर्ण अवयव हो गये हैं।"[1]

देश के बड़े से बड़े शिक्षानुष्ठान में भी भ्रष्टाचार, अराजकता फैली है। जहाँ पर अत्यधिक डोनेशन देकर माता-पिता अपने बच्चों के लिए सीट खरीदते हैं और सीट प्राप्ति के लिए भी राजनेताओं के पैर पकड़ना पड़ता है। आधुनिक काल में शिक्षक तथा शिक्षार्थी दोनों ही अनुशासनहीनता का शिकार हैं। आधुनिक शिक्षक में चारित्रिक तथा बौद्धिक विकास अवरोधित पाया जाता है। ऐसे हालात में शिक्षा की स्थिति के बारे में हम अंदाजा लगा सकते हैं। पारम्परिक गुरू-शिष्य संबंध आज दुर्लभ हो गये हैं। अत: आधुनिक काल में अनेक विसंगतियों से हमारी शिक्षा व्यवस्था घिरी हुई है।

1.3 बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यास : संक्षिप्त परिचय

विस्तृत फलक पर जीवन की सच्चाइयों को व्यक्त करने का श्रेय उपन्यास को प्राप्त है। इसलिए उपन्यास को मानव जीवन का महाकाव्य कहा जाता है। रामदरश मिश्र कहते हैं - "जब हम कहते हैं कि उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है तो इसका अर्थ यह होता है कि जैसे महाकाव्य में जगत-जीवन की विराटता अपने समस्त वैविध्य, गहरे भाव-बोध, विशिष्ट दर्शन, मानव मूल्य और प्रश्नों के साथ अंकित होती है उसी प्रकार उपन्यास में भी। लेकिन महाकाव्य का माध्यम पद्य है और उपन्यास का गद्य।"[2] हिंदी उपन्यास के विकास-क्रम का अगर मंथन किया जाएगा तो ज्ञात होगा कि हिंदी उपन्यास का धरोहर हमेशा सामाजिक रहा। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में मानव समाज में काफी कुछ परिवर्तन हुए हैं। ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि अंतिम दशक में अनेक नवीन संकल्पना, संघर्ष एवं अंतर्द्वंद्व का समय रहा एवं इस सामाजिकता को शब्दों में बयान करने का काम उपन्यास ने किया। उपन्यास के इस व्यापकता के बारे में रामदरश मिश्र कहते हैं कि - "अन्य विधाओं की अपेक्षा उसका स्वरूप 'लूज' है। इसलिए उसमें अपने भीतर सब कुछ समाविष्ट कर लेने की क्षमता

---

[1] शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ - प्रो; जगमोहन सिंह राजपूत, पृ.सं. 34

[2] हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा - रामदरश मिश्र, पृ.सं. 13

होती है।"[1] मधुरेश का भी इस संदर्भ में कहना है कि - "उपन्यास शुरू से ही ऐसा लचीला और सर्वसमावेशी साहित्य रूप रहा है जो बहुत जगहों से बहुत कुछ लेकर भी अंतत: उपन्यास ही बना रहा है।"[2] अत: उपन्यास के संदर्भ में विद्वानों द्वारा कही गयी बातों की जाँच-पड़ताल के उपरांत जब मैंने अपने शोध के लिए अंतिम दशक के उपन्यास को आधार के रूप में चुना तब मुझे इन सब मतों का गहन अध्ययन करने का अवसर मिला।

वास्तव में बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में जिस तेजी से समाज में परिवर्तन आया उसे उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में चित्रण करने का भरपूर प्रयास किया है। ज्योतिष जोशी भी इस बात को मानते हुए कहते हैं - "बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में जिस तेजी से समय में परिवर्तन आया और सामाजिक जीवन का प्राय: प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित हुआ उसे हिन्दी उपन्यासों में चित्रित करने की महत्वपूर्ण कोशिश की है।"[3] बीसवीं सदी को विडम्बना की सदी कहा गया है। समाज में अनेक विसंगतियों का सूत्रपात इसी समय में हुआ है और अंतिम दशक में तो स्थिति बदतर बनी हुई थी। भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, सूचना क्रांति सब एक साथ भारतीय सामाजिक जीवन को विकास के भ्रम में तहस-नहस करने पर तुले हुए थे। इन कारकों की वजह से जो अनगिनत विसंगतियाँ मुँह उठाकर सामने प्रकट हुई उन सबको उपन्यास में चित्रण करने का सफल प्रयास किया गया है। ज्यों का त्यों घटनाओं का वर्णन कर देना कभी भी उपन्यास के उद्देश्य में सम्मिलित नहीं हैं। समाज को चेतना प्रदान कर सही मार्ग पर लाने का प्रयास भी उपन्यास करता है। क्योंकि साहित्य हमेशा समाज के हित में रचा जाता है। जब समाज में बुराइयाँ सर चढ़कर बोलती हैं तब साहित्य के माध्यम से उस पर प्रहार किया जाता है और सत्यता तथा यथार्थ का पर्दाफाश भी किया जाता है। इसीलिए रामदरश मिश्र कहते हैं - "उपन्यास पूँजीवादी सभ्यता की देन है। पूँजीवादी सभ्यता के विविध जीवन सत्यों को कथा के माध्यम

[1] हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा - रामदरश मिश्र, पृ.सं. 13
[2] हिंदी उपन्यास का विकास - मधुरेश, पृ.सं. 237
[3] उपन्यास की समकालीनता - ज्योतिष जोशी, पृ.सं. 151

से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यह मात्र कहानी नहीं है। कहानी यानी कथा तो इसका माध्यम मात्र है। मूल वस्तु है वर्तमान जीवन की जटिल यथार्थवादिता।"[1]

अंतिम दशक में रचे गये ऐसे अनेक यथार्थपरक तथा विसंगतियों का पर्दाफाश करने वाल अनेक उपन्यासों में से कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है और आगे के अध्यायों में उपन्यास के संदर्भ में सामाजिक विसंगतियों को विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। और साथ ही साथ साहित्य एवं समाज के अंत:संबंध को भी उजागर करने की चेष्टा की गयी है।

1.3.1 अर्धनारीश्वर (1992)

'अर्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर के द्वारा रचित एक सफल सामाजिक उपन्यास है। समाज में व्याप्त विभिन्न विसंगतियों का यथार्थ चित्रण करने का प्रयास उपन्यासकार ने किया है। अर्धनारीश्वर की संकल्पना को पति-पत्नी संबंध में जरूरी मानकर उपन्यास में उस समाज की कल्पना की गई है। समाज में पति-पत्नी संबंध में कड़वाहट के कारण जिस प्रकार संबंध विघटित होते जा रहे हैं कहीं ना कहीं विष्णु प्रभाकर उससे व्यथित हुए हैं। इसलिए वे पति-पत्नी में 'समानता' तथा 'स्वतंत्रता' को अधिक महत्व देते हैं। वे स्त्री-पुरुष को एक दूसरे में विसर्जित नहीं बल्कि एक दूसरे से स्वतंत्र रहकर फिर भी जुड़े रहने की आशा व्यक्त करते हैं।

विवेच्य उपन्यास में बलात्कार की समस्या को विस्तृत फलक पर सजगता के साथ चित्रित किया गया है। आधुनिक समाज में नारी चाहे जितनी स्वतंत्र तथा आत्मनिर्भरशील हुई हो, परन्तु कहीं-न-कहीं आज भी वह अपनी सदियों पुरानी मान्यताओं से मुक्त नहीं हो पाई है। सामाजिक बंधन को वह स्वेच्छा से स्वीकार कर पिता, पति और पुत्र की मिल्कियत बन जीवन जीकर वह आज भी तृप्त है। इसलिए बलात्कार जैसा घिनौना कार्य जो पुरुष के द्वारा पद दलित होने के लिए नारी को मजबूर करता है उससे जब एक नारी ग्रसित होती है तब वह सामाजिक से अधिक अपने अंतर्मन में बिखरकर रह जाती है और बलात्कार को वह अपने जीवन का कुकर्म का फल समझती है।

[1] हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा - रामदरश मिश्र, पृ.सं. 12

एक ओर जहाँ लेखक वलत्कारिता के प्रति सहानुभूति दिखाते हैं वहीं दूसरी ओर उसमें आत्मविश्वास जागृत कर इस विसंगत पूर्ण व्यवास्था के खिलाफ आवाज उठाने के लिए उत्साहित भी करते हैं। सुमित्रा जैसी विवाहित नारी बलात्कृत होने के पश्चात भी लेखक उसमें अपने पति के साथ सहभागिता न कि विसर्जित होने का साहस पोषित करते हैं। पति के पुरातनपंथी विचार धारा को तोड़ने का भरसक प्रयास लेखक ने सुमित्रा के माध्यम से किया। उपन्यासों में बलात्कार पीड़िता अनेक नारियों का जीवन धारा के बारे मार्मिक चित्रण हुआ है। साथ-साथ समाज में व्याप्त विसंगति जैसे विवाहेत्तर सम्बन्ध के बारे में भी उपन्यास में चर्चा की गयी है। मगर शिक्षित तथा आत्मनिर्भरशील नारी के लिए लेखक ने इसे समस्या न मानकर सहज बनाने का प्रयास किया है। इसलिए विवाह संबंध में अनेक यौन सम्बन्ध मान्य नहीं है। इसलिए विभा कहती है- "यौन सम्बन्ध के बिना ही वह मिलन कितना सरल सम्पूर्ण होता हमारी अगली पीढ़ी सहज देख सकती है।"[1] इस कथन के माध्यम से लेखक समाज में व्याप्त विसंगतियों के बीच तालमेल स्थापन कर खुश रहने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। क्योंकि इन विसंगतियों से शायद ही कभी समाज मुक्त हो पाये।

1.3.2 दीक्षान्त (1992)

सूर्यवाला द्रारा लिखित उपन्यास दीक्षांत एक आदर्श अध्यापक की दुःखद जीवन गाथा है। उपन्यास के माध्यम से परिसर जीवन की सच्चाइयों को सम्मुख लाने का सफल प्रयास लेखिका ने किया है। शिक्षा जगत में व्याप्त विसंगतियों के संदर्भ में ही इस उपन्यास को ययार्थ माना जा सकता है। आज ऐसा समय आ पहुँचा है जहाँ आदर्श, नैतिकता, मूल्यबोध आदि के लिए समाज में कोई स्थान नहीं है। समाज तेजी के साथ विरुप होता जा रहा है। इस विकृत समाज में शर्मा सर जैसे अध्यापक के लिए तो कतई जगह नहीं है, जो बड़े श्रम अध्यवसाय से अर्जित ज्ञान और संस्कारों की उजास को पूरी निष्ठा और लगन के साथ नयी पीढ़ी को सौंपना चाहते थे। इन्हें तो शान्त और सुखद ढंग से जीने की मोहलत तक नहीं दी जाती है।

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 332

दीक्षांत उपन्यास में सूर्यबाला शिक्षा जगत में जिस प्रकार भ्रष्टाचार, ब्राह्मणवाद, अनुशासहीनता, मूल्यहीनता आदि दृश्यमान हो रहे हैं उस पर चर्चा की है। इस उपन्यास में एक सच्चे, ईमानदार अध्यापक की त्रासदी को दिखाया गया है। उपन्यास में छात्र अनुशासनहीनता एवं अध्यापक के प्रति मुख्य रूप से शर्मा सर जैसे आदर्शवादी एवं कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के प्रति विसंगति पूर्ण रवैया के बारे में सजग चित्रण किया गया है।

शिक्षा जगत में व्याप्त प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण जिस प्रकार की दयनीय परिस्थियों का सामना शर्मा सर को करना पड़ा है उसका पर्दाफाश सूर्यबाला ने किया है। एक आदर्श तथा ज्ञानी अध्यापक होने के बावजूद भी उन्हें दो वक्त की रोटी जुटाने के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। सूर्यबाला ने शिक्षा जगत में अस्थायी अध्यापकों की त्रासदी के बारे में वर्णन किया है। जिस प्रकार मानसिक तनाव, कुण्ठा, असुरक्षा आदि जीवन दशा में उन्हें जीना पड़ता है और इसके फलस्वरुप आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने की ओर अग्रसर होते हैं वास्तव में यह मार्मिक प्रतीत होता है। शर्मा सर के साथ भी यही हुआ। एक घुटन भरा, तिरस्कृत जीवन जी-जी कर वे बदहास हो गये थे। इस स्थिति को जीवन भर झेलने की ताकत शर्मा सर जैसे आदर्शवादी, कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदार, अध्यापक में नहीं बच पाती है, इसलिए अपने जीवन को दुःखद अंत की ओर ले जाना ही वह श्रेष्ठ समझते हैं।

1.3.3 नरमेध (1992)

'नरमेध' मनमोहन सहगल द्रारा लिखित उपन्यास है। भले ही यह एक प्रसिद्ध उपन्यास न हो, परन्तु इसमें आतंकवाद जैसे खतरनाक तथा संवेदनशील विषय का मार्मिक चित्रण मिलता है। आतंकवाद के साथ-साथ आज के समय के सबसे अधिक संवेदनशील कश्मीर समस्या के बारे में भी इस उपन्यास में करुण वर्णन किया गया है। देश विभाजन के साथ एक बहुत बड़ी समस्या जो भारत को नसीब हुई वह है आतंकवाद। मुख्य रूप से धर्म-सम्प्रदाय के नाम पर अपना जड़ जमाता चला जा रहा है और जिसका शिकार हो रहे हैं सीमा पर अवस्थित राज्य कश्मीर के मासूम लोग जिन्हें आये दिन गोलियों से भूना जा रहा, घर से बेघर किया जा रहा है। एक तरह से यह उपन्यास सरकार के राजनीति का कच्चा चिट्ठा खोलता है। एक छोटी सी भूल के कारण आज यह समस्या देश के लिए भयंकर

साबित हो रही है। कश्मीरी ब्राह्मणों पर वहाँ बहुत जुल्म ढाये जा रहे थे। धर्म-मजहब के नाम पर लोगों को भड़काये जा रहे थे। युवाओं को आंतकवाद प्रशिक्षण दिये जा रहे थे। और यह काम पड़ोसी देश पाकिस्तान करता था। पाकिस्तान चाहता है कश्मीर से सारे हिंदू भाग जाये और कश्मीर उसका हो जाये, कश्मीर मुसलमानों का है, कश्मीरी लोग दिल से पाकिस्तान के साथ हैं, हिन्दुस्तान जबरदस्ती एक मुस्लिम सूबे को हड़पना चाहता है, हम ऐसा हरगिज नहीं होने देंगे, उपन्यास नायक नरेन्द्र इसी सांप्रदायिकता का शिकार हुआ है। अपने भरा पूरा परिवार को आतंकवादियों के हवाले करके और जिन्हें अंधाधुंध गोलियों तथा बमों से उड़ा दिया गया है, केवल नरेन्द्र नहीं ऐसे कई हिन्दू परिवार को यही भुगतना पड़ा है जो कश्मीर से भागने के लिए राजी नहीं हुए। दूसरी तरफ अपना घर-बार छोड़कर आये हुये कश्मीर शरणार्थी जो दिल्ली, चंडीगढ़ तथा अन्य जगह पर बसे हुए हैं उनके प्रति सरकार का व्यवहार राजनीतिक दांव पेंच के बारे में भी मनमोहन शहगल ने यथार्थ वर्णन किया है।

1.3.4 छिन्नमस्ता (1993)

प्रभा खेतान के द्वारा रचित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' पूर्ण रूप से नारी जीवन में व्याप्त विसंगतियों को शब्द देने का प्रयास है। पुरुष द्वारा नारी शोषण का जो सिलसिला प्राचीन काल से चली आ रही है उस पर कुठाराघात करने का साहस प्रभा खेतान ने दिखाया है। परिवार की चारदीवारी में स्त्री को सुरक्षित रखने का जो मिथ्य दावा पुरुष ने किया था, उसकी असलियत को सामने लाने का कार्य 'छिन्नमस्ता' उपन्यास करता है। नारी अपने हर रूप में कैसे दमित, प्रताड़ित होती आयी है उसका चित्रण इस उपन्यास को सार्थकता प्रदान करता है। देखा जाए तो प्राचीन काल में नारी अलग तरह से प्रताड़ित थी और आधुनिक काल में मिश्रित, स्वतंत्र तथा स्वावलम्बी स्त्री अलग विसंगतियों से घिरी हुई है। इसी अंतर्द्वंद्व को प्रभा खेतान ने सार्थक अभिव्यक्ति दी है। मुख्य पात्र प्रिया अपनी बहन, माँ और भाभी के वैवाहिक जीवन की विसंगतियों को देखकर न केवल क्षुब्ध होती है अपितु 'विवाह' से जुड़ी दासता के प्रति विद्रोह भी करती है। लेकिन दूसरी ओर यही विद्रोह उसे अपने पति तथा बच्चे से दूर कर देता है। आत्मनिर्भर होकर प्रिया आत्मविश्वास संपूर्ण तो हो गई है लेकिन अहं के टकराव के कारण अपने पति के पार्श्व में वह खड़ी नहीं हो पाती है।

इस उपन्यास को पढ़ते हुए मुझे ऐसा लगा कि प्रभा खेतान ने बहुत ही साहस का काम किया है जो उनके समकालीन लेखिकाओं से उन्हें अलग करता है। पहली बार शायद ऐसा उपन्यास लिखा गया है जिसमें यह चित्रण हुआ है कि स्त्री किस तरह अपने परिवार में शोषित प्रताड़ित होती है जिसे वह अपना सुरक्षा कवच मानती है। 'छिन्नमस्ता' उस स्त्री के दर्द की दास्तान सुनाती है जिसका शोषण पितृसत्ता समाज में बचपन से शुरू हो जाता है, जहाँ वह अपनों के बीच अपनों के ही हाथों यौन शोषण की शिकार होती है। घर की दीवारें उसके लिए कितनी असुरक्षित है, छिन्नमस्ता इसका प्रमाण है।

आधुनिक बदलती जीवन धारा में परिवार का जिस प्रकार टूटन हुआ है उसके विविध रूपों को भी प्रभा खेतान ने उभारा है। पति-पत्नी संबंध के बदलते प्रतिमान के फलस्वरूप अंतिम दशक में अनेक विवाह विच्छेद हुए और ढेरों घर भी टूटे हैं। इस पारिवारिक विघटन के कारण केवल पति-पत्नी ही नहीं बच्चे, माता-पिता भी एकाकीपन, कुंठा, हताशा से परिपूर्ण जीवन बिताने के लिए बाध्य होते हैं। अत: छिन्नमस्ता अंतिम दशक में टूटते हुए परिवार की व्यथा कथा है।

1.3.5 मुझे चांद चाहिए (1993)

सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' अंतिम दशक का एक लोकप्रिय उपन्यास है। इसकी लोकप्रियता के बारे में मधुरेश कहते हैं - "सुरेन्द्र वर्मा ने 'अंधेरे से परे' (1980) के बाद 'मुझे चांद चाहिए' (1993) तक कितनी बड़ी छलांग लगाई है, इसे 'मुझे चांद चाहिए' की लोकप्रियता ने स्पष्ट कर दिया है।"[1] अंतिम दशक में सूचना क्रांति तथा औद्योगीकरण के प्रभाव से गाँव कस्बे भी मुक्त नहीं रह पाये हैं। यशोदा नाम की एक छोटे शहर की लड़की में भी महानगर की चकाचौंध भरी जिंदगी में वर्षा वशिष्ट बनने की लिप्सा उत्पन्न हुई। नायिका बनने की आशा में वह अपने घर, परिवार, सगे साथियों को छोड़कर मुम्बई में अपना भाग्य आजमाने लगी और सफलता के चरम पर पहुँची। लेकिन सब कुछ पा लेने के पश्चात भी वह दूसरे प्रकार के जद्दोजहद की स्थिति से लड़ने लगी। अपने अंतर्मन से लड़ने लगी। इसलिए वर्षा का संघर्ष जितना ही बाह्य है उससे अधिक वह आत्मसंघर्ष करती हुई

---

[1] हिंदी उपन्यास का विकास - मधुरेश, पृ.सं. 223

दिखाई पड़ती है। विमान में बैठते ही उसने देखा - "उसके शहर की रोशनियाँ पहले पीछे छूटीं। फिर नीचे। सुरक्षा पेटी खोलकर वर्षा एकांत बैठी रही। उसकी जीवन शैली कैसी हो गयी है? अपने प्रिय नगर और अपने प्रिय मित्रों से उसे इस तरह मिलना होगा? (दिव्या तक के साथ बस घंटे भर का समय मिला था) क्या आकांक्षाओं की कीमत इतनी ऊँची होती है?"[1]

उपन्यास के शीर्षक 'मुझे चांद चाहिए' से ही ऐसा प्रतीत होता है कि असंभव को प्राप्त करने की इच्छा। इसलिए मनुष्य जब असंभव को पाने की इच्छा रखता है तब उसका जीवन विसंगतिपूर्ण होना स्वाभाविक बन जाता है। उपन्यास के शीर्षक के बारे में श्याम कश्यप का कहना है कि - "उपन्यास का शीर्षक 'मुझे चांद चाहिए' कामू के नाटक 'कालिगुला' से लिया गया है। जिसका नायक कालिगुला कहता है कि हेलिकान मैं सिर्फ चांद चाहता हूँ। चाँद की यह कामना अप्राप्य की आकांक्षा का प्रतीक है। यह अनायास की नहीं है कि सुरेन्द्र वर्मा ने उपन्यास के समर्पण पृष्ठ पर आरंभ में ही कालिगुला का यह संवाद उद्धृत किया है जो उनकी लेखकीय लालसा व्यंजित करता है।"[2]

इस उपन्यास में मुख्य रूप से नाट्य तथा सिनेमा जगत के भीतरी संघर्ष का पर्दाफाश है। बाहरी तौर पर भले ही यह दुनिया चकाचौंध भरी प्रतीत हो रही हो मगर अंदर की दुनिया अत्यंत संघर्षशील, नायक, नायिका भले ही ग्लैमर से पूर्ण होकर कैमरे के सामने हँसते रहे लेकिन इनके अंदर की व्यथा कुछ अलग ही है। मृत्युंजय उपाध्याय यह कहते हैं कि - सुरेन्द्र वर्मा कृत 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास में नारी को पग-पग छल, शोषण और यंत्रणा का शिकार होना पड़ता है। पुरुष की रूग्न और सड़ी-गली मानसिकता, उसके छद्म चरित्र नारी के प्रति इसके वहशीमन कभी नारी को चैन नहीं लेने देते। नाटक और फिल्म की दुनिया में आत्माभिव्यक्ति के लिए छटपटाती एक महत्वाकांक्षी लड़की की मुश्किलों और उसके संघर्ष के एक-एक क्षण को यहाँ समुचित अभिव्यक्ति मिली है।"[3] आधुनिक महानगरीय जीवन शैली में व्यक्ति पल-पल विघटित हो रहा है। उपभोक्तावादी लिप्सा के बदौलत वह चाँद की कामना करता है। अत: कुंठा, निराशा, अकेलापन, हत्या, आत्महत्या आदि स्थिति में जीवन

---

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 363

[2] पढ़ना पत्रिका - श्याम कश्यप, पृ.सं. 7

[3] मधुमती - मृत्युंजय उपाध्याय, पृ.सं. 53

अतिवाहित करने के लिए वह मजबूर होता है। उभय स्त्री-पुरुष इस तरह से स्वाभाविक सामाजिकता से कटते हुए आत्मकेन्द्रित बनते जा रहे हैं। इस मनोदशा में जीते हुए वे कभी भी पूर्ण मानव नहीं बन पाते हैं।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास व्यक्ति के वैयकितक तथा सामाजिक जद्दोजहद को विस्तृत फलक पर उतारने की गाथा है।

1.3.6 निष्कवच (1995)

राजीसेठ का उपन्यास 'निष्कवच' भले ही एक छोटा उपन्यास है, मगर उसमें आधुनिक जीवन की सच्चाई को उभारने का प्रयास किया गया है। वह जीवन जो आज ज्यादातर लोगों को प्राप्त है। पश्चिमीकरण, तकनीकी उपलब्धि मानव जीवन-मूल्य को झकझोर दिया है। आज संबंध रागात्मकता से कटते जा रहे हैं। प्यार, ममता, सहानुभूति जैसे बेमाने नजर आ रहे हैं। एक ही छत के नीचे रहते हुए भी मानसिक स्तर पर सब अलग रहते हैं तथा एक दूसरे से दूर भागने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राजीसेठ स्वयं उस बदलाव को महसूस करती हैं जिसे वह पात्रों के माध्यम से प्रकट करती हैं। भौतिक सुख के पीछे पागल मानव के सम्मुख नैतिक सम्बन्ध तुच्छ प्रतीत होने लगे हैं।

'निष्कवच' उपन्यास के कुछ पात्र जैसे नीरा एवं विशाल हमें भारतीय समाज के बदलते परिवेश का संकेत दिलाते हैं। अगर हम एक क्षण के लिए खुद को उन पात्रों के स्थान पर रखने का प्रयास करेंगें तो हमें अंदाजा हो जाएगा कि हम भी उन परिस्थितियों से अलग नहीं ठहरते हैं। पारिवारिक विघटन बीसवीं सदी के अन्य सामाजिक विसंगतियों में से सबसे खतरनाक विसंगति है मुझे ऐसा लगता है। भारतीय समाज और संस्कृति की रीढ़ संयुक्त परिवार प्रणाली रही है। जहाँ समस्त परिवार के लोग प्रेम, सौहार्द, दया, सहयोग, सहानुभूति के साथ जीवन बसर करते हैं। किंतु आधुनिकता और व्यक्तिवादिता के प्रसार तथा औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के विकास के साथ-साथ उक्त संवेदनाएँ उदासीनता में परिवर्तित होने लगी हैं। 'निष्कवच' उपन्यास में दो वृतान्त हैं जिनके उभय स्त्री तथा पुरुष पात्र इस विसंगति का शिकार हैं। नीरा अपने मौसी के घर में पलने के कारण अपनी माँ का हमेशा विरोध करती है। बचपन में ही पिता का देहान्त तथा माता का उसके प्रति अलगाव भाव उसे स्वार्थी तथा जिद्दी बना

देती है। फलस्वरूप वह हमेशा मन की करती रहती है और सभी को अपने व्यवहार से चोट पहुँचाती है। उसके लिए प्रेम का कोई अर्थ नहीं है। भौतिक सुख को प्राप्त करने के लिए नीरा ने बासु को छोड़कर एक धनी लड़का रमण को बिना किसी दृन्द के साथ विवाह के लिए राजी हो जाती है। बासु भी अलग प्रकार की विसंगति का शिकार है। उसको लगता है घर परिवार, प्यार आदि लोगों को डरपोक तथा प्रोटेक्टिव बनाते हैं। आधुनिक जीवन में अकेलापन अच्छा लगता है इसलिए तो राजीसेठ 'निष्कवच' में कहती हैं- "अकेलापन मुझे उबाता नहीं, बल्कि बहुत दिनों तक उपलब्ध न हो तो क्षुब्ध करता है।"[1]

उपन्यास के दूसरे वृत्तांत में विशाल एक ऐसा पात्र है जो अर्थ को महत्व देते हुए समस्त मान्यताओं को तोड़कर अमेरिका चला जाता है। पर वहाँ के जीवन मूल्य को अपना नहीं पाता है न अपने घरवालों को सच बता पाता है। राजी सेठ बहुत ही सार्थक रूप से विदेश के चकाचौंध का पर्दाफाश करने का प्रयास करती हैं। भारतीय सोचते हैं कि विदेश स्वर्ग है जहाँ हर तरह का ऐशो-आराम आसानी से मिल जाता है मगर सच्चाई कुछ और है। विशाल उसका शिकार है तथा वहाँ जाकर ही वह असलियत जान पाता है। मगर आज भी लोग पश्चिमी सभ्यता के मोह से उबर नहीं पा रहे हैं। जिसके कारण घर, संबंध, प्रेम, दया सब कुछ लुटते बिखरते नजर आ रहे हैं।

अंतिम दशक के जीवन की सच्चाइयों को उजागर करने का महत्वपूर्ण कार्य राजी सेठ ने इस उपन्यास में किया है।

1.3.7 अपनी सलीबें (1995)

नमिता सिंह के द्वारा लिखित यह उपन्यास भले ही एक संक्षिप्त उपन्यास हो परन्तु समाज की अनेक संवेदनशील विसंगतियों का चित्रण इसमें हुआ है। लेखिका ने भारतीय समाज के बहुत ही संवेदनशील समस्या वर्ण व्यवस्था के विसंगत रूप को इस उपन्यास का आधार बनाया है।

आधुनिक युग में मनुष्य चाहे जितना भी तरक्की कर ले परंतु अपने अंतर्मन में कहीं-न-कहीं समाज की रूढ़ियों से जड़ित होता है। दु:ख की बात यह है कि खुद को शिक्षित, आधुनिक, विकसित कहने वाला व्यक्ति भी जात-पात, छुआछूत आदि विसंगतियों को अपने जीवन में महत्ता प्रदान किया

---

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 11

हुआ होता है। बाहर एक ढोंगी बनकर जीवन जीता है। मुख्य पात्र नीलिमा एक अध्यापिका होकर भी ऐसे मनोभाव में जीती है। एक शिक्षित तथा आधुनिक नारी होने के बावजूद अपने पति 'ईशु' जो नीच जाति का होता है उससे दूर चली जाती है। नीलिमा अपनी जिद में अटल रहती है और पति से अलग रहकर एकाकीपन में जीवन अतिवाहित करती है। शादी के चार साल पश्चात जब नीलिमा को ईशु की निम्न जाति के होने के बारे में पता चलता है तब वह ईशु को छोड़कर चली जाती है। एक नीच जाति के व्यक्ति के साथ रहना उसे पसंद नहीं होता है। परम्परा से प्राप्त इस मनोदशा से नीलिमा उबर नहीं पाती है। लेकिन दूसरी ओर नीलिमा की माँ सुमित्रा देवी बेटी के इस बेवकूफियों को महसूस कर उसे समझाने का प्रयास करती है। स्त्री का पुरुष जैसा बनने की आकांक्षा के फलस्वरूप बार-बार दोनों के अहं का टकराव होने लगता है और उभय ही कोई-न-कोई बहाना ढूँढ ही लेते हैं एक दूसरे को श्रेष्ठ साबित करने के लिए। तब विवाह जैसा पवित्र बंधन तुरंत फाँसी का फंदा जैसा प्रतीत होने लगता है। और अचानक दोनों में समस्त प्रेम, सहानुभूति, प्रतिबद्धता समाप्त हो जाती है। नमिता सिंह ने इस उपन्यास में पति-पत्नी के बीच एक संगीन कारण से हुए अलगाव का चित्रण किया है।

1.3.8 पाँच आँगनों वाला घर (1995)

इस उपन्यास में गोविन्द मिश्र ने पारिवारिक विघटन का जीवंत चित्रण किया है। लम्बे काल खंड में व्याप्त तीन पीढ़ी के विघटन कहानी है 'पाँच आँगनों वाला घर'। डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर इस उपन्यास के बारे में यह कहते हैं कि "गोविन्द मिश्र के सातवें उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' का केन्द्र बिन्दु भारतीय मध्यम (1940-1990) वर्ग का घर है जिसका पिछले पचास वर्षों में विघटन हुआ है। यह विघटन अपने समय परिवेश और संदर्भ के साथ चित्रमय रूप में प्रस्तुत किया गया है।"[1] खुशी से जीवन बसर करने वाले लोग एक ही छत के नीचे पाँच आँगनों वाला घर में रह रहे थे पर आगे चलकर वह पाँच आँगनों वाला घर किस प्रकार सरककर समाप्त हो जाता है, उसी की कहानी है यह उपन्यास। डॉ. रामचन्द्र तिवारी भी उपन्यास के बारे में यह कहते हैं कि 'पाँच आँगनों वाला घर' आधुनिकता के दबाव से क्रमश: भारतीय संयुक्त परिवार के टूटने और संवेदनशीलता के छीजने का अहसास कराने

[1] गोविन्द मिश्र का औपन्यासिक संसार - डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर, पृ.सं. 67

वाला महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसकी कथा सन् 1940 से 1990 ई. तक के काल खंड को आधार बनाकर लिखी गई है। समय के प्रखर बहाव में एक बड़ा घर चार भाग में बँट गया है और केवल घर ही नहीं दिल भी बँट गया है इसका प्रत्यक्ष चित्रण गोविन्द मिश्र ने किया है। जोगेश्वरी देवी जिस धैर्य, अभिमान, प्रेम, गरिमा के साथ उस बड़े घर को संजोया था। धीरे-धीरे वह काल कवलित होने लगा। परिवार को प्रथम धक्का तब लगा था जब जोगेश्वरी का बेटा राधे स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने के लिए घर से पलायन करता है। तत्पश्चात राधे की पत्नी शान्ति के सहयोग से जोगेश्वरी पहले जैसा घर चलाती रही पर समय के दबाव में वह विघटित होता चला गया। प्रथम पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी का समय समग्रता से सरकते हुए आत्मकेन्द्रिकता की ओर अग्रसर हुआ था। आधुनिक जीवन शैली के बदौलत घर के आगामी पीढ़ी पुराने जीवन मूल्य, उस लगाव, अपनापन जिससे जोगेश्वरी सब कुछ संभाली थी उसे समझने में असमर्थ रहे।

इस उपन्यास में शहरीकरण के प्रभाव को भी परिवार के टूटन के पक्ष में देखा जा सकता है दूसरी पीढ़ी के मोहन और राजन जब गाँव से निकलकर उच्च शिक्षा के लिए शहर जाने लगे तभी से मानो सब कुछ बिखरता चला गया। वे जो गये फिर कभी नहीं लौटे। यहाँ तक कि राजन अपनी माँ के अंतिम संस्कार के लिए भी नहीं आ पाया। मगर फिर भी उनमें कहीं-न-कहीं गाँव के प्रति पाँच आँगनों वाला घर के प्रति मोह था। मगर तीसरी पीढ़ी यानी राजन के बेटे बेटियाँ तो इस घर से जीवन मूल्यों से कोसों दूर रहे। शहरी संस्कृति में पले-बड़े उनके बेटों के लिए यह सोचना भी बहुत दूर की बात है। केवल आधुनिक जीवन शैली में मदमस्त होकर राजन के बेटे-बेटी ऐशोआराम का जीवन अतिवाहित करने के पक्षधर रहे। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध भी हमारे समाज को किस प्रकार प्रभावित किया है इसका भी यथार्थ वर्णन लेखक ने किया है। राजन का बड़ा बेटा अमेरिका चला जाता है। पिता की तबीयत खराब होने पर भी नहीं आता है। पाँच आँगनों वाला घर तो बाद की बात है इनके लिए एकल परिवार भी बोझ बन गया है।

गोविन्द मिश्र ने जिस तरह से तीन पीढ़ियों में घर का विघटन दिखाया है उपन्यास पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि जैसे सब कुछ आँखों के सामने घटता है और कहीं-न-कहीं खुद को वहाँ पाती हूँ।

1.3.9 शिखर पुरुष (1995)

देवेश ठाकुर का उपन्यास 'शिखर पुरुष' भले ही एक प्रसिद्ध कृति न हो परन्तु इसमें बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दों को जागृत किया गया है। यह उपन्यास समाज के उस भ्रष्ट राजनीति का पर्दाफाश करता है जो समाज के हर व्यवस्था में अपना काया विस्तार किया हुआ है। शिक्षा व्यवस्था भी इस भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं है। शिक्षा जो स्वयं समाज को मार्ग दर्शाता है और समाज में उन तमाम विसंगतियों पर प्रहार करने के लिए मनुष्य में विवेक उत्पन्न कराता है, आधुनिक काल में वह स्वयं विसंगतिपूर्ण बन गया है। इसी विसंगतिपूर्ण शिक्षा जगत का कच्चा चिट्ठा देवेश ठाकुर का यह उपन्यास प्रस्तुत करता है।

उपन्यास का नाम 'शिखर पुरुष' से तात्पर्य उन अध्यापकों से है जो शिक्षा के शिखर पुरुष कहलाते हैं। मगर ये शिखर पुरुष शिक्षा के माफियाकरण के एक-एक सदस्य बन गये हैं। अपने स्वार्थ की खातिर ये शिखर पुरुष किस हद तक जा सकते हैं, यह उपन्यास में वर्णित है। शिक्षा इनके लिए बस पैसे कमाने का पेशा बन गया है। आदर्श, नैतिकता, धैर्य जैसे शब्द इनके शब्दकोश से ही गायब हैं। एक से एक बेईमान, भ्रष्ट, स्वार्थी इस व्यवस्था को खोखला बना रहे हैं। अध्यापक शितांशु जैसे लोग इस भ्रष्ट व्यवस्था में कम ही रह गये हैं जो दिल से समाज का कल्याण चाहते हैं। ईमानदार तथा कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक शितांशु के लिए यह बहुत कठिन साध्य है इन भ्रष्ट शिखर-पुरुषों की दुनिया में स्वयं को अक्षत रखना।

बीसवीं सदी ऐसा समय है जब सत्ता और प्रशासन दोनों भ्रष्ट हो गये हैं। इसलिए हर कहीं भ्रष्टाचार फैला हुआ है। शिक्षा जगत में राजनीति का हस्तक्षेप इसे भ्रष्ट तथा यांत्रिक बना दिया है जो शिक्षा के इन माफिया के इशारों पर चलता है। देवेश ठाकुर ने शिक्षा जगत में इन समस्त विसंगतियों का सजीव चित्रण करने का प्रयास किया है।

1.3.10 कठगुलाब (1996)

मृदुला गर्ग द्वारा रचित उपन्यास 'कठगुलाब' नारी जीवन के अनेक पहलुओं से हमें रू-ब-रू कराता है। परिवार से आरंभ कर समाज के हर स्तर पर कैसे नारी को शोषित, प्रताड़ित किया गया है उसकी गाथा 'कठगुलाब' सुनाती है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी इस उपन्यास के बारे में कहते हैं - "कठगुलाब

पुरुष प्रधान समाज में नारी के दोहन-शोषण और मुक्ति संघर्ष की कथा है। इसमें स्मिता, मारियान, नर्मदा, असीमा ये चार नारी पात्र अपनी-अपनी कहानी कहते हैं। कहानियों के विस्तार क्रम में अन्य नारी-पात्र भी सामने आते हैं। पुरुष पात्र केवल एक है विपिन। उपन्यास से स्पष्ट होता है कि पूरब हो या पश्चिम, नारी सर्वत्र दोहन और शोषण का शिकार है।"[1]

इस उपन्यास में लेखिका ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज चाहे जितना भी विकसित तथा आधुनिक क्यों न हो जाए, स्त्री के प्रति पुरुष की मानसिकता कभी नहीं बदलेगी। पुरुष किसी वर्ग का हो, शिक्षित हो या अशिक्षित हो स्त्री के प्रति उसकी पाशविक प्रवृत्ति एक जैसी होती है। इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है। लेखिका उपन्यास के माध्यम से यह कहना चाहती है कि स्त्री पुरुष के इस पाशविक प्रवृत्ति के विपक्ष में विद्रोह तो करती है, मगर पुरुष से संपूर्ण मुक्त होना चाहती है। अपने जीवन में पुरुष के महत्व को वह नकारती नहीं है। रामचन्द्र तिवारी भी इस बारे में कहते हैं - "कथा लेखिका की नारियाँ पुरुष से संपूर्ण मुक्ति नहीं चाहतीं। वे सम्मान के साथ अपनी पहचान कायम रखते हुए प्रेम, सुरक्षा और संतान की कामना करती हैं। कोई स्त्री बंध्या नहीं होना चाहती है। उसके लिए पुरुष अनिवार्य है।"[2] इसी कारण से मृदुला गर्ग ने विपिन नामक पुरुष पात्र को भी उपन्यास में महत्वपूर्ण माना है।

मुझे यह उपन्यास पढ़ने के बाद यह समझ में आया कि मृदुला गर्ग ने ही नारी-विमर्श को सही रूप-रेखा प्रदान की है क्योंकि वे समझती हैं कि समाज में संतुलन स्थापित करने के लिए उभय स्त्री-पुरुष का समान भागीदारी होना चाहिए। किसी एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। वे पुरुष अत्याचार को सहना नहीं चाहती हैं। इसलिए स्मिता, मारियम, असीमा आदि नारियों को उन्होंने आत्मनिर्भरशील बनाया है। लेखिका ने जहाँ स्मिता के जीजा, मारियान के पति, नर्मदा का जीजा आदि पुरुष के रूप में शोषणकारियों को चित्रित किया है वहीं दूसरी ओर विपिन तथा मारियान के पिता के रूप में नारीवाद के समर्थक दिखाया।

---

[1] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 266

[2] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 266

अत: 'कठगुलाब' स्त्री जीवन की बहुत सी संगत-असंगत पहेलियों को सुलझाने का प्रयास है। सामाजिक विसंगतियों से पूर्ण यह एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर है।

1.3.11 पंचनामा (1996)

इस उपन्यास के माध्यम से वीरेन्द्र जैन ने अनाथ आश्रम में व्याप्त विसंगतियों का पर्दाफाश करने का प्रयास किया है। अनाथ आश्रम में भी भ्रष्टाचार, यौन शोषण, भेदभाव, बाल व्यवसाय आदि ने अपना काया विस्तार किया है। शायद इस बात से हम लोग ही अवगत होंगे। समाज सेवा के नाम पर किस प्रकार की धाँधली चल रही है इस बारे में वीरेन्द्र जैन ने 'पंचनामा' उपन्यास में चर्चा किया है। यह 'पंचनामा' उस समाज का है जो अनाथों का दर्द नहीं समझ पाता है और यह पंचनामा है उस व्यवस्था का जिसने अनाथ आश्रम जैसी संस्थाओं को जन्म दिया है। इस उपन्यास में कई सारे महत्वपूर्ण प्रश्न उभरते हैं कि क्या एक अनाथ के लिए बस 'दया' ही काफी है। दया में दिये गये दान ही सब कुछ हैं। स्वर्ग प्राप्ति के लिए अनाथ को, दान, भोजन देकर भगवान से खुश करने के लिए जो मार्ग धनी वर्ग अपनाते हें क्या अनाथ इससे संतुष्ट है? सबका सहानुभूति का पात्र जीवन भर बनता रहे इसे ही अनाथ मृत्यु पर्यन्त झेलता रहे।

अनाथ आश्रम में रहकर इन अनाथों को पग-पग पर शोषण, संघर्ष, अपमान सहना पड़ता है मगर दया का पात्र होने के कारण भ्रष्टाचार तथा शोषण के विपक्ष आवाज उठाने के लिए भी वह मुक्त नहीं हैं। पढ़-लिखकर सफल बनने के बाद भी समाज उन्हें समान अधिकार देने में पक्षपात करता है। हर पल उसे यह अहसास दिलाया जाता है कि वह अनाथ है। ऐसी ही अनेक विसंगतियों को ‘पंचनामा’ उपन्यास में रेखांकित किया गया है।

1.3.12 चाक (1997)

'चाक' उपन्यास मैत्रेयी पुष्पा द्वारा लिखित एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें अलीगढ़ जिले इगलास तहसील का अतरपुर गाँव कथा के केन्द्र में है। गाँव के परिवेश में व्याप्त अनेक विसंगतियों को लेखिका ने व्याख्यायित किया है। अनेक विसंगतियों के बावजूद भी वहाँ की नारी को सशक्त बनाने का प्रयास किया गया है।

गाँव के पिछड़े हुए परिवेश में आज भी अनेक कुसंस्कार, भ्रष्टाचार, जात-पात भेदभाव, सामंती प्रथा, हत्या, नारी शोषण आदि विद्यमान है। जिससे अवगत होने का अवसर 'चाक' को पढ़ने के पश्चात प्राप्त हुआ। मैत्रेयी पुष्पा एक नारीवादी लेखिका होने के कारण केवल कथा ज्यों का त्यों विवरण देने के पक्ष में नहीं है। 'सारंग' जो उपन्यास की केन्द्रीय पात्र है उसके माध्यम से न केवल नारी शोषण के खिलाफ बल्कि भ्रष्टाचार, जात-पात के विरोध में भी आवाज प्रखर करने का साहस दिखाया है। सामंती समाज में व्याप्त हिंसा के प्रति भी सारंग आवाज उठाती है और गाँव के लोगों के प्रति न्याय करने तथा गाँव का मंगल करने के लिए वह राजनीति में भी भाग लेकर सफल होती है। पुरुष के अन्याय को वह नहीं सहती है। वह हमेशा सच्चाई का साथ देती है। गोपाल राय कहते हैं कि - " 'चाक' की केन्द्रीय पात्र सारंग न केवल स्त्रियों के प्रति पुरुषों के अत्याचार को चुनौती देती है, वरन् नारी संहिता की समस्त मान्यताओं को अस्वीकार करती हुई अपने प्रेमी से देह संबंध भी स्थापित करती है। इसके साथ ही पुरुष सत्ता को चुनौती देने के लिए वह ग्राम पंचायत के चुनाव में प्रधान पद के लिए परचा भी भर देती है।"[1]

मैत्रेयी पुष्पा गाँव की राजनीति का भी पर्दाफाश करती है। गाँव में हत्या करने के बाद घुसखोरी के कारण झूठे गवाहों के कारण हत्यारा बच निकलता है। और चुनाव के समय भी घुसखोरी सर चढ़कर बोलती है। गाँव के विद्यालय भी सामंतों का अड्डा बना हुआ है। अत: लेखिका ने अपनी संपूर्ण रचनात्मक प्रतिभा के साथ नारी में शक्ति जगाकर उसे सामाजिक सुधार करने का साहस प्रदान करती है। लेखिका को लगता है कि स्त्री, पुरुष से किसी भी गुण में कम नहीं है वरन उसमें धैर्य तथा काबिलियत है।

1.3.13 यातनाघर (1997)

'यातनाघर' उपन्यास गिरिराज किशोर की अनुभूतियों का रचनात्मक दस्तावेज है। इस उपन्यास में शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार, राजनीति, तानाशाही आदि की असलियत को उजागर किया गया है। गोपाल राय का कहना है - "यातनाघर में शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार, घिनौनी राजनीति,

---

[1] हिंदी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ.सं. 425

आंतरिक कलह, अहं के टकराव, पश्चिमी जीवन की फूहड़ नकल आदि व्याधियों का सफल अंकन हुआ है।"[1] समाज का एक नामी दामी शिक्षा संस्थान जहाँ बड़े घरों के बच्चे पढ़ते हैं ओर जहाँ के ज्यादातर अध्यापक विदेश से शिक्षा अर्जन किये हुए हैं, उनकी तानाशाही तथा पश्चिम संस्कृति के अनुसार कार्य करने की शैली से यह उपन्यास हमें अवगत कराता है। शिक्षा की मूल्यहीनता, व्यवसायीकरण एवं देश से अधिक छात्रों में विदेश जाने की अदम्य इच्छा और उन इच्छाओं से अध्यापकों तथा अभिभावक का गर्वित अनुभव करना आदि विषय में गिरिराज किशोर ने सार्थक अभिव्यक्ति की है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी इस उपन्यास के बारे में यह कहते हैं - " 'यातनाघर' में स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को अमेरिका के राष्ट्रपति केनेडी द्वारा यादगार के रूप में दिये गये एक उच्चतम तकनीकी शिक्षा संस्थान की अंदरूनी गुटबाजी, उठापटक, जोड़-तोड़ और कुत्सित राजनीति की कहानी कही गई है।"[2]

इस विसंगतिपूर्ण शिक्षा संस्थान में विष्णु नारायण जैसा ईमानदार एवं संवेदनशील प्रशासनिक अधिकारी एक कैदी जैसा महसूस करता है। इसलिए वह इस शिक्षा अनुष्ठान को 'यातनाघर' कहता है। यहाँ तक कि अनुष्ठान के अस्थायी डायरेक्टर भी अंदर की राजनीति से बदहाल होते हैं। मुख्य रूप से इस अनुष्ठान में अध्यापकों का दबदबा रहता है। लेक्चर देने से अधिक रुचि प्रशासनिक कार्य में है। विष्णु नारायण इस पद पर होने पर भी ये अध्यापक उसके साथ सही बर्ताव नहीं करते हैं। भाई-भतीजावाद, पश्चिमी सभ्यता से आयात विसंगत मनोरंजन छात्रों की अनुशासनहीनता, गुंडागर्दी इस शिक्षानुष्ठान में आम बात बनी हुई है।

आधुनिक शिक्षा नीति के कारण जो अत्यधिक खुलापन अपनाया गया है, उसके फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात शिक्षा जगत में अनेक विसंगतियाँ दृश्यमान हुए। गिरिराज किशोर इस शिक्षा जगत से प्रत्यक्ष जुड़े होने के कारण अपनी अनुभव का सार्थक चित्रण इस उपन्यास ने किया है।

---

[1] हिंदी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ.सं. 495

[2] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 238

1.3.14 दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता)1998(

सुरेन्द्र वर्मा का यह उपन्यास एक चर्चित उपन्यास है। महानगरीय जीवन में व्याप्त अनेक विसंगतियों को उपन्यास की कथावस्तु में अपनाया गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति की भयावहता को 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में सजीवता के साथ चित्रित किया गया है। पहली बार किसी उपन्यासकार ने पुरुष वेश्या के बारे में खुलकर चित्रण किया है। अपने इस खुलेपन के कारण ही सुरेन्द्र वर्मा विवादपूर्ण हो गये। कई लेखकों ने इनकी भर्त्सना भी की है। डॉ.रामचन्द्र तिवारी भी सुरेन्द्र वर्मा के इस खुलेपन को नकारते हुए कहते हैं - "दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता लिखकर सुरेन्द्र वर्मा ने उपन्यासकार के रूप में अपनी प्रतिष्ठा को पीछे ढकेल दिया है।"[1] भले ही अंतिम दशक में उनकी इस बात से सभी नाराज हुए हों मगर इक्कीसवीं सदी में बहु मात्रा में उपन्यास तथा सिनेमा में पुरुष वेश्या की संख्या को उभारा गया है और यह एक सामाजिक सच भी है। महानगरों में उच्चवर्ग की महिला अपनी काम तृत्ति के लिए इन पुरुष वेश्या या Gigolo को बहुमूल्य देकर खरीदते हैं। यह आज महानगर में एक कमाऊ व्यवसाय बन गया है। बढ़ती हुई बेरोजगारी की बदौलत शिक्षित स्मार्ट पुरुष ने इसे व्यवसाय बना दिया है।

उपन्यास का पात्र 'नील' ने भी इसे व्यवसाय बना डाला है। मगर इस विसंगति पूर्ण जीवन शैली में उसके चारित्रिक पतन के साथ-साथ उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। इस उपन्यास के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण करने के नतीजे से हमारा साक्षात्कार करवाया है। जीवन में अपनाये गये गलत रास्ते हमेशा गलत परिणाम ही नसीब कराते हैं। यह कहना सुरेन्द्र वर्मा का उद्देश्य है।

महानगर में जो माफिया का दबदबा इस कॉल गर्ल संस्कृति, काशीनो संस्कृति इन सबके बारे में भी सुरेन्द्र वर्मा ने चर्चा की है। गाँव का लड़का भोला किस प्रकार मुम्बई आकर माफिया दुनिया में प्रवेश कर असामाजिक कार्य में लिप्त होता है इस समस्या को भी लेखक ने उभारा है। अन्त में वह भी मृत्यु का वरण करता है। उपन्यास में गाँव से आये हुए दो मर्द किस प्रकार महानगर की विसंगतियों से

---

[1] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 250

जूझते हुए मुर्दों में परिवर्तन हो जाते है इसकी कहानी है। भले ही यह उपन्यास विवादीय हो मगर समाज के अप्रिय सत्य को उजागर करने का साहस इसमें किया गया है।

1.3.15 मॉड़ल गर्ल (1998)

यह उपन्यास भले ही एक लोकप्रिय कृति न हो, परन्तु बलवंत गार्गी ने इसमें अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाया है। उपभोक्तावादी युग में विज्ञापन की चकाचौंध के प्रभाव ने साधारण जनता को नये-नये सपने दिखाये। उपन्यास की नायिका शालू इसका शिकार बनी। फैशन तथा ग्लैमर की दुनिया की चकाचौंध भरे जीवन को देखकर वह दिवा स्वप्न देखने लगी। सुपर मॉडल, मिस इंडिया या मिस यूनिवर्स बनने के ख्वाब से लबरेज थी। शालु स्वछन्द जीवन की आदी थी। फोटेग्राफर परवेज ने उसे मॉडल बनाने में सहायता की। फिर बाद में दोनों विवाह के बधंन में बंध जाते हैं। तब शुरु होता है दोनों के बीच अनुबंध। परवेज उम्र में शालु से बहुत बड़ा होने के कारण दोनों के विचार में ताल-मेल का अभाव परिलक्षित हुआ। एक दिन शालू परवेज को छोड़कर भाग जाती है सफल तथा स्वच्छंद जीवन जीने की खोज में। तत्पश्चात पग-पग पर वह अनेक पुरुषों से प्रताड़ित होती है, उसकी सहेलियाँ भी उसे छलती हैं। महानगरीय जीवन शैली में वह गुम हो जाती है।

बलंवत गार्गी ने इस उपन्यास में मुख्य रूप से नारी जीवन की त्रासदी को चित्रित किया है। शिक्षित तथा आत्मनिर्भर नारी स्वतंत्रता तथा स्वछन्दता के बीच अन्तर नहीं कर पाती है। मुक्तभोग करने में ही उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। ऐसा आधुनिक स्वच्छंद स्त्री को लगता है। शालू भी यही समझती है। मॉडल तथा फैशन जगत की असलियत से भी लेखक ने रु-ब-रु कराया है। अर्थ तथा काम केन्द्रित समाज में स्त्री मात्र बाजार की वस्तु बनकर रह गयी है। लेकिन इस बात को खुद स्त्री समझ नहीं पाती है। इसे वह अपना विकास समझती है या सफलता की सीढ़ी समझकर इस पर निस्संकोच चढ़ती जाती है।

लेखक ने इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध की विसंगति को भी व्याख्यायित किया है। पुरुष के लिए स्त्री मात्र एक देह है और इस देह पर अधिकार व्यक्त कर वह औरत को अपनी मिल्कियत समझता है। अतः यह उपन्यास महानगर में व्याप्त विसंगतियों पर गहन चिंतन-मनन करता है।

1.3.16 हमारा शहर उस बरस (1998)

गीताँजलि श्री द्वारा लिखित उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' एक संवेदनशील उपन्यास है जिसमें हमारे समाज के साम्प्रदायिकता रूपी राक्षस को मुख्य विषय बनाया गया है। साम्प्रदायिकता एक ऐसी विसंगति है जिसे हम सदियों से ढोते चले आ रहे हैं। मनुष्य चाहे चाँद पर पहुँच जाए या समुंदर में ट्रेन चलाए परन्तु वह इस साम्प्रदायिकता रूपी कलंक को मिटा नहीं पा रहा है। हालांकि दिन व दिन स्थिति बदतर होती जा रही है। देश को चलाने वाले राजनेता भी अपने वोट बॉक्स के लिए इसे एक औजार बनाये हुए हैं जिसके कारण हर शहर, गाँव इस औजार से लहूलुहान होता चला जा रहा है। आदमी स्वयं को पग-पग पर असुरक्षित महसूस करता है। कब कहाँ दंगा छिड़ जाए तथा कोई गोली मार दे किसी को अंदाजा नहीं है। कोई भी ऐसा स्थान या शहर नहीं है जहाँ यह कलंक व्याप्त नहीं है। दु:खद बात यह है कि शिक्षा अनुष्ठान तथा मठ जैसे पवित्र तथा सार्वजनिक स्थान पर भी साम्प्रदायिकता अपनी जड़े मजबूत किए हुए है। इससे निंदनीय बात और क्या हो सकती है। गीताँजलि श्री ने इन समस्त बातों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। उपन्यास में एक ऐसा शिक्षा अनुष्ठान है जहाँ के अध्यापक से लेकर विद्यार्थी तक सब साम्प्रदायिकता रूपी रोग से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं और जिसका शिकार प्रो. हनीफ जो एक जाने माने अध्यापक हैं होते हैं। सदियों से अपनी शिराओं में जिस साम्प्रदायिकता रूपी विषाक्त लहू बहती आ रही है वह शिक्षित तथा उच्च पद पर बैठे हुए आदमी को भी विषाक्त कर दिया है और मठ जहाँ लोगों को शांति तथा सद्भावना जैसे उच्च जीवन मूल्य प्राप्त होने चाहिए वहाँ लोगों के मन में साम्प्रदायिकता का जहर घोला जा रहा है। यह उपन्यास भले ही हमारे शहर में होने वाले दंगों के बारे में बताता है मगर गीताँजलि श्री खुद मानती हैं कि यह शहर केवल हमारा ही शहर नहीं है बल्कि यह सबका शहर है जहाँ आज भी साम्प्रदायिक दंगे होते रहते हैं और यह दंगे केवल उस बरस ही नहीं बल्कि इस बरस मतलब आज भी हो रहे हैं। हर शहर बस हिन्दू-मुसलमान में बँटकर रह गया है। गीताँजलि श्री लिखती हैं - "हिंदू-मुसलमान हो गई थी हर चीज, हर रंग, हर शब्द, हर सलाम-नमस्कार, अचकन-धोती हरा-पीला। जिस किताब घर का नाम सरस्वती था उसके

मुसलमान नाम के मालिक ने सरस्वती काट दिया। जिस होटल का नाम मुगल होटल था उसका सेठ सिकुड़ी हुई हिंदुई शब्दावली में दूसरा नाम खोजने लगा।"

गीताँजलि श्री जहाँ हिंदू-मुसलमान समस्या को उभारने का प्रयास करती हैं वहीं श्रुति जो एक हिंदू लड़की है और हनीफ एक मुस्लिम लड़के को पति-पत्नी के रूप में दिखाते हुए साम्प्रदायिक सद्भावना की सराहना है। यह उपन्यास हमें एक कठिन समय की बहुआयामी उलझाव पैदा करने वाली डरावनी सच्चाई से सामना करता है जो आज भी प्रासंगिक है।

1.3.17 बिस्रामपुर का संत (1998)

यह उपन्यास श्रीलाल शुक्ल का आठवां उपन्यास है। इस उपन्यास का आरंभ राजनीतिक परिवेश में होता है। विनोबा भावे की भू-दान आंदोलन की पृष्ठभूमि में इस उपन्यास की रचना है। उपन्यास का मुख्य पात्र कुंवर जयंती प्रसाद सिंह जो गवर्नर हैं उनके ठाठ-बाट के वर्णन से उपन्यास का आरंभ होता है। 'विश्रामपुर का संत' उपन्यास कुंवर जयंती प्रसाद सिंह के पतन की गाथा है। ऊपर से गाँधीवादी होने का दावा करने वाले जयंती प्रसाद अंदर से पाखंडी हैं। उनका चरित्र अच्छा नहीं है। गोपाल राय का मत यह है कि - "विश्रामपुर का संत में श्रीलाल शुक्ल ने एक ऐसे पाखंडी नेता का चरित्र प्रस्तुत किया है जो बड़ी सावधानी से कदम बढ़ाते हुए एक बड़े राज्य के राज्यपाल की कुर्सी हासिल करता है और किसी कारणवश पद से हट जाने पर संत की छद्म भूमिका अपना लेता है। वह उन नेताओं का प्रतीक है जो पर्दे के पीछे से पद पाने के लिए जोड़-तोड़ करते हैं; पर ऊपर से निर्विकार बने रहने का नाटक करते हैं।"[1] अनेक स्त्रियों के साथ उनका अनैतिक संबंध था यहाँ तक कि उनका बेटा विवेक जिस लड़की से शादी करना चाह रहा था उन्होंने उसके साथ भी दुर्व्यवहार किया था और उससे शादी करना चाहा था। डॉ. सुरेश पटेल इस संदर्भ में कहते हैं - "जयंती प्रसाद के दुर्व्यवहार के कारण विवेक से शादी करने के लिए सुन्दरी मनाकर देती है जिसको पिता ने उसे अपनी बांहों में जकड़ा हो, उसके लड़के की शादी कैसे हो सकती है? वह एक साथ विवेक की पत्नी और माँ बनना नहीं

[1] हिंदी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ.सं. 442

चाहती थी।"[1] जब कुंवर साहब इस बात से अवगत होते हैं उनमें अपराध बोध जागृत हुआ और वह यह सहन नहीं कर सके और उन्होंने नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली। इसलिए डॉ. सुरेश पटेल का यह कथन सार्थक लगता है - "कुल मिलाकर 'विश्रामपुर का संत' सामाजिक पतनशीलता की आत्महंता परिणति है। पूर्व दीप्ति की शैली में कही गई यह कथा कुंवर जयंती प्रसाद के अपराध-बोध की दास्तान है।"[2]

1.3.18 आवां (1999)

हिंदी साहित्य की प्रतिष्ठित कथाकार और जानी मानी समाज सेविका चित्रा मुद्गल का बृहत उपन्यास 'आवां' अपने समय की महत्वपूर्ण कृति है। आवां में अपने समय और समाज की व्यापक हलचल को महसूस किया जा सकता है। साहित्यकार श्रीलाल शुक्ल के अनुसार - "एक महाकाव्यात्मक उपन्यास है 'आवां'। नई सोच समझ एवं कलात्मक भंगिमा से युक्त यह उपन्यास महानगरीय जीवन में नारियों की दयनीय स्थिति का एक सजीव चित्रण प्रस्तुत करता है जिसका मिलना अन्यत्र दुर्लभ है।"[3] यह उपन्यास एक विशाल उपन्यास है। केवल नारी को केन्द्र में रखकर यह उपन्यास नहीं लिखा गया है। नारी जीवन के साथ-साथ समाज की अनेक अन्य विसंगतियाँ जैसे - वर्ण व्यवस्था, दलित समस्या, साम्प्रदायिकता, मजदूर संगठन आदि के बारे में सफल रूप से चित्रित किया गया है। रामचन्द्र तिवारी उपन्यास के बारे में कहते हैं - "उपन्यास में दों बातें उभरकर सामने आई हैं, एक तो यह है कि कभी वर्ग-हीन समाज रचने के महान उद्देश्य को सामने रखकर संघर्ष करने वाली ट्रेड यूनियनें आज स्वयं सत्ताकांक्षियों की कठपुतली बन गई हैं। और उनका संघर्ष लक्ष्य भ्रष्ट हो चुका है। दूसरी बात यह है कि समाज का कोई वर्ग क्यों न हो, आज भी सर्वत्र पुरुष-प्रधान समाज में नारी ही उत्पीड़ित होने के लिए अभिशप्त है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति ने मानवीय संवेदना को कुंठित कर दिया है और सब कुछ बिकाऊ मान बन गया है।"[4]

---

[1] श्रीलाल शुक्ल : एक अध्ययन - डॉ. सुरेश पटेल, पृ.सं. 63
[2] श्रीलाल शुक्ल : एक अध्ययन - डॉ. सुरेश पटेल, पृ.सं. 64
[3] हंस - फरवरी, 2001, पृ.सं. 130
[4] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 269

'आवां' समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियों को विस्तृत फलक पर उतारने का सफल प्रयास है। नारी शोषण तथा संघर्ष की कहानी 'आवां' नमिता जैसी अनेक लड़कियों की असलियत उजागर करती हैं जो हर स्तर, हर जगह पर प्रवंचित तथा प्रताड़ित होती हैं।

1.3.19 कितने पाकिस्तान (2000)

साम्प्रदायिकता पर लिखा गया यह उपन्यास कमलेश्वर का एक महत्वपूर्ण तथा सफल कृति है। उपन्यास के कथानक को लेखक ने एक अलग विजन पर प्रस्तुत किया है। इसलिए पाठकों के लिए यह समझ पाना मुश्किल है कि कौन इस कथा का नायक है और कथोपकथन किनके बीच चल रहा है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी कहते हैं - "कितने पाकिस्तान लेखक के दीर्घकालीन अंतर्मंथन का परिणाम है। समय और इतिहास ही इसके नायक हैं। इसमें लेखक ने मानव-सभ्यता के लम्बे इतिहास की गहरी पड़ताल करते हुए अनुभव किया है कि इतिहास के प्रत्येक काल-खंड में नफरत और घृणा ने इंसान को दो फाँकों में बाँटा है और पाकिस्तान बनते जा रहे हैं। आज भी यह सिलसिला बदस्तूर जारी है।"[1] इस उपन्यास के माध्यम से लेखक यह कहना चाहते हैं कि साम्प्रदायिकता के लिए वक्त कभी दोषी नहीं है, बल्कि लोगों की मनोवृत्ति में एक दूसरे के प्रति हिंसा, ईर्ष्या, घृणा आदि ही लोगों को हिंदू मुसलमान में विभाजित कर रहा है। फलस्वरूप पाकिस्तान बनने का सिलसिला आज भी जारी है। लेखक इससे त्रस्त होकर यह प्रश्न कर उठते हैं कि और कितने पाकिस्तान के जन्म होंगे? कब तक लोग एक दूसरे से धर्म के नाम पर मजहब के नाम पर नफरत करते रहेंगे? एक दूसरे का गला काटते रहेंगे? इसका वास्तव में कोई उत्तर नहीं है। गोपाल राय उपन्यास के संदर्भ में यह कहते हैं - "कितने पाकिस्तान में साम्प्रदायिकता विरोधी विजन है जो धर्म, राजनीति, क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा, भौतिक सुखों की होड़, प्रजातीय और बौद्धिक अहंकार आदि के तहत देश, दुनिया और मानवता को बाँटने, एक दूसरे से अलग और लहूलुहान करने की दानवी प्रवृत्ति के अंकन और उसके प्रतिरोध से युक्त है।"[2]

अत: इस उपन्यास में कमलेश्वर ने साम्प्रदायिकता रूपी व्याधि का महत्वपूर्ण चित्रण किया है।

---

[1] हिंदी का गद्य साहित्य - डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ.सं. 232

[2] हिंदी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय, पृ.सं. 438

1.3.20 समय सरगम (2000)

कृष्णा सोबती के द्वारा रचित यह उपन्यास मुख्य रूप से वृद्ध समस्या पर आधारित है। बाजारवादी दौर में वृद्धों को अपने बच्चों के द्वारा अनुपयुक्त मानकर घर से बाहर कर दिया जाता है या परिस्थिति ऐसी बन जाती है कि वृद्ध घर से स्वयं निकल जाना ही श्रेयस्कर मानते हैं। अकेलेपन की जिस त्रासदी का शिकार वृद्ध जन आधुनिक युग में हो रहे हैं उसे कोई नहीं समझता है। ज्योतिष जोशी उपन्यास के संदर्भ में यह कहते हैं - " 'समय सरगम' वृद्ध व्यक्तियों पर लिखा गया उपन्यास है, उनके जीवन, संघर्ष और निरंतर मृत्यु की ओर बढ़ती हुई आयु को मापता हुआ; पर यह उपन्यास मनुष्य जीवन की सार्थकता-निरर्थकता के बीच बहस और उसके सही अर्थ की खोज का प्रयत्न भी है जिसमें समूची सृष्टि समाहित है।"[1] 'समय सरगम' एक निश्चित उम्र अतिक्रम कर लेने के पश्चात अकेले हो रहे वृद्धों की जीवन की जटिलता को विश्लेषित करता है। उपन्यास में आरण्या और ईशान केन्द्र में हैं। लेखिका इस उपन्यास में वृद्धों के जीवन को एक नये फलक पर परिभाषित करने का प्रयास किया है। आरण्या और ईशान वृद्ध होते हुए भी अकेलेपन को झेलने के पक्षधर नहीं हैं। वे दोनों जीवन को भरपूर जीने में ही विश्वास रखते हैं। खासकर आरण्या जिस वास्तविकता में जीना चाहती है, वह उसकी दृढ़ता और जीवन-मृत्यु के जद्दोजहद से मुक्त रहने की परिकल्पना है। ज्योतिष इस संदर्भ में कहते हैं - "आरण्या ईशान को न केवल जीने का अर्थ देती है, वरन् उन्हें पारिवारिक मोह से भी निकालती है। और तब उनमें अपने जीवन को लेकर एक अतिरिक्त राग पैदा होता है।"[2]

उपन्यास में आरण्या एवं ईशान को अकेलेपन में ही जीना श्रेयस्कर लगता है वहीं दूसरी ओर कामिनी, दमयंती, प्रभु दयाल आदि वृद्धों की अपने परिवार में ही दयनीय अवस्था को चित्रित किया गया है। आधुनिक जीवन शैली में पीछे छूटते जा रहे इन वृद्धों की जीवन दशा अकथनीय बन गयी है। कहीं-न-कहीं लेखिका भी आरण्या की तरह जीवन जीने की पक्षधर रही है। बदलते परिवेश में पददलित होने से बेहतर है उसी बहाव में बह कर जीवन निर्वाह करना।

---

[1] उपन्यास की समकालीनता - ज्योतिष जोशी, पृ.सं. 153

[2] उपन्यास की समकालीनता - ज्योतिष जोशी, पृ.सं. 158

द्वितीय अध्याय

सामाजिक जीवन और विसंगतियाँ

2.1 धर्म

2.1.1 धार्मिक भ्रष्टाचार

2.1.2 साम्प्रदायिकता

2.1.3 आतंकवाद

2.2 अर्थ

2.2.1 धन प्राप्त करने के विसंगत साधन

2.2.1.1 माफिया

2.2.1.2 घूसखोरी

2.2.1.3 सत्ता लोलुपता

2.2.1.4 पुरुष वेश्यावृत्ति (Gigolo Culture)

2.2.1.5 वेश्यावृत्ति तथा कॉल गर्ल समस्या

2.2.1.6 नग्न प्रदर्शन

2.2.1.7 बाल श्रम

2.2.1.8 कोख का विक्रय (Surrogacy)

2.3. काम

2.3.1 मुक्त भोग

2.3.2 बिन ब्याहे माँ

2.3.3 बलात्कार

2.3.4 समलैंगिकता

2.3.5 बाल यौन शोषण

द्वितीय अध्याय

सामाजिक जीवन और विसंगतियाँ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य है। अपने व्यक्तिगत तथा पारिवारिक दायरे से निकलकर उसे समाज के साथ समन्वय स्थापन करना पड़ता है। हालांकि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य तथा समाज का अंतर्संबंध तथा प्रतिबद्धता के साथ ही सामाजिक जीवन सुचारू रूप से गतिशील होता है। सामाजिक जीवन सदैव परिवर्तनशील है। समाज का नियम है सदा विकास करना। जब यह विकास करता है जाहिर है सामाजिक जीवन पर इसका प्रभाव दृश्यमान होगा। यह स्वाभाविक है कि विकास अपने साथ अनेक अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ समेटती हैं। अच्छाइयाँ जहाँ लोगों में उम्मीद, खुशहाली लाती है, वहीं बुराइयाँ समाज को दस कदम पीछे ले जाती है। विकास का फलाफल सब जगह एक जैसा नहीं होता है। श्यामाचरण दुबे के अनुसार – "विकास की प्रक्रिया केवल व्यक्तियों और छोटे समूहों पर अपना संपूर्ण ध्यान केन्द्रित नहीं रख सकती, उसे उन बड़े समुदायों पर भी ध्यान देना होगा जिनमें समाज के बहुसंख्य विपन्न और साधनहीन लोग हैं। ऐसे समुदाय की उपेक्षा समाज में विसंगति और अस्थिरता पैदा करेगी। यह स्थिति विकास-अवरोधक होगी।"[1] मुख्यत: इसी कारण से सामाजिक जीवन विसंगतिपूर्ण होता है। बदलते समाज में व्यक्ति को ही अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा है। समाज का दायरा धीरे-धीरे संकुचित होने लगा है। भारत जैसे सांस्कृतिक तथा पारंपरिक जीवन मूल्य को महत्व देने वाले देश में कुछ लोग नैतिकता का हनन करने पर तुले हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ जिसे हमारे समाज की रीढ़ की हड्डी माना जाता है उसको विकृत करने लगे हैं। विकास के नाम पर इन जीवन मूल्यों का भयंकर रूप से तोड़-मरोड़ किया जा रहा है। धर्म के नाम पर सम्प्रदायों के बीच धार्मिक कट्टरता फैलायी जा रही है। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए संपूर्ण समाज को भ्रष्ट करने के लिए कमर कसे हैं। 'अर्थ' तथा 'काम' का जो रूप हम बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में देखते हैं उसको कतई हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने

---

[1] संक्रमण की पीड़ा - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 67-68

न्यायसंगत नहीं माना है। यह भ्रष्ट तथा विकृत रूप आधुनिक समाज की ही देन है, जो धीरे-धीरे सामाजिक जीवन को निगलता जा रहा है। हमारे समाज की यह संस्कृति मान्य है कि मनुष्य जीवन में धर्म का पालन करते हुए अर्थ तथा काम में संतुलन स्थापित करते हुए समाज में अपना कर्तव्य करते हुए मोक्ष को प्राप्त करता है। परन्तु आधुनिक समाज में यह जीवन मूल्य बदल गया है। लोगों में यह प्रवृत्ति उभरने लगी कि धर्म को विकृत कर अर्थ तथा काम को जीवन का सूत्र मानकर अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना मोक्ष है। इसी चिंताधारा के चलते सामाजिक जीवन और विसंगतियों का संबंध सुदृढ़ होता जा रहा है, ऐसा कहने में अतिश्योक्ति नहीं होगी।

2.1 धर्म

'धर्म' को मानव जीवन का सारांश माना गया है जो मानव समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली कड़ी है। धर्म व्यक्ति को कर्तव्य पथ या आगे बढ़ने तथा अपने दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा देता है। अति प्राचीन काल से ही 'धर्म' को महत्वपूर्ण मानकर अनेक विद्वान इस पर अपना मत व्यक्त करते आ रहे हैं। समाज में सबसे अधिक विवादास्पद 'धर्म' को ही माना जाता है। लेकिन इसे विवादास्पद बनाने में भ्रष्ट व्यक्ति तथा धर्म विरोधी व्यक्ति का ही हाथ है। मनुष्य ही उसे समझने में गलती करता है। नरेन्द्र मोहन कहते हैं – " 'धर्म' की वास्तविक शक्ति की परख केवल मात्र कर्म के माध्यम से ही हो सकती है। कर्म ही उस व्यवस्था का निर्माण करेगा, जिससे 'धर्म' और पाखंड के बीच अंतर किया जा सकता है। यदि 'धर्म' को कर्म के रूप में ढाला नहीं जा सकेगा तो वह पाखंड ही है।"[1] अत: 'धर्म' सदैव समाज के कल्याणकारी ही हैं जिसे 'न्याय' का पर्यायवाची माना जाता है।

आधुनिक समाज में धर्म के रूप में भारी परिवर्तन हुए हैं। भूमंडलीकरण के भयंकर दौर में 'धर्म' का गलत इस्तेमाल किया जा रहा है। विदेशी शक्ति भारत की दुखती रग को पहचानकर उस पर प्रहार करने लगी हैं। भारत की आधाशिला धर्म पर अवस्थापित है। इस बात की भनक उन्हें लग गयी है और इसके माध्यम से भारतीयों को विभाजित करने का सूत्र उन्हें मिल गया है। नरेन्द्र मोहन के अनुसार – "धर्म का उद्देश्य सदैव सर्वकल्याणकारी होना चाहिए, पर पश्चिमी चेतना ने धर्म को लौकिक नैतिकता,

[1] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 17

सामाजिक बंधनों या फिर ऐसे प्रछन्न निर्माता तथा पृथ्वी से परे कहीं और रहता है। पश्चिम ने धर्म को सदैव बहिर्मुख चेतना से जाना है, जबकि भारत ने धर्म को अंतर्मुखी चेतना में उतरकर जानने की चेष्टा की है।"[1] ऐसे ही धर्म को विकृत बनाकर देश में धार्मिक भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद को शह दिया जा रहा है। धर्म की कट्टरता के कारण लोगों में घृणा भाव उत्पन्न किया जा रहा है। भारत का विभाजन भी 'धर्म' की गलत समझ के कारण हुआ था। अंग्रेजों को यह समझ में आ गया था कि भारत को धर्म के आधार पर लड़ाकर अपनी स्वार्थ पूर्ति की जा सकती है क्योंकि भारतीय धर्म का अंधानुसरण करते हैं। अत: धर्म को लेकर मानव इतिहास में सबसे अधिक वाद-विवाद तथा रक्तपात हुआ है। और दिन-ब-दिन यह स्थिति बदतर होती जा रही है। बीसवीं सदी में धर्म के नाम पर कैसे समाज में अराजकता, अन्याय, रक्तपात हुए हैं उपन्यास के आधार पर आगे चर्चा की जाएगी।

2.1.1 धार्मिक भ्रष्टाचार

भारतीय समाज एक धर्म प्रधान समाज रहा है1 धर्म की परम्परा अति प्राचीन परम्परा है। भारतीय समाज में धर्म को जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य में भारतीय धर्म को अपना सर्वस्व मानते हैं। जिसके कारण आज इक्कीसवीं सदी में भी लोग धर्म से विच्युत नहीं हो पाये हैं। आज मानव अपने को आधुनिक कहता है, मगर जहाँ धर्म की बात आ पहुँचती है तो वह पुन: अपनी परम्परा की ओर लौट जाता है। मेरा यह मानना है कि धर्म परम्परा एवं आधुनिकता के बीच की एक सुदृढ़ कड़ी है। परम्परा एवं आधुनिकता के बीच अगर कोई तालमेल बैठ पाता है तो केवल वह धर्म के कारण ही संभव है।

आदिम काल से आते-आते धर्म के रूप में बहुत परिवर्तन दिखाई देने लगे हैं। आज धर्म की आड़ में या धर्म को ढाल बनाकर समाज में अशांति फैलायी जाती है जिसे धार्मिक भ्रष्टाचार कहा जाता है। आज समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियाँ धार्मिक भ्रष्टाचार का परिणाम हैं। धर्म जहाँ नैतिक मूल्यों को सुदृढ़ करता है वहीं धार्मिक भ्रष्टाचार नैतिक मूल्यों या मानवीय मूल्यों को खंडित करता है। आज ऐसा समय आ पहुँचा है जब धर्म की आड़ में पवित्र स्थान जेसे मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरूद्वारा

[1] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 9

आदि में लोगों को ठगा जाता है। आश्रम तथा मठ में लोगों का शोषण किया जा रहा है। भारतीय समाज की जड़ में धर्म इस तरह अपना विस्तार किए हुए है कि लोग धार्मिक भ्रष्टाचार रूपी इस बेड़ी से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाते हैं। शिक्षित लोग धार्मिक भ्रष्टाचार को जानते-पहचानते हुए भी उससे अपने को मुक्त नहीं कर पाते हैं।

मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास का नायक रंजीत पढ़ा-लिखा होते हुए भी धर्म के नाम पर फँस जाता है। वह चाहता है कि वह अपने गाँव में खेती करे। क्योंकि उसे नौकरी करना पसंद नहीं है। अत: वह चाहता है कि गाँव की पोखर में मछलियाँ पालेगा और अपना व्यवसाय शुरू करेगा। लेकिन उच्च कुल का होने के नाते उसका विरोध किया जाता है तब रंजीत अपनी पत्नी सारंग से कहता है – "ऐसे देखने लगे लोग कि जेसे में कसाईखाना खोलने जा रहा हूँ। पुजारी-पंडितों को मलेछाई सिखा रहा हूँ। एक राय होकर कहा गया, रंजीत जिस गाँव में सस्का तक अंडा-प्याज छिपाकर खाते हैं, तू वहाँ मच्छी गोस्त का ढेर लगाएगा? भइया शिवजी की मढ़िया सौ कदम के फासले पर है। यह अधरम-महापाप इस गाँव में तो मत करे।"[1]

इस तरह धर्म छोटी-छोटी बातों में भी बाधा पहुँचाता है। जब कोई अपनी जीविका निर्वाह करने के लिए मछली पालना चाहता है या मुर्गी पालना चाहता है तो धर्म के नाम पर उस पर प्रहार किया जाता है। भले ही वह भूखा पेट रह जाए। 'चाक' उपन्यास में रंजीत की लोग हँसी उड़ाने लगते हैं – "क्यों रंजीत, मुर्गी पंद्रह बच्चा देती है और सुअरिया? सुअर पालने में और ज्यादा फायदा। भाई, तू तो भवानीदास से लोगों का फंद छुड़ाने वाला कुबेर हो जाएगा। च् च् च् ऐसी धरमभिदिष्टी बातें करते तेरी जीभा नहीं लड़खड़ाती? संस्कार घोलकर पी गया! पढ़ाई का यह मतलब।"[2] शिक्षा के क्षेत्र में भी धार्मिक भ्रष्टाचार दिखाई देते हैं। कई ऐसे शिक्षा संस्थान हैं जहाँ पर किसी विशेष धर्म के आधार पर ही बच्चों को दाखिला दिया जाता है। वहाँ दूसरे धर्म के बच्चे शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते। धार्मिक भ्रष्टाचार के कारण बचपन से ही बच्चों के मन में भेद-भाव, ऊँच-नीच आदि भावना पनपने लगती है जो आगे चलकर जघन्य बन जाती है। बच्चे जो समाज का भविष्य हैं उन्हें अगर शिक्षा संस्थान जैसे

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 53

[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 54

स्थान में धर्म के नाम पर अलगाव भाव का बोध कराया जाए तो आप समाज के भविष्य के बारे में अंदाजा लगा ही सकते हैं। वीरेन्द्र जैन ने 'पंचनामा' उपन्यास में इस विसंगति पर दृष्टि निक्षेप किया है जहाँ नीच कुल के बच्चों को गुरूकुलों में पढ़ने की मनाही थी – "उन दिनों वहाँ का राजाधर्म कुछ और था। सभी गुरूकुलों में केवल उसी धर्म के अनुयायियों को शिक्षा दी जाती थी। अकलंक, निकलंक वहाँ शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते थे।"[1] समाज में व्याप्त धार्मिक भ्रष्टाचार ने बच्चों को भी फाँस लिया है। बचपन से ही नीच कुल के बच्चों में धर्म के नाम पर ऐसी हीन भावना उत्पन्न हो जाती है जिसे 'पंचनामा' में वीरेन्द्र जैन ने दिखाया है – "दोनों भाई शिक्षित तो होना चाहते थे, लेकिन अपने धर्म से च्युत नहीं होना चाहते थे। अपना लक्ष्य और आराध्य नहीं बदलना चाहते थे। ज्ञान पाने के लिए अपना धर्म नहीं गँवाना चाहते थे। जो अपना नहीं माना जाता, जो उनके लिए देव नहीं है, ऐसे किसी अदेव या कुदेव की पूजा-अर्चना का पाप नहीं करना चाहते थे।"[2]

किसी भी परिस्थिति में धर्म का नकारात्मक पक्ष ही लोगों के चिंतन को आक्रांत करता है। धर्म का आदर्श रूप आज खंडित हो गया है। इस तरह हम देख सकते हैं कि धर्म जहाँ समाज को एक सूत्र में बाँधना चाहता है वहीं धार्मिक भ्रष्टाचार ने समस्त मूल्य बोध को तोड़ दिया है।

विडम्बना यह है कि जिस सहानुभूति रहित प्रेम के लिए अनाथ तरसते हैं, दानी व्यक्ति के पास उसका अभाव होता है। केवल अपने तरक्की के लिए धर्म को मात्र मोहरा बनाया जाता है। ऐसे भी भ्रष्ट लोग समाज में होते हैं जो धर्म की दुहाई देकर अनाथों को खाना तो खिलाते हैं मगर असल में ये झूठे, मक्कारी होते हैं। गरीबों का शोषण करते हैं। अकलंक एक ऐसे ही धर्म भ्रष्ट के बारे में कहता जो अपनी ही दुकान में बीमा के पैसे बटोरने के लिए आग लगा देता है – "मैं सोचता था बड़ा धर्मात्मा है। अनाथ बच्चों को खाना भी खिलाता है और रुपया भी थमाता है।

अरे, गरीब मजदूरों का लाखों रुपया जेब में रखने वाला एक रुपया दे भी दे तो क्या? यह तो हजारों दे तब भी अपनी जेब से नहीं देगा। दूसरों का होगा वह भी।"[3] अनाथ अकलंक को उसने अपनी

---

[1] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 68

[2] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 68

[3] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 207

दुकान में काम तो दिया था, मगर उसे वेतन देने में आनाकानी करता है। 'धर्म' के नाम पर वह दुनिया को तथा अपने आपको ठगता है। आधुनिक समाज में खासकर धनी लोग इस प्रकार के धार्मिक भ्रष्टाचार में लिप्त रहते हैं। पैसों के बल पर स्वर्ग में सीट भी पा लेना चाहते हैं। धर्म की दुहाई देकर कुछ लोग जहाँ अपनी जेब भर लेना चाहते हैं वहीं दूसरी ओर उच्च वर्ग के लोग अपने काले धन को भगवान के सामने तथा समाज के सामने सफेद बनाने के लिए धार्मिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं। नमिता सिंह 'अपनी सलीबें' उपन्यास में लिखती हैं – "उन दिनों भविष्य की संपूर्ण जानकारी को अपनी मुट्ठी में रखने का दावा करने वाले अनेक ज्योतिषियों ने घोषणा की थी कि आठ जुलाई को प्रलय होगी। उस दिन दुनिया का विनाश निश्चित है। बहुत ववेला मचा था इस घोषणा से। भविष्य वक्ता दलालों ने यजमानों की स्वर्ग में सीट रिजर्व कराने के लिए दान-दक्षिणा का सिलसिला शुरू कर दिया था। शहर के सेठों, व्यापारियों और धंधेबाजों ने पापों के शुद्धिकरण के लिए जज्ञ, हवन आदि शुरू करा दिए।"[1] धर्म के नाम पर ऐसे पाखंड आधुनिक समाज में सर चढ़कर बोल रहे हैं।

बीसवीं सदी में धर्म को इतना दूषित कर दिया गया है कि धार्मिक स्थल जिसे पवित्र माना जाता है वह भी इन भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो पाया है। अपने भ्रष्ट आचरण से धार्मिक स्थल जेसे मंदिर मस्जिद में भी पुरोहित तथा मौलवी अनेक अनीतिपूर्ण कार्यों में लिप्त हैं। धर्म की ताकत से लोगों को बहला-फुसला कर अपना कार्य सिद्ध कर रहे हैं। 'हमारा शहर उस बरस' में गीतांजलि श्री ऐसे ही मठ के बारे में लिखते हैं जहाँ पर अनेक अनैतिक तथा समाज विरोधी कार्य हो रहे हैं और लोग भी धर्म के मोह में उनका अंधानुसरण करते हैं। वे लिखती हैं – "हमारे इस शहर में उन दिनों लाउडस्पीकरो से धर्म बँटते थे और सुनसान रातों में घर की चहारदीवारी पर बिलौटे रोते थे।

कितनों के सिर झुक गए थे कि देश तो है यह बनाया, मगर पिशाचों का जिन्होंने धर्म तक की धार्मिकता मिटा दी।

उस बरस भगवानों की बाकायदा खेती हुई, बीज लगे, जिनके ऊपर अंगुल भर मूर्तियाँ रखी गईं देवी जगदम्बे की और जब धरती को फाड़कर पौधा और देवी प्रकट हुए तो 'जै जगदम्बे' से

---

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 6

लाउडस्पीकर झनझनाने लगे। ऐसे कि दीवारें हिल गईं, गिरजों और मस्जिदों की नींवें हिल गईं। नींवें तो मंदिरों की भी हिलीं।"[1]

लोग धर्म के अर्थ को बिना समझे उसे अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए इस्तेमाल करने में लगे हैं। सभी धर्म में यह बात बराबर मात्रा में दृश्यमान है। समाज में हिंसा तथा अराजकता फैलाने के लिए धर्म का दुरूपयोग किया जा रहा है। एक दूसरे की जान लेने के लिए भी नहीं हिचकते।

अंतिम दशक में धर्म के नाम पर ढेरों अनैतिक कार्य हो रहे हैं। उपभोक्तावादी समाज में जहाँ सब कुछ बिकने के लिए तैयार है वहाँ धर्म को भी बिकाऊ बना दिया गया। आधुनिक जीवन में धर्म को अत्यंत संकीर्ण दायरे में बाँध दिया गया है। धर्म का दुरूपयोग करके सुख-समृद्धि प्राप्त करना ही लोगों का सपना बन गया है। नरेन्द्र मोहन का कहना है – "जिस शब्द का मानव ने सर्वाधिक दुरूपयोग किया है वह हे धर्म। इस शब्द के दुरूपयोग की लंबी श्रृंखला है तथा कोई नहीं जानता कि इस शब्द का दुरूपयोग मानव कब बंद करेगा और करेगा भी या नहीं।"[2] धर्म के नाम पर दान-पुण्य करके दिखावा करना आज आम बन गया है। लोगों को लगता है कि अनाथों को खाना खिला देने से स्वर्ग प्राप्ति होगी। धर्म की दुहाई देकर खाना तो खिला देते हैं जैसे-तैसे मगर मन में उन अनाथों के प्रति केवल घृणा ही भरी हई होती है। 'पंचनामा' उपन्यास में लेखक ऐसे ही धर्म भ्रष्टों की बात करते हैं जो अनाथों को खाना देकर पुण्य अर्जन करना चाहते हैं। अनाथाश्रम के छात्र अकलंक से कहते हैं – "पिछले दिनों परीक्षा फल निकला है। सो, जो लड़के अच्छी श्रेणी में पास हुए हैं न, उनके माँ-बाप खुश हैं। इसीलिए दान-पुण्य करने पर तुले हैं। इन अनाथों को भोजन कराना भी तो दान-पुण्य है न। बाद में तो पूरे साल केवल त्योहारों के दिन ही ऐसा खाना मिलता है या फिर किसी सेठ के बाप की, माँ की, तेरहवीं, पुण्य तिथि या जन्म तिथि पर।"[3]

मस्जिद जैसे पवित्र स्थल हिंसा स्थल में तब्दील हो गये हैं जहाँ धर्म का मिथ्या प्रचार किया जाता है और लोगों को एक दूसरे से लड़ाया जाता है। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "मस्जिद में जो बम

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 101

[2] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 15

[3] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 90

फूटा है, उसके बारे में यह माना जा रहा है कि इसमें हिंदुओं का हाथ है ही नहीं। मुसलमानों ने जो बम हथियार छिपा रखे थे, उन्हीं में गलती से एक फट गया।"[1] उपरोक्त कथन से हम देख सकते हैं कि जहाँ पर धार्मिक कार्य किया जाता है जगह बम व हथियार का भंडार बनी हुई है। इससे दर्दनाक बात और क्या हो सकती है। वहीं दूसरी ओर मठ में भी धर्म की आड़ में दंगा किया जा रहा था, जिसमें शहर के बड़े-बड़े लोग, राजनेता आदि भागीदार थे। मठ का महंत धार्मिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा दे रहा था। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "नहीं, मठ की गतिविधियों में कोई कटौती नहीं हुई है, बल्कि बढ़ोत्तरी ही हुई है। अब तो आए दिन वरिष्ठ अधिकारी, मंत्रीगण, ऐसे ऐसे दिग्गज, महंत के दर्शन को पहुँचते हैं।"[2] मठ में व्याप्त अराजकता के बारे में श्रुति कहती है – "अब मठ असल उपद्रवी तत्वों के हाथ में गया। वे लोग राजनीति में सीधी घुसपैठ चाहते हैं, इलेक्शन में अपना उम्मीदवार खड़ा करना चाहते हैं। तभी महात्मा महंत वह दोनों संबोधन जोड़ देता है, से मतभेद छिड़ा।"[3]

'नरमेघ' उपन्यास में भी धार्मिक स्थल पर व्याप्त भ्रष्टाचार पर लेखक ने दृष्टि डाली है। मस्जिद जैसे पवित्र स्थान व्यभिचारियों का अड्डा बना हुआ है। वे लिखते हैं – "पाकिस्तान से आने वाले हथियारों और असलाह को छिपाने के लिए मस्जिद के तहखाने के सिवा और कौन-सी सुरक्षित जगह हो सकती है। अब मस्जिद पर एक प्रकार से पाकिस्तानी सिक्रेट सर्विस के एजेंटों का कब्जा था और वे लोग अपनी समस्त साजिशों की खिचड़ी वहीं पकाने लगे थे।"[4]

अत: धर्म को अपभ्रंश सदियों से किया जाता रहा है क्योंकि उसके सही अर्थ को आज तक भी समझना कठिन रहा है। इसलिए इसका हमेशा गलत उपयोग किया गया है। यही कारण है कि समाज में धार्मिक भ्रष्टाचार चरम पर है। 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में शरद संस्कृति तथा धर्म की भ्रष्टता के बारे में कहता है – "विवाह तो हिंदू धर्म और संस्कृति के मूल में है। खंडन-मंडन की परम्परा, शास्त्रार्थ का रिवाज, क्या तुम लोग नहीं जानते? कोई एक मत है हिंदू जाति में? विपुल मत है और रहेंगे। मेरी सुनो और जवाब दो कि जिस महान जाति के लिए तुम चिंतित हो, उसकी संस्कृति, परम्परा,

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 180
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 163
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 325
[4] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 108

धर्म को इतना निकृष्ट, दमघोंटु-संकीर्ण बनाकर तुम इसमें हिंदू छोड़ ही क्या रहे हो?''[1] वास्तव में आधुनिक समाज में धर्म तथा संपूर्ण भारतीय संस्कृति की यही त्रासदी है।

2.1.2 साम्प्रदायिकता

भारत अनेक धर्मों तथा अनेक जातियों का पालन करने वाला देश है। लेकिन दुख की बात यह है कि यहाँ हमेशा धर्म को अस्त्र बनाकर एक दूसरे को लड़ाया जाता है। धर्म की गलत अवधारणा ही समाज को विखंडित करती है। नरेन्द्र मोहन धर्म को दो रूपों में विभाजित करते हैं ताकि उनका स्वरूप स्पष्ट हो सके – "धर्म तत्व को समझने की दृष्टि से उसे दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है – एक तो वह रूप जिसे भारतीय मनीषियों ने अपनी गहन अंतर्मुखी अनुभूति से परम धर्म कहा है और दूसरा यह जिसे सामान्य मानव अपने लौकिक जीवन में जानता है और जो कर्मकांड व पुरोहितवाद से संचालित व प्रेरित हैं व जिसे हम 'लौकिक धर्म' कह सकते हैं।"[2] वास्तव में इसी 'लौकिक धर्म' का ही दुरूपयोग का नतीजा है साम्प्रदायिकता। क्योंकि मानव हमेशा इस लौकिक धर्म को अपने स्वार्थ प्राप्ति के लिए खंडन मंडन करता है। नरेन्द्र मोहन कहते हैं – "यह लौकिक धर्म संसार में विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे हिंदू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि। वास्तव में ये धर्म न होकर मत हैं, पंथ हैं, संप्रदाय हैं, पर अब यह मत मतांतर प्रचलन में धर्म के रूप में इतना आ चुका है कि इन सभी को धर्म कहकर संबोधित किया जाता है।"[3]

धर्म की यह अवधारणा आज इतनी भ्रामक बन गयी है कि आज इससे उबर पाना दुष्कर जान पड़ता है। स्वार्थ, अहंकार, हिंसा आदि विकृतियों को मन में इस तरह पालन करते-करते मनुष्य आज साम्प्रदायिकता को ही अपना धर्म मान बैठा है। नरेन्द्र मोहन के शब्दों में – "विभाजित व स्वार्थ प्रधान चेतना से उपजे जो विभिन्न धर्म हैं उनमें से अनेक केवल अपने अहंकार, स्वार्थ व आक्रामकता के कारण ही फल-फूल रहे हैं। धर्म का आवरण लेकर अपनाई गई यह आक्रामकता ही साम्प्रदायिकता है। इस आक्रामकता को कहीं राजनीतिक कारणों से अपनाया गया और कहीं आर्थिक कारणों से तो कहीं

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 237

[2] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 93

[3] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 93

सामाजिक कारणों से।"[1] भारत में जहाँ हिंदुओं का वर्चस्व रहा है वहाँ अन्य सम्प्रदाय जैसे मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि सदैव अपने को असुरक्षित तथा पद दलित होने के लिए मजबूर हैं। मुख्य रूप से ऐतिहासिक कारणों से हिन्दू और मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिक तनाव समाज में समय-समय पर उभरते हैं जिसका अत्यंत ही हृदय विदारक, नृशंस तथा अमानवीय परिणाम संपूर्ण मानव समाज को झकझोर देता है। साम्प्रदायिकता मुख्य रूप से अंग्रेजों के षड्यंत्र का परिणाम है जिसका उग्र तथा नृशंस रूप दिन-ब-दिन मुखर होता जा रहा है। प्रकाश नारायण नाटाणी इस संदर्भ में कहते है – "साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी शक्तियाँ भी अपने साम्राजीय हितों की रक्षा के लिए सुनिश्चित नीतियों द्वारा, उपनिवेश में निवास करने वाली जातियों की धार्मिक भावनाओं को भड़काकर उनमें साम्प्रदायिक भावनाओं के बीज बो देती हैं जो समय पाकर साम्प्रदायिक कट्टरता, हठधर्मिता, साम्प्रदायिक हिंसा, और रंगों का रूप धारण कर लेती है।"[2] विडम्बना यह है कि आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता एक सशक्त तथा समृद्ध सामाजिक विसंगति बन गयी है जिससे मानव जीवन त्रस्त है। जैसे-जैसे मनुष्य विकास करता है, उसमें उतनी ही अधिक धार्मिक कट्टरता, हिंसा, स्वार्थ आदि बढ़ता जाता है। संकीर्ण चिंताधारा जो 'स्व' में विसर्जित है, उस स्थिति में साम्प्रदायिक सद्भावना की बात मात्र दिवास्वप्न ही प्रतीत होती है। ऐसे स्वार्थवादी समाज में साम्प्रदायिकता को पंख पसारने का सुवर्ण सुयोग प्राप्त हुआ है। इसका चित्रण साहित्य में भी उपलब्ध है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में अनेक साहित्यकारों ने इस संवेदनशील मुद्दे पर चर्चा की है। गीतांजलि श्री का उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' साम्प्रदायिकता पर लिखा गया एक सफल एवं संवेदनशील हस्ताक्षर है। लेखिका मुख्य रूप से हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर चर्चा करती है जो इतिहास और वर्तमान को एक कड़ी से जोड़ती हुई साम्प्रदायिकता को एक अनवरत चलने वाली त्रासदी बतलाती हैं। जिससे त्रस्त होने के लिए मुनष्य आज मजबूर है। लेखिका उस शहर से बात करती है जहाँ आये दिन साम्प्रदायिक दंगे छिड़ते हैं। घर हो, कॉलेज हो या मठ हो सब जगह साम्प्रदायिक कट्टरता और उग्रवादिता पर चर्चा चलती है। हनीफ, श्रुति और शरद तीन इसका शिकार दिन-प्रतिदिन हो रहे हैं। तीनों बैठकर एक कैसेट सुनते हैं – "तुम्हें हमने

[1] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 94

[2] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पृ.सं. 279

बराबरी दी, तुमने हमें क्या दिया? पाकिस्तान। बहुत हो गई दया-धर्म की बातें। अब है वीरता और क्रूरता के दिन। यहाँ रहना था तो रहीम रसखान बनते, प्यार से दूध में चीनी की तरह, पर नींबू बनोगे तो क्या होगा? दूध फटेगा और दूध तो पनीर बनेगा, उसकी कीमत बढ़ेगी, पर नींबू तो कट के, निचुड़ के सूख के कूड़े में ही फिंकेगा ......।"[1] दोनों सम्प्रदायों में इस कदर कट्टरता फैल गयी है जिसे मिटाना अब असंभव लगता है। हमेशा से मताधिक्य के बल पर दूसरे सम्प्रदाय पर जुल्म ढाया जाता है। उन्हें बेसहारा, निरस्त कर दिया जाता है जबकि इतिहास को परखने से ज्ञात होता है कि कभी भी हिंदू-मुस्लिम का रिश्ता हिंसा पर आधारित नहीं था। हम सच्चाई को बिना टटोले गलतफहमियों में जीकर समाज को विषैला बना रहे हैं । हनीफ हिंदू-मुसलमान के सद्भावना को इतिहास के बारे में कहता है – "क्यों नहीं लोग जानते कि सबसे पहले मुसलमान उत्तर नहीं, दक्षिण भारत में आए। मलाबार तट पर व्यापार के लिए, बिना हमला किए; बिना खून-खराबे के वहीं साउथ में बसे और उधर के राष्ट्रकूट और चालुक्य राजाओं ने, जो हिन्दू थे, उनका स्वागत किया। यहाँ तक कि मिली जुली शादियाँ हुईं और इनसे जो बच्चे हुए उन्होंने 'बयासरा' के नाम से नई कौन बनाई। ये मेल या झगड़ा नहीं।"[2] समय क्रम में मनुष्य इस सद्भावना को संपूर्ण रूप से बिसर कर मन में कड़वाहट, हिंसा भर लिया है और एक असुरक्षित तथा आक्रामक समाज निर्माण में दायी बन गया है। साम्प्रदायिक दंगा जिसका परिणाम है। मानव-मानव का संबंध नहीं रह गया बल्कि यह बहु संख्यक तथा अल्पसंख्यक में तब्दील हो रहा है। शरद कहता है – "अल्पसंख्यक असुरक्षा के भाव में अपने में घुले घिरे रहते हैं और जब न तब त्रस्त होकर या लड़ाका होकर पत्थर उठा देते हैं, पर असल शुरूआत यह नहीं होती। उसके भीतर अपमान का क्लेश, नजरअंदाज किए जाने का गुस्सा .....।"[3] जब मनुष्य को अपनी सुख-सुविधा तथा अधिकारों से वंचित किया जाएगा उसके साथ सौतेला व्यवहार किया जाएगा तब उसमें असुरक्षता, हिंसा तथा विद्रोह भावना का विकास होना स्वाभाविक है। मगर इस बात को समझने के लिए आज सभी अक्षम हैं। साम्प्रदायिक भावना मनुष्य के मन में जड़ बनकर बैठ गयी है। हनीफ और श्रुति बात

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 44
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 67
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 109

करते हैं – “जैसे कुछ हिल नहीं रहा, सब वहीं का वहीं है। कोई बदल नहीं रहा कि कहीं तहों के भीतर, तर्कों के पीछे गहराई में छिपा वह बिंदु है जो जड़ है, जमा है, जहाँ न दंगों की हवा जाती है, न तर्कों की, जो अछूता है, साबुत सलामत आत्मतुष्ट बिंदु, जहाँ न जाने कब से, कब से हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के खिलाफ हैं।”[1]

आधुनिक समाज में साम्प्रदायिकता राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। राजनेता अपने वोट बैंक भरने के लिए सम्प्रदायों के बीच दंगा करवाते हैं। अपना स्वार्थ प्राप्ति को मुख्य मानते हुए वे राष्ट्रीय एकता की बलि चढ़ा देते हैं। प्रकाश नारायण नाटाणी का कहना है – “राष्ट्रीय नेता धार्मिक सहिष्णुता की बातें करते हैं, परंतु साम्प्रदायिकता के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाते हैं।”[2] विभिन्न सम्प्रदायों के बीच धार्मिकता की आड़ में यह राजनेता सत्ता हथियाने के फिराक में रहते हैं। यदि राजनीतिक पहलु केन्द्र में नहीं होता तो शायद ही कभी साम्प्रदायिकता आज समाज को विकृत कर पाती। यहाँ तक कि देश का विभाजन भी राजनीति का दूषित खेल था। तब तक अंग्रेजों को इस बात की भनक लग गयी थी कि भारत जैसे धार्मिक देश में साम्प्रदायिक मन मुटाव पैदा करके देश में सहज रूप से शासन किया जा सकता है। इसलिए वे भारत छोड़ तो गये मगर पाकिस्तान बनाकर कीािी न खत्म होने वाली साम्प्रदायिकता हमारे नसीब में छोड़ गये। विभाजन की त्रासदी को ‘कितने पाकिस्तान’ उपन्यास में कमलेश्वर लिखते हैं –

“इसलिए कि अब मैं इंसान हूँ ....मुझे अब मौत से बहुत डर लगता है!

- तो जब मरे थे, उस वक्त तुम क्या थे?
- तब मैं हिंदू था!
- हिंदू क्या इंसान नहीं होते?

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 126

[2] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा शर्मा, पृ.सं. 277

- होते हैं लेकिन जब नफ़रत का जहर मेरी नसों में दौड़ता है तब मैं इंसान का चोला उतार कर हिन्दू बन जाता हूँ!
- ये नफरत का जहर कहाँ से आया!
- उसी सन् सैंतालीस वाली फ़सल से यह जहर जन्मा है हुजूर! जो हिन्दू को ज्यादा बड़ा हिंदू और मुसलमान को ज्यादा बड़ा मुसलमान बनाता है! अर्दली बोला।"[1]

अत: भारत विभाजन के बाद ही हिंदू-मुसलमान के बीच की खाई चौड़ी होती गई। देश के स्वार्थी नेतागण छल करके हिंदुस्तान और पाकिस्तान बना डाले, धर्म के नाम पर लड़ने के लिए साधारण जन को मजबूर कर खुद वातानुकूलित गृह में बैठकर इसका मजा लेने लगे। कमलेश्वर लिखते हैं – "यह ठीक है कि गाँधी जी ने सब संभाला, पर तब तक अंग्रेज इस सच्चाई का फायदा उठा चुके थे और देखो न, बाद में क्या हुआ? लोकमान्य तिलक ने अंतत: सारे हिंदूवादियों को जन्म दिया ....सावरकर जेसे क्रांतिकारी हिंदू हो गए। उनकी नस्ल ने नाथूराम गोडसे पैदा किया ....आखिर उसी ने गाँधी जी की हत्या की ...तो गाँधी, नेहरू, पटेल, मौलाना आजाद के रहते हुए भी मुसमानों के लिए उम्मीद बची ही कहाँ थी..... दिलों में शक बैठ गया था कि सत्ता मिलते ही धीरे-धीरे नेहरू का सेक्यूलरिज्म मूर्छित होता जाएगा!''[2] देश का बँटवारा करके राजनेता ने गलत फैसला लिया है उसका परिणाम दिन-ब-दिन आत्मघाती बनता जा रहा है। कमलेश्वर इसलिए लिखते हैं कि – "जैसे बापू कह रहे हों – गलत फैसलों से हिंसा उपजती है और हिंसा से अपसंस्कृति और रक्तपात ....।"[3] आज यही हमारी नियति है। आज साम्प्रदायिकता इसी सत्ता हथियाने वालों के कारण कभी न खत्म होने वाला युद्ध बन गया है। कमलेश्वर लिखते हैं – "कुछ भी हो, हमें केवल युद्ध चाहिए! – जो युद्ध में शामिल नहीं हो पाएंगे वे अपने समाजों के लिए डकैत और हत्यारे बन जाएंगे। ऐ अदीबे आलिया! आप हमारी मजबूरी क्यों नहीं समझते .....हम युद्ध लोलुप, रक्त-पिपासु नहीं थे। हम भी इंसान की औलाद की तरह

[1] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 69
[2] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 104
[3] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 61

मासूम पैदा हुए थे ....पर सत्ता और साम्राज्य की स्पर्द्धा ने हमें, अपने हितों के लिए दरिंदों में बदल दिया है .....।"[1]

'चाक' उपन्यास में भी लेखिका मुद्गल ने सत्ता प्राप्त करने के लिए साम्प्रदायिकता को हथियार बनाने वाले नेताओं की असलियत उजागर करती है। नेता सुनंदा और सुहैल के प्रेम को साम्प्रदायिकता का रूप देकर मजदूरों की एकता में फूट डालने लगे। यादव जी नमिता से कहते हैं – "ऐंठा-ऐंठी सुहैल और सुनंदिया के बीच, उनका निजी मामला ठहरा। बच्ची जन्म गई। आगे-पीछे मामला सुलट ही जाता, मगर मुहल्ले के किसी मनफुसिए ने नेता बनने के शोकीन दद्दु तिवारी को हिंदुत्व की रक्षा के लिए अचानक नींद से जगा दिया। दद्दु तिवारी भगवा पताका वाले ठहरे। उन्होंने मामला अखबार में छपवा दिया। अखबार वाले ने मसाला बनाके मामले को साम्प्रदायिक रंग दे दिया।"[2] समाज में ऐसी अनेक छोटी-छोटी बात को तिल का ताड़ बनाकर साम्प्रदायिक दंगा छिड़ा दिया जाता है। राजनेताओं का जैसे धर्म बन गया है हिंदू मुसलमानों के बीच दीवार खड़ी करके समाज में हिंसा फैलाना। देश को चलाने वाले कथाकथित राजनेता आज राक्षस बन बैठे हैं। मानवीयता का गला यहाँ रोज कहीं न कहीं घोंटा जाता है। रोज सुनंदा जैसी अनेक स्त्री साम्प्रदायिकता का शिकार होकर बलिदान देती है। जहाँ प्रेम से झगड़ा समाप्त हो सकता है वहाँ घृणा, हिंसा, लहू की बलि चढ़ने के लिए इंसान मजबूर हैं। सम्प्रदायवाद का सरकार तथा राजनीति ने गलत व्यवहार किया है। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "बहुत बड़ी गलती कर रही हो, एकदम गलत बँटवारे कर रहे हो। एक तरफ धर्म और कट्टरता, दूसरी तरफ पढ़े-लिखे उदार और नास्तिक। जैसे कि यही जोड़ बनते हैं। गलत, सरासर गलत। न सारे हिंदू और मुसलमान कट्टर।

फिर भी मुसलमान ज्यादा ऐसे, पढ़े-बेपढ़े .....उनका पिछड़ापन ......।"[3]

शरद कहता है – "बहुत हो गई उनके पिछड़ेपन की बातें। सरकार उन्हें गलत शह भी खूब देती है।

---

[1] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 185

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 106

[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 105

ठीक कह रहे हो। गलत शह देती है। उनके सांप्रदायिक तत्वों को ही उभारती है, दूसरी जिम्मेदारियों से जीवन की मूल जरूरतों को पूरा करने की कठिन जिम्मेदारी से, उन्हें अलग पहचान का लॉली पॉप पकड़ा के बरी हो जाती है।"[1] 'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा इस घिनौनी राजनीति के षड्यंत्र पर चर्चा करती हैं। अतरपुर गाँव में हिंदुओं का दबदबा रहा है जहाँ किसी जमाने में कोई नम्बरदार नामक व्यक्ति के द्वारा किये गये एहसान का हवाला देकर आज भी मुसलमानों को मानसिक दबाव में रखा जा रहा है। और आज भी हिंदुओं के लिए मुसलमान केवल वोट बैंक ही है। मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं – "ऋण का एक इतिहास चला आ रहा है। जिस तरह कांग्रेस से दबने का रवैया चला आ रहा है। कांग्रेस माने नम्बरदार, कांग्रेस माने मुसलमान। दोनों का धर्म एक। हो क्यों न? पाकिस्तान बनने पर जब मुसलमान खदेड़े जा रहे थे तो नम्बरदार उनके धर्म पिता बन सामने आकर खड़े हो गये। एक-एक को बचा लिया। छानबीन हो रही थी, वे मुसलमानों के नाम बदल रहे थे – शौकत अली – गोपाल, जफर अली – श्यामचरण, इस्माइल – बाबू लाल, शहाबुद्दीन – मंगल सेन। रशीदा – माया, शरीफा – सुनहरी, दफीजन – मंगली। चोटी कटवाने नहीं दी। हमारे गाँव में कोई मुसलमान नहीं। सब हिंदू हैं हिंदू।"[2] वोट पाने के लिए थानसिंह मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़का देता है - "ससुरो, अब भी अंगरेजी राज में जी रहे हो! जमींदार की निगाह पर वोट देते हो। यह नहीं देखते कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी निकलती चली जा रही है। और तुम्हारी दर कुत्ते से बदतर होती जा रही है। नमाज पढ़ने की जगह तक नहीं जुटी। यहाँ मंदिर दो-दो हैं, मस्जिद एक भी नहीं। शिवजी और दुर्गा मइया रहेंगी, खुदा नहीं।"[3]

आधुनिक समाज में स्थिति ऐसी बनी हुई है जहाँ मठ जैसे धार्मिक स्थल में भी साम्प्रदायिकता फैलाई जा रही है। मठ के महंत राष्ट्रीय एकता के बारे में न सोचकर समाज में धार्मिक कट्टरता फैला रहे हैं। गीतांजलि श्री इसका खुलासा करती हैं। मठ के महंत अपने भाषण में कहते हैं – "आवश्यकता गुरूकुलों की है। हमारी सभ्यता संकट में है। यह क्या हमने अपनी संतों को सिखा दिया है कि अकबर महान है? अकबर क्रूर विदेशी था। अंग्रेज था।

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 105

[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 29

[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 30

हमारे देवी-देवताओं को मिथ्या कहते हो? क्षमा-क्षमा क्षमा! विधर्मी विमर्ध बाँचे, वह जनतंत्र। हमें चुप रहने को बाध्य करो, वह जनतंत्र। देश को बँटने दो। हम अखंड भारत फिर बनाएँगे।"[1] धर्म की आड़ लिए महंत लोगों में साम्प्रदायिकता फैला रहे हैं। हनीफ जो हमेशा साम्प्रदायिक सद्भावना फैलाना चाहता है मगर उस पर हमेशा देशद्रोही का आरोप लगाया जाता है। उस पर जान लेवा हमला भी किया जाता है। मगर वह अटल रहता है। वह कहता है – "गजब है कि सवाल डिबेट बंद करने का उठाया जा रहा है और मठ, जो अपने लाउडस्पीकरों और भक्तों के जरिए यूनिवर्सिटी में घुसपैठ कर रहा है। उससे एक भी छोटा-सा सवाल नहीं किया जा रहा। वह धर्म फैला रहे हैं? यह भी किसी को नहीं पता कि मठ को इतना पैसा कहाँ से मिल रहा है? या पलक झपकते ही देवी ने पैसों की बरसात कर दी है?''[2] महंत शास्त्रज्ञान से समृद्ध होने के कारण समाज को अपने ज्ञान से सद्भावना फैलाना चाहिए, अज्ञान दूर करना चाहिए वह खुद धर्मांध होकर सत्ता हथियाने के लिए लोगों में धार्मिक कट्टरता भर रहे थे – "यह बलिदान करने का समय है। महंत जी लाउडस्पीकरों से आकाशवाणी कर रहे हैं। मूर्ति-भजकों और गौ-भक्तों से देवी हिसाब माँगती हैं। .....हमें अपना कलंक धोना है ....तभी फिर से शांति और अहिंसा से जीवन व्यतीत करने का युग लौटेगा .....।"[3]

आज समाज में साम्प्रदायिकता ऐसा बारूद बन गयी है जिसमें किसी भी क्षण आग लगकर विस्फोट हो सकता है। ऐसी स्थिति में साधारण जनता असुरक्षता तथा असंतुष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो रही है। स्थिति आज इतनी संवेदनशील एवं आक्रामक बन गयी है कि जब कोई साम्प्रदायिक सद्भावना, राष्ट्रीय हित के पक्ष में कार्य करता है तब उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यहां तक कि जान गंवाना पड़ता है। साधारण जनता का सत्ता के खिलाफ आवाज उठाना खाली वार होता है। वह केवल साम्प्रदायिक कट्टरता एवं दंगों का शिकार होने का आदी हो जाता है। खासकर जिस जगह में हिन्दू-मुसलमानों की संख्या अधिक हो। आवां उपन्यास में लेखिका हैदराबाद शहर के बारे में लिखती हैं पुराने शहर में किसी भी क्षण साम्प्रदायिक दंगा हो सकता है। यह

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 64
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 249
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 234

आज की वास्तविकता है। नमिता सोचती है – "अचानक शाम चार बजे खबर आई। शाहजाह में हो रहे हिदंस्तान-पाकिस्तान के मैच में हार-जीत के फैसले को लेकर दो समुदायों के सटोरियों के बीच हुए आपसी झगड़ने ने साम्प्रदायिक तनाव का रूप ग्रहण कर लिया। कर्फ्यू घोषित होने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। बेहतर होगा कि पुराने शहर के दूसरी ओर के बाशिंदे जितनी जल्द हो सके, घर की ओर निकल लें।"[1] गीतांजलि श्री भी साम्प्रदायिकता के कारण किस प्रकार आये दिन शहर में दंगे हो रहे हैं और जिसका कभी अंत संभव नहीं है – फिर दंगे होते, फिर कर्फ्यू लगता, फिर जरा ढील दी जाती। फिर हम सर्वधर्म सभा और शांति मार्च करते।

पुलिस की कतार के बीच हम वही-वही लोग फिर झंडों पर शांति के पैगाम उठाए चल रहे हैं। एक दूसरे को देखकर अजीब तरह से बगलें झांक रहे हैं, क्यांकि खिड़कियों से झाँकते लोगों की आँखों में मूक तिरस्कार है, क्योंकि खुद हमें लग रहा है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। सब बेमाने हैं।

आधुनिक समाज में यही सच्चाई है। इस साम्प्रदायिकता को जड़ से मिटाना असंभव लगता है और इसे ही साधारण जन अपनी नियति मानने लगा है।

2.1.3 आतंकवाद

यह समस्या मुख्य रूप से बीसवीं सदी में ही उभर कर सामने आयी। इससे अभिप्राय यह है कि किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए जनता को अपना शिकार बनाकर उनमें आतंक या भय फैलाना। सामाजिक विसंगति का ही परिणाम है आतंकवाद। जब लोगों में किसी कारणवश चाहे वह आर्थिक, सामाजिक या धार्मिक कारण की वजह से असमानता हो तब लोगों में अशांति, विद्रोह, हिंसा भाव उत्पन्न होते हैं और तब वह अपना अधिकार माँग के नहीं छीनकर लेने का पक्षधर होता है। इसके लिए वह साधारण जनता का अपना निशाना बनाकर सरकार के सामने अपनी माँग प्रस्तुत करता है। जरूरत पड़ने पर जान लेने के लिए भी आतंकवादी पीछे हटते नहीं हैं। धार्मिक कट्टरता मुख्य रूप से आतंकवाद के लिए उत्तरदायी है। धर्म के नाम पर लोगों में गलतफहमियाँ फैलायी जा रही है।

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 527

आधुनिक समाज में औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण आतंकवाद को शह मिली है। धीरे-धीरे यह फैलता हुआ समग्र विश्व को अपने कब्जे में ले रहा है। बंदूक तथा बम का डर दिखाकर आतंकवादी अपनी बात मनवा लेते हैं। सरकार आज आतंकवादी रूप राक्षस से सबसे अधिक भयभीत है। आज यह एक अंतर्जातीय समस्या बन गयी है। दिन-ब-दिन यह आतंकवादी अधिक सशकत बनते जा रहे हैं। यहाँ तक कि राजनेता भी इन्हें अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं।

मनमोहन सहगल का उपन्यास 'नरमेघ' में आतंकवाद समस्या को उजागर किया गया है। लेखक ने मुख्य रूप से संवेदनशील कश्मीर प्रसंग को उठाया है और वहाँ पर मुख्य रूप से क्षेत्रवाद तथा धार्मिक कट्टरता जिस प्रकार आतंकवाद को बढ़ावा दिया उसका मार्मिक चित्रण किया है। नरेन्द्र संवाददाता से कहता है – "सीने में घाटी का दर्द छिपाए श्रीनगर से चंडीगढ़ तक की यात्रा के दौरान आंतक की एक काली छाया हम पर छायी रही और हमें अभी भी ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कोई हथियारबंद युवक यही कहीं छिपा हमारी बात सुन रहा होगा और आपके इधर-उधर होते ही ए.के. 47 की गोलियों की एक बौछार हम पर गाज बनकर गिरेगी। हमने जिस आतंक को भोगा और जिया है वह हमारी आँखों से झाँकता है। कंपित वाणी से झलकता है, शरीर के घायल अंगों से रिसता है। क्या फिर भी आप स्वयं उसे शब्दों में ढालने में असमर्थ हैं?''[1] श्रीनगर में आतंकवाद से त्रस्त लोग श्रीनगर छोड़कर चंडीगढ़ में शरणार्थी के रूप में जीवन बिता रहे हैं। जीवन बचाने के लिए उन्हें अपना घर छोड़कर भाग जाना पड़ा। कश्मीर में विशेषकर साम्प्रदायिकता के कारण ही आतंकवाद कहर ढा रहा है। वहाँ से हिन्दुओं को खदेड़ने के लिए आतंकवाद का सहारा लिया जाता रहा है। लेखक लिखते हैं – "युवक नरेन्द्र अपने परिवार में आतंकवादी गोलियों से बचे एक मात्र वृद्ध चाचा के साथ ही चंडीगढ़ कैम्प में पहुँचा था।"[2] नरेन्द्र का संपूर्ण परिवार आतंकवादियों के हाथों तबाह हो गया। जब उसके घर पर आतंकवादियों ने हमला किया तब वह घर में उपस्थित नहीं था इसलिए वह अपना प्राण बचाने में समर्थ हुआ नहीं तो अपने माता,पिता, बहन, भाई के साथ आतंकवादियों ने उसे भी मौत के घाट उतार

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 1

[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 1

देते। नरेन्द्र के परिवार के साथ क्या हुआ कोई उसे बता रहा था कि – "रात नौ-दस बजे आतंकवादियों ने घर पर आक्रमण किया। अंधाधुंध गोलियाँ चलाते रहे और जाते हुए आग लगाने वाला बम फेंककर भाग गए। मालूम नहीं भीतर कितने लोग गोली से मर गये या आग में झुलस गये। आग बुझने पर ही पता चलेगा।"[1] पुन: लेखक का कथन है – "चारों तरफ राक्षसी राज्य था। निर्दोष लोगों की हत्या और लूटपाट चल रही थी। राज्य में सुरक्षा नाम की चीज कहीं नहीं थी। सरकार और सुरक्षा बल तो जैसे अलगाववादी शक्तियों के सामने परास्त हो गए थे।"[2]

भूमंडलीकरण के इस दौर में दूरी मिटने लगी है। फलस्वरूप विदेशी ताकत अपने स्वार्थ सिद्धि करने के लिए नये-नये हथकंडे अपनाने लगे हैं। अपने देश में बैठकर दुनिया के किसी भी कोने में आतंकवाद को फैला सकते हैं। एक बटन दबाकर संपूर्ण देश को उड़ा सकते हैं। इतिहास में भी ऐसे अनेक उदहारण हमें देखने को मिलते हैं। कश्मीर प्रसंग भी विदेशी ताकतों की अलगाववादी चिंताधारा का ही परिणाम है। मनमोहन सहगल इसका जिक्र करते हैं – "''आज अत्याचार बलिदान से नहीं धुलता, आज की माँग तो अत्याचारी के दाँत खट्टे करने की है। इस अत्याचार की जड़ें आंतरिक व्यवस्था में नहीं, विदेशी धरती पर रोपी गई है। उन्हें वहाँ से उखाड़ना वर्तमान स्थिति का इलाज कहा जा सकता है।"[3] आतंकवादियों का उद्देश्य हमेशा हिंसात्मह ही होता है। समाज में अनैतिक तथा हिंसात्मक तरीके से दहशत फैलाकर स्वार्थ सिद्ध करना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है। धर्म तथा अन्य कारण इनके लिए केवल बहाना मात्र हैं। क्योंकि किसी भी धर्म ग्रंथ में आतंकवाद को न्यायसंगत नहीं माना गया है। कोई भी संप्रदाय हो अल्ला हो या भगवान हो या क्राइस्ट हो किसी ने भी शोषण तथा अत्याचार के आधार पर धर्म फैलाने की इजाजत नहीं देता है। परन्तु लोग इस बात से अनभिज्ञ रहकर अलगाव भाव तथा साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दे रहे हैं और आगे चलकर यह विकृत मानसिकता ही आतंकवादियों को जन्म दे रहा है। समाज में व्याप्त असमानता के कारण लोगों में हीनमन्यता, अभाव, हताशा उत्पन्न होती है। इसके लिए सामाजिक व्यवस्था से भी अधिक दायी हमारी शासन व्रूवस्था है

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 2
[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 2
[3] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 4

जो कभी भी इस खाई को भरने के लिए कार्य नहीं करती। कश्मीर के प्रति तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू का उदायीनता ही आज वहाँ चली अराजकता को शह दे रही है। नरेन्द्र के चाचा शंपा से कहते हैं – "पंडित नेहरू तो कश्मीर का भला करने की सोचते-सोचते उसे एक ऐसे अंधे कुएँ में गिराते जा रहे थे, जहाँ आने वाली शताब्दियों तक रोशनी की किरण के पहुँचने की संभावना नहीं रही। कश्मीर के मामले में वे भूल-दर-भूल कर रहे थे। उनकी भूलों के बीज अब जम चुके हैं और फसल हमें काटनी पड़ रही है – अपना रक्त देकर, अपने घर-वार लुटाकर, अपनी बहू-बेटियों की इज्जत गंवाकर और अपने राज्य को अपना करने का अधिकार खोकर।"[1] देश की इस उदासीनता का लाभ पाकिस्तान ने उठाया और आतंकवादी कार्यकलाप से कश्मीर को हथियाने का प्रयास आज तक जारी रखा है। रहमत असलम से कहता है – "हमारा हम-मजहब मुल्क पाकिस्तान हमारा खैरख्वाह है। वहाँ शहादत के लिए तैयार नौजवानों को तरबीयत दी जाती है, हथियार दिए जाते हैं, धन-दौलत, हुसन-जवानी की कोई कमी नहीं। हदों के पार जिंदगी और आजादी तुम्हारी इंतजार में है – जब वापस आओगे, तो लोग तुम्हार इस्तिकबाल करेंगे, तुम्हारा सलाम बजायेंगे और तुमसे डरेंगे। काफिर सिपाही तो तुम्हारे हाथ में आग बरसाने वाली ताकत देखकर ही दुम दबाकर भाग लेंगे। तब कश्मीर आजाद होगा, तुमहारी हुकूमत होगी कश्मीर पर1''[2] इस कथोपकथन में पैसों का लोभ दिखाकर, मजहब की दुहाई देकर रहमत मासूम तथा असहाय असलम को आतंकवादी बनाने के लिए फुसला रहा है। असलम जैसे अनेक गरीब, अनपढ़ युवकों को लेकर उनका ब्रेनवाश करवाकर पाकिस्तानी इन्हें आतंकवादी बना रहे हैं। लेखक कहते हैं – "बम्बई की मिल में एक हजार रुपये मासिक कमाने का सपना लेने वाले नौजवान पाकिस्तानी फौज की कैद में ब्रेन वाश और हथियारों की ट्रेनिंग के लिए प्रशिक्षण शिविर में भिजवा दिए गए।"[3] आबिद उर्फ बनवारी कहता है – "हमने अभी तक पंजाब के 2795 नौजवानों और कश्मीर के 1978 नौजवानों को हथियार चलाने और तोड़-फोड़ की तरबीयत दी है। यह तो आप जानते ही हैं कि इस्लामाबाद के अलावा हमारे ट्रेनिंग कैम्प पाकिस्तान के कई शहरों में हैं। हमारी कोशिश रही है

---

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 16
[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 60-61
[3] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 67

कि हम हर नौजवान में हिन्द के खिलाफ ज्यादा से ज्यादा नफरत का माद्दा पैदा करें।"[1] इस कथोपकथन से आतंकवाद की भयावहता से अवगत हो सकते हैं। पाकिस्तानी द्वारा फैलाये गये कार्यकलाप से भारत आज बेसहारा सा हो गया है और खुद राजनेता तथा देश के बड़े-बड़े लोग भी इन आतंकवादियों का शिकार बन रहे हैं। क्योंकि आतंकवाद का मुख्य निशाना सत्ता ही होता है और सत्ता को अपना बाहुबल, अस्त्र बल दिखाने के लिए वे साधारण जनता की बलि चढ़ाते रहते हैं। आतंकवादी गतिविधियों का पाकिस्तान किस प्रकार अपने घर बैठे हुक्मनामे भेजता है उसके बारे में लेखक मनमोहन सहगल लिखते हैं – "हिंदुस्तान जाने के बाद भी उन्हें हुक्मनामे यहीं से भेजे जाते हैं। हम उन्हें हिन्दुस्तान के खास-खास अफसरों, लीउरों और सूझबूझ वाले लोगों की लिस्टें देते हैं, ताकि वो मौका पाकर उनका कत्ल करते रहें। हिन्दुस्तानी पुलिस और फौजियों के पास भी ऐसे आला हथियार नहीं, जो हम उन्हें देते हैं, तभी अमूमन वो लोग कत्ल के बाद अपनी छिपने की जगह महफूज पहुँच जाते हैं, रास्ते में कोई उन्हें रोकने-टोकने की हिम्मत नहीं करता।"[2]

आतंकवाद की दहशत से आज संपूर्ण विश्व त्रस्त है और दिन-प्रतिदिन आधुनिक ज्ञान-कौशल से यह इतना सशक्त हो रहे हैं कि इनसे निबटना एक चुनौती है। गीतांजलि श्री भी आतंकवादी समस्या का चित्रण करती है। धर्म को पाखंड तथा रूढ़िवादी करार देकर दिलों में कड़वाहट भरे जा रहे हैं। सत्ताधीन आम जनता के सुख तथा सुरक्षा को अनदेखा कर रहे हैं। वे खुद ही अपना धर्म (समाज सेवा) सुचारू रूप से नहीं निभा रहे हैं। नरेन्द्र मोहन कहते हैं – "जिस धर्म में समाज की रूढ़ियों को तोड़ने की शक्ति न हो, वह धर्म नहीं हो सकता, भले ही उसे कोई धर्म कहता रहे और धर्म का नाम देता रहे।"[3] जिस धर्म के माध्यम से भिन्न-भिन्न संप्रदायों को आपस में लड़ाया जा रहा है यह भ्रामक है, पाखंड है, अन्याय है। अत: इस अधार्मिकता का परिणाम आतंकवाद तथा साम्प्रदायिक दंगे ही हो सकते हैं। हनीफ कहता है – "टेरोरिज्म पर तो ढील नहीं, लेकिन जिनके इशारों पर दंगे हो रहे हैं, बड़े लोग, जो सारी गंदगी करते हैं, जिनके नाम सब जानते हैं, उनमें से एक को भी पकड़ पाए? वे जानते हैं,

---

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 70

[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 71

[3] धर्म और साम्प्रदायिकता - नरेन्द्र मोहन, पृ.सं. 107

उन्हें कोई नहीं पकड़ेगा। टैरोरिस्ट को यह कॉन्फीडेंस है?''[1] शासन तंत्र में बैठे लोग सत्ता का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं जिसका भुगतान आम जनता को करना पड़ता है। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "लोग कहने लगे थे कि डैमोक्रेसी का बड़ा उल्टा-सीधा इस्तेमाल होता रहा है यहाँ। अराजकता फैलाने का हथियार बन गया है वह। हक के नाम पर ढिठाई बढ़ती जा रही है। अपनी स्वार्थ सिद्धि हो रही है। और वफादारी? वफादारी का तो नामोनिशन नहीं रहा।"[2]

देश में साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद का जो फैलाव हुआ है और दिन-ब-दिन जिस प्रकार बढ़ता जा रहा है सत्ता द्वारा धर्म का गलत इस्तेमाल और समाज के प्रति बेईमानी का परिणाम मात्र है।

2.2 अर्थ

अर्थ को अपने महत्व के कारण पुरुषार्थ माना गया है। व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिए अर्थ को अत्यंत आवश्यक माना गया है। समस्त भौतिक सुखों की प्राप्ति अर्थ के बिना असंभव है। आदिम काल से ही अर्थ के महत्व को स्वीकार किया गया है। वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा कहते हैं – "अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में इसलिए स्वीकार किया गया है क्योंकि भारतीय संस्कृति में धर्म व मोक्ष का आदर्श सदैव रहा है लेकिन धार्मिक कृत्य भी बिना अर्थ के संभव नहीं है साथ ही सांसारिक दायित्वों को निभाने के लिए भी धन आवश्यक है। यज्ञों की पूर्ति, अतिथियों की सेवा, बच्चों का भरण-पोषण आदि बिना अर्थ के संभव नहीं है।"[3] हमारे प्राचीन शास्त्रों में भी अर्थ के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। समाज में मनुष्य की स्थिति अर्थ के आधार पर तय की जाती है। अर्थ के कारण ही कोई व्यक्ति धनी या गरीब कहलाता है। बिना अर्थ के जीवन की गाड़ी चल नहीं पाती है। लेकिन हमेशा इस बात पर ध्यान दिया गया है कि धन हमेशा ईमानदारी से अर्जन करना ही संगत है। गलत उपाय से अर्जन किया गया अर्थ कभी ग्राह्य नहीं होता है। अर्थ के महत्व के कारण ही कोटिल्य का 'अर्थशास्त्र' आज भी मानक है। शास्त्रों में अर्थ उपार्जन के संगत उपाय पर बल दिया

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 283
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 91
[3] भारतीय सामाजिक संस्थाएँ - वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ.सं. 13

गया है। अत: अपने कर्तव्यों को सुचारू रूप से पालन करने के लिए अर्थ अतिआवश्यक है यही वास्तविकता है।

2.2.1 अर्थ प्राप्त करने के विसंगत साधन

बीसवीं शताब्दी में समाज में मुख्य रूप से पूंजीवाद का प्रचार-प्रसार हुआ। हर वस्तु का मापदंड पूंजी या अर्थ ही बन गया। पूंजीवाद ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया, जिससे सुख की अवधारणा बदलने लगी और इस स्थिति में 'सुख' उसी को ही प्राप्त होगा जो उपभोग कर पायेगा और उपभोग करने के लिए धन की आवश्यकता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने अंतहीन उपभोग पर बल दिया। नतीजा यह हुआ कि इस प्रकार के उपभोग के लिए अर्थ का प्राचुर्य होना अनिवार्य बन गया। विडम्बना यह है कि इस लौ में वर्ग के लोग जलने लगे। दिन-प्रतिदिन नयी-नयी सामग्री से बाजार भरी पड़ी है जो मनुष्य को लुभाने का भरपूर प्रयास करता है। अत: ऐसे अनगिनत असीम सामग्रियों की प्राप्ति के लिए अनगिनत, असीम धन भी चाहिए जिसे ईमानदारी से कमाना कठिन व्यापार है। इसलिए अपनी उपभोग लालसा को शांत करने के लिए अन्याय का रास्ता अपनाने के लिए बाध्य हो जाता है। आधुनिकीकरण के छद्म आकर्षण में वह अपनी जीवन शैली तथा विचार शैली बदलने के लिए तत्पर हो उठता है। गरीब दिवास्वप्न देखने लगता है और अमीर चाँद में पहुँचना चाहता है। इस लालसा की पूर्ति के लिए चोरी, घूसखोरी, नग्न प्रदर्शन आदि अनेक विसंगत उपाय में धन अर्जन करना चाहता है। और इसके परिणाम के बारे में बिना सोचे वह धन अर्जन करने लगता है और एक दिन उसे इसका परिणाम भोगना पड़ता है।

आधुनिक समाज में अर्थ ही सब कुछ है। रिश्तों से अधिक धन को महत्व दिया जाने लगा है। इसलिए अर्थ समस्त दु:खों का कारण बन गया है। अत्यधिक धन की चाह में मनुष्य में कुंठा, निराशा, असुरक्षा, क्रोध आदि गुण विकसित होते हैं जो उसे सुखमय जीवन से वंचित करते हैं। विसंगत उपाय से अर्जित किये गये धन वस्तु सुख दे सकते हैं मगर मानसिक सुख देने में अक्षम होता है। भोगवादी तथा प्रदर्शनवादी समाज में उसका दम घुटने लगता है। जिस दलदल में मनुष्य फँस गया है उससे बाहर

निकलना उतना आसान नहीं है। नकली जीवन जीने के लिए नकली उपाय से धन उपार्जन की आधुनिक समाज की सच्चाई है।

2.2.2 माफिया

उपभोक्तावादी समाज में रातों-रात करोड़ों कमाने के चक्कर में अनेक अपराध का रास्ता अपनाते हैं। अपहरण, लूट-पाट, मादक द्रव्य का व्यवसाय, बलात्कार और आज महानगरीय जीवन शैली का अंग बनता जा रहा है। कम समय में अत्यधिक अर्थ उपार्जन की लालसा लोगों को पथ भ्रष्ट कर रही है। मनुष्य की आँखों पर स्वार्थ का परदा इस प्रकार चढ़ गया है कि उसे और कुछ नहीं दिखाई दे रहा है। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए वह किसी की जान भी ले सकता है। पूंजीवादी समाज में मनुष्य पैसा उत्पन्न करने वाली मशीन बनता जा रहा है। उसमें जितनी चाभी भरी जाती है वह उतना ही कार्य करता है। पैसा कमाने के मोह में वह बुद्धि, विवेकहीन हो गया है। अत: वह कोई भी असामाजिक कार्य करके धन उपार्जन कर खुद को धनिक श्रेणी में नामित करना चाहता है।

महानगर में अनेक अपराधों में से माफिया एक है। यह शब्द बीसवीं सदी में ही गढ़ा गया है। यह आज महानगर में अच्छा-खास व्यवसाय बनता जा रहा है। जिसमें पैसा की खातिर लोगों से कुछ भी कराया जाता है। इस माफिया वर्ग का मुख्य कोई धनी व्यक्ति तथा शहर का जाना-माना व्यक्ति होता है जिसके इशारे पर गरीब तथा अनपढ़ जो इसे अपना पेशा बनाया होता है वह कुछ भी करने के लिए तैयार रहता है। पूंजीवाद का आधार ही शोषण पर दण्डायमान है। बदलते परिवेश में अत्यधिक आर्थिक विसंगति के फलस्वरूप मनुष्य अपराध करने लगता है। 'माफिया' व्यवसाय मेंएक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति को मारने के लिए सुपारी देता है परन्तु हत्या मुख्यत: गरीब के हाथों ही करवायी जाती है जिसके पास और कोई रास्ता नहीं बच पाता है। सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में माफिया के घिनौने कार्यकलाप पर दृष्टि दौड़ायी गयी है। महानगरीय पृष्ठभूमि में रचे गये इस उपन्यास में महानगर की सच्चाइयों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने का सफल प्रयास हुआ है। गाँव का अनपढ़ लड़का भोला जब मुम्बई आता है उसके सामने जीवन गुजारने के लिए कोई रास्ता नहीं था। अत: उसे अंडर वर्ल्ड या माफिया में शामिल होना पड़ता है। असल में पूंजीपति ऐसा ही मौका ढूँढते हैं। किसी

गरीब को अपने अपराध के जाल में फाँसने के लिए। जब कोई बेसहारा होता है हताशा होता है, दो वक्त की रोटी भी उसे नसीब नहीं होती है तब यह शोषक वर्ग उन्हें बड़े-बड़े सपने दिखाकर असामाजिक कार्य करने के लिए मजबूर कर देते हैं और उन्हें अपना पालतू कुत्ता बना देते हैं। फिर जानलेवा इस व्यवसाय में पूंजीपतियों के इशारे में नाचने के लिए यह असहाय गरीब कटिबद्ध हो जाते हैं।

आज व्यस्तापूर्ण जीवन शैली में लोगों को दूसरे के बारे में सोचने के लिए समय नहीं होता है। इस अजनबीपन के चलते महानगर इन माफिया को पनपने के लिए शह देता है। सुरेन्द्र वर्मा लिखते हैं – "माफिया के पनपने और एकछत्र सत्ताधारी बनने के लिए सबसे उपयुक्त महानगर यही है। यहाँ से आधी रात के बाद एक सुदूर उपनगरों को जाने वाली लोकल गाड़ियाँ हैं, देश के सब प्रमुख नगरों को जोड़ने वाली रेल सेवाएँ हैं, अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डा और बंदरगाह है, लंबा सागर तट है, जिसकी निगाह बंदी मुमकिन नहीं। नागरिक कानून के पाबंद और होनी-अनहोनी से तटस्थ, अपने काम से काम रखने वाले हैं। ऐसी मनोवृत्ति माफिया का सुरक्षा कवच है।"[1] महानगर की आपाधापी का लाभ उठाते हुए माफिया व्यापार फलता-फूलता जा रहा है। भोला जिस माफिया संगठन से जुड़ा था वह एक कड़ी बनकर महानगर में अपराध को अंजाम दे रहे हैं। भोला को यह बात धीरे-धीरे पता लगने लगती है। वह कहता है – "वास्तविक स्वामी पिंक हाउस में रहने वाले नूर भाई थे। उनके पुराने सहयोगी शकूर भाई नंबर दो थे। इलियास युवराज था मुर्तजा प्रमुख सिपहसालार। इलियास से छोटा इम्तियाज, जो गफूर का अंतरंग था।"[2] इस प्रकार समस्त महानगर में इन माफियाओं का एक संजाल फैला हुआ था और दिन-ब-दिन भोला जैसे अनेक युवक इस असामाजिक पेशा को अपनाकर समाज में गंदगी तथा दहशत फैला रहे हैं। भोला इस आशा से मुम्बई आया था कि उसे बस एक लाख रुपया कमाकर अपने गाँव लौट जाना था, मगर बेचारा भोला भाला सीधा आदमी अपराध के महासागर में डूबता चला गया जो कभी सुरा नारी से कोसों दूर रहता था वही भोला आज लोगों की हत्या करने लगा था। विभिन्न काला धंधा में फँसकर अपने जीवन को अंधकार के गर्त में झोंकता जा रहा था। वह चाहकर भी माफियाओं

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 159

[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 52

के चंगुल से मुक्त नहीं हो पा रहा है और इसके परिणाम से अवगत था – "टैक्सी वाले को वह झाँसा दे सकता है। पर जानता है इन लोगों के हाथ बहुत लम्बे हैं। ऐसे धोखे की इनकी दुनिया में एक ही सजा है। सुना है, उस्मान को यही सजा मिली थी। हाजी मंलग की दरगाह में माथा टेकने के बाद उसे गोलियों से छेद दिया गया था।"[1]

माफिया संगठन महानगरों में इतना शक्तिशाली है कि संपूर्ण शासन व्यवस्था इनके तलबे चाटते हैं। नगर में आासानी से अपना काम करने की उँची कीमत पर सरकारी कर्मचारियों को माफिया खरीद लेता है। भोला का यह कथन चकित करने वाला है – "पैसे की शक्ति किसी भी व्यवस्था में सेंध लगा सकती है। वह धीरे-धीरे समझ रहा था। पुलिस के कामथ कस्टम के डिसूजा, एक्साइज के रंगनाथन, कार्पोरेशन के कर्णोक नारकोटिक्स के घाटगे – सबको देख लिया था। नये साल में सबके यहाँ उपहार पहुँचाने गया था – रंगीन टी.वी., वी.सी.आर., सिलाई मशीन, मोटर साइकिल, कमीज और सूट का कपड़ा, साड़ियाँ, स्कॉच की बोतल।"[2] दु:ख की बात यह है कि चँद सरकारी कर्मचारियों की बेइमानी तथा धांधली के कारण शहर में माफिया का काला धंधा अपना जड़ मजबूत करता जा रहा है। बेजोड़ धन कमाने की लालसा में संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था चरमराने लगी है। इन माफियाओं की पहुँच देश-विदेश हर जगह होती है। मादक द्रव्य, सोना-चाँदी की आमदनी के असामाजिक तरीके से प्रचुर धन कमाना इनका लक्ष्य होता है और यह जानते हैं कि यह जोखिम भरा कार्य है और किसी भी क्षण उनकी जान जा सकती है फिर भी इससे उबरने का रास्ता बंद दिखाई पड़ता है। गफूर भोला से कहता है – "हर दिन हमारी जिंदगी का आखिरी दिन हो सकता है1 मौज-मस्ती नहीं करेंगे, तो जिएंगे कैसे?"[3] भोला अपराध की इस दुनिया के बारे में सब कुछ जानकर भी इससे छुटकारा नहीं पा रहा था। नील से वह पश्चाताप करता हुआ कहता है – "मैंने कैसे-कैसे अपराध किए हैं और उनके कैसे-कैसे नतीजे निकले हैं। मैं गफूर का भागीदार था, जब यूनियन नेता को ठिकाने लगाया गया। उसके घर में फाकों की नौबत आ गई। उसकी जोरू ने दो बच्चों के साथ कीड़े मारने की दवा पीकर दुनिया छोड़ दी। जवान ननद भी

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 54
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 68-69
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 115

इस समझौते में शामिल थी, पर नसीब की मार, वह बच गई .....अभी सुना, वह रातरानी में नंगे नाच की नौकरी पर लग गई है – शालू की जगह। ....एक ईमानदार आदमी का हँसता-खेलता कुटुम्ब हमारे हाथों उजड़ गया। उसकी आह नहीं लगेगी क्या?''[1] भोला सबसे अधिक टूट जाता है जब उसका माफिया संगठन उसके ही परम मित्र नील की हत्या के लिए सुपारी लेता है और भोला को इस तथ्य से बेखबर रखके नील की हत्या कर दी जाती है। भोला के पूछने पर मुर्तजा कहता है – "पर ऐसे आदमी की सुपारी आई कि इनकार नहीं कर सका। ....और कर भी देता, तो उसे बचा लेता क्या? यहाँ पाँच सौ रुपए में कातिल मिल जाता है।"[2] महानगर की यही सच्चाई है कि यहाँ पर रिश्तों से अधिक अहमियत पैसा को दिया जता है और माफिया जगत कोई किसी का सगा नहीं होता है। चित्रा मुद्गल ने 'आवां' उपन्यास में संक्षेप में ही सही महानगर में व्याप्त इस माफिया की दहशत का चित्रण करती है – "भरी दोपहरी कुहराम मच गया लोखंडवाला कांप्लेक्स की गगनचुंबी इमारत 'अग्रदूत' में। अरूण गवली और छोटा राजन के गिरोह में जमकर मुठभेड़ हुई। गवली के दो साथी मुठभेड़ में दम तोड़ बैठे। सीढ़ियाँ खून से लथपथ हो उठीं। 'अग्रदूत' के ही नहीं अगल-बगल की 'अभिषेक' और 'नूतन अभिषेक' इमारतों के रहवासी भी अपने-अपने घरों में सांसे रोके हुए गोलियों की बौछारों की तड़तड़ाहट सुनते रहे।"[3] लेखिका यहाँ पर भी मुम्बई महानगर की ही बात कहती हैं। 'अपनी सलीबें' उपन्यास में नमिता सिंह भी माफिया के गिरोह के बारे में चर्चा करती है जिसके पीछे ईमानदार ऑफिसर ईशु हाथ धोकर पड़ गया था। वे लिखती हैं – "बनारस के अफीम तस्कारों के गिरोह के पीछे वह हाथ धोकर पड़ गया था। इन तस्करों के माफिया के लोग पिछले वर्ष आपसी गुटबाजी की लड़ाई में ऐसे उलझे कि उन्होंने शहर में साम्प्रदायिक दंगे कराने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। बेकसूर लोग दंगे में मारे गए और साथ ही शहर में साम्प्रदायिक माहौल को बढ़ावा मिला।"[4] लेकिन इन्हें समाज से उखाड़ना उतना आसान नहीं है। इन्हें देश के बड़े-बड़े राजनेता तथा पूंजीपतियों की शह मिलता है जिनकी छत्रछाया में माफिया दिन-ब-दिन समृद्ध बनता जा रहा है। लेखिका लिखती हैं – "लोगों का कहना था कि उस माफिया को

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 156
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 159
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 46
[4] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 223

प्रदेश के गृह मंत्री की शह थी। पुलिस कप्तान अपने काम में निपुण थे और साथ ही दुनियादारी में भी निपुण थे। हालात को देखते हुए उन्होंने लंबी छुट्टी लेकर वहाँ से पलायन करना ही उचित समझा।"[1]

असलियत यह है कि जब इन माफियाओं को बड़े लोगों का सहारा मिलता है तब इन्हें पकड़ पाना पुलिस के लिए असंभव बन जाता है। इसलिए पुलिस भी इस कार्य से बचना चाहती है मगर ईशु जैसे ईमानदार ऑफिसर जो समाज को इन तस्करों से छुटकारा देना चाहते हैं तब उन्हें अपनी जान की बलि चढ़ानी पड़ती है मगर समाज अपराध मुक्त नहीं हो पाता है। अर्थ केन्द्रित समाज की यही सच्चाई है।

2.2.3 घूसखोरी

अर्थ प्रधान समाज में धन को अत्यावश्यक माना गया है। अत: विभिन्न विसंगत उपाय से धन कमाना आज साधारण बात है। घूसखोरी भी अर्थ उपार्जन का विसंगत माध्यम है। मुख्य रूप से सरकारी तथा बेसरकारी कार्यालय में यह अत्यधिक मात्रा में चालू है। ट्रैफिक सिग्नल से आरंभ कर अदालत के कटघरे तक लोगों को इसका सामना करना पड़ता है। इसलिए अगर आप ईमानदार बनने की कोशिश करते हैं तब तो आपका काम होने से रहा। सरकारी दफ्तर में बिना घूस दिये आपकी फाइल टस से मस नहीं होने वाली। सरकारी काम में इन घूसखोरियों की मिलीभगत होती है। चपरासी से लेकर यहां के ऑफिसर तक सब अपना अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए रंच भर भी कुंठा नहीं करते हैं। वहीं दूसरी ओर लोगों ने भी अपने दिमाग में यह तय कर लिया है कि काम हासिल करना है तो घूस तो देना ही पड़ेगा। अन्यथा बरसों दौड़ते-दौड़ते अपना चप्पल घिसना पड़ेगा। इस सामाजिक विसंगति पर हमारे साहित्यकारों ने भी चर्चा की है।

मैत्रेयी पुष्पा ने 'चाक' उपन्यास में घूसखोरी का चित्रण किया है। गाँव के लोग भी इस भ्रष्टाचार से वंचित नहीं रह पाये हैं। गाँव में चेकड़म बनाने के लिए एक लाख की मंजूरी मिली है। उसमें भी गाँव प्रधान से लेकर किसान तक सभी को अपना हिस्सा चाहिए। फते सिंह को अपना हिस्सा न मिलने पर वह क्रोधित होकर विधायक तक जाने की धमकी देता है। फते सिंह बोलता है – "हमने ऐन

---

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 224

बखत पर पकड़ किए कान, कि बेटा वे जमाने न समझना जब पैंटवाला आदमी किसान को आसानी से उल्लू बना जाता था और वे बेचारे हाथ जोड़कर रह जाते थे। हम मामूली किसान भी नहीं, किसान-प्रधान हैं। तुझसे पाई-पाई हगवा लेंगे। पचासियों हजार हजम कर गए। अफसरों को तर कर हरे हो। हम क्या राँड के जमाई थे कि हमारा हिस्सा पी गए? पच्चीस हजार यहाँ धर जाओ, नहीं तो जाते हैं हम विधायक के पास। विधायक की धमकी पर काबू में आ गया। पहले एक अफसर से हमने डी.एम. का नाम लिया। सो बोला डी.एम. को पहले ही चढ़ा आए हैं हम। क्या करेगा डी.एम. हमारा?''[1] इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि शासन तंत्र में घूसखोरी एक प्रथा के रूप में चल पड़ी है। जो हर स्तर पर उपलब्ध है। इस उपन्यास में लेखिका ने यह दिखाया है कि कैसे पैसे के बल पर गवाह भी खरीद लिया जाता है और पापी बाइज्जत मुक्त हो जाता है। लोग घूस लेकर झूठी गवाह भी बन जाते हैं। जब रंजीत अपनी साली की हत्या के बाद पुलिस के पास रिपोर्ट लिखवाने जाता है तब पुलिस कहता है – "चलो, मैं मान भी लूँ कि आप सेंट परसेंट सही बोल रहे हैं, पर आप तो गाँव के रहने वाले हैं। अपने ही मुँह से बता दो, सच के पक्ष में कितने लोग गवाही देते हैं? इसका मुख्य कारण यह है कि पैसा तो उन्हें झूठे पक्ष से ही मिलेगा। यह बात हम भी खूब जानते हैं कि ये गवाह अपराधी को ही बचाने आए हैं, लेकिन हम करें भी क्या? कानून का जो रवैया चला आ रहा है उसी के बीच से ही तो गुजरना पड़ेगा।"[2] गाँव में हत्या हो जाने पर हत्यारा को जानते हुए भी कोई उसके खिलाफ गवाह देने के लिए मुँह नहीं खोलता है। पैसों के बल पर गवाहों को भी खरीद लिया जाता है। सारंग कहती है – "असल में वे पेशेवरगवाहों से लेकर दुर्जन-सज्जन सबके भीतर झाँक चुके होंगे और पाया होगा कि सज्न गवाह कर रहे हैं। पेशेवर ही काम आएँगे क्योंकि वे गवाही देते नहीं, बेचते हैं। संयोग तो देखो कि रेशम का खून होते भी देखा तो तोता की बहू ने। तोता ने पक्का मकान कैसे बनवा लिया है, रंजीत क्यों भूलते हैं यह कटु सत्य? बार-बार धर्म और धन को बराबर करके देखने लगते हैं। भाई धन धर्म से कई गुना भारी है – कलयुग में।"[3] बीसवीं सदी में धन के वर्चस्व में सब कुछ बिकाऊ हो गया था। अर्थ सबको बंदर नाच नचा रहा

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 283
[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 41
[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 41

है। कानून व्यवस्था में घूसखोरी के बारे में नमिता सिंह 'अपनी सलीबें' उपन्यास में चित्रण करती हैं नीलिमा के चाचा इन्द्रपाल सिंह एक ईमानदार वकील है, मगर समय क्रम में उनसे काफी कम उम्र का युवक ओमप्रकाश के आने के बाद उनका व्यवसाय घटने लगता है। फिर उन्हें पता चलता है ओमप्रकाश घूस लेकर मुजरिम की जमानत करता है। इसलिए उसके पास केस अधिक होता है। तभी इन्द्रपाल सिंह सोचते हैं कि – "मुवक्किलों को ऐसे वकील की तलाश रहती है जो पैसा खिलाकर ऐसे मुजरिम की जमानत करवा सके – जिसके सबके सामने किसी को गोली क्यों न मारी हो। लोग ऐसा वकील तलाशते हैं जो अदालत में बोलना न जानता हो लेकिन न्याय दिलाने वालों के हाथों में थैलियाँ थमा सके। कलम पकड़कर फैसला अपने हक में करवा सके। अब काबिलियत की, पढ़े-लिखे गुणी होने की ज्यादा जरूरत नहीं रह गई है।"[1] पूंजीवादी समाज में अच्छाई तथा न्याय का निशान धीरे-धीरे मिटता जा रहा है। लोग छल-बल तथा कौशल से बस अपनी जेब भरना चाहते हैं। अंतिम दशक में यह खुलेआम होने लगा है। इसलिए जो गरीब होता है वह भले ही ईमानदार क्यों न हो अगर वह घूस नहीं दे सकता तब वह निर्दोष होकर भी फाँसी के फंदे तक पहुँचने में देर नहीं लगती। दूसरी पक्ष में हत्यारा घूस देकर वाइज्जत बरी होकर पुन: हत्या करने के लिए छोड़ दिया जाता है। समाज में ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं बच गया है जहाँ घुस लेने-देने की कलुषित प्रक्रिया न चलती हो। शिक्षा जगत में जहाँ देश के भविष्य को नीति, मूल्य, ईमानदारी का पाठ पढ़ाया जाता है वहाँ पर भी घूसखोरी मूल्यहीनता उत्पन्न करती है। नौकरी पाने के लिए हो या पदोन्नति के लिए हो उँची रकम देना पड़ता है। नहीं तो आप जितने भी ज्ञानी, गुणी हों आपको पद मिलने से रहा। देवेश ठाकुर शिक्षा जगत में व्याप्त घुसखोरी का इस तरह पर्दाफाश करते हैं – "डॉ. जैन को रीडर के पद पर नियुक्त कर दिया गया था। इसके लिए डॉ. जेन को अपने गुरू और स्वामी डॉ. ओछेलाल तक को एक अच्छी खासी रकम देनी पड़ी थी। दक्षिण के विश्वविद्यालयों का प्रभाव महानगर विश्वविद्यालय तक फैलने लगा था। दक्षिण में विश्वविद्यालय का कोई भी पद बिना दान-दक्षिणा के नहीं भरा जाता, डॉ. ओछेलाल यह जानते थे। इसलिए उन्होंने भी एक्सपर्ट्स के पास जाने और उन्हें खुश करने के लिए अपने शिष्य डॉ. जैन से भी पंद्रह हजार ऐंठ

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 55

लिये।"[1] अर्थ प्रधान में लोगों को ऐसा लगता है कि कुछ पाने के लिए कुछ देना होता है। अत: बेहिचक घूस देकर कुर्सी हथियाने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती है। अध्यापक शीतांशु बोलते हैं – "अध्यक्ष और प्रोफेसर होने के लिए इंसान क्या नहीं करता। कौन नहीं करता। ओछेलाल ने बलराम शर्मा के घर दरभंगा में सोफा-सेट नहीं भिजवाया। वहाँ होटलों में ठहराकर मजे नहीं लुटवाये? अध्यक्ष और प्रोफेसर क्या, वाइस चांसलरी का सौदा नहीं होता क्या। इस बार देखना, पाँच लाख से कम में बात नहीं पटेगी।"[2] कॉलेज में दाखिला के लिए घूस देना पड़ता है। मगर उसे सभ्य भाषा में 'डोनेशन' कहकर सामान्य रूप से ग्रहण किया जाता है। बड़े-बड़े कॉलेजों में डोनेशन लेकर सीट बेचा-खरीदा जाता ाहै। बड़े घरों के लोगों में तो यह ट्रेंड चल पड़ी है। अध्यापक सोलंकी अध्यापक शीतांशु से कहते हैं – " आपके कॉलेज में भी, जो महानगर की नाक समझा जाता है, डोनेशन चल रहा है पिछले साल से। वह भी कैश। वह भी बिना रसीद के। वह भी टेबिल के नीचे। वह भी पंद्रह से पच्चीस हजार तक। आप देख लेना, शहर के अनेक प्रिंसिपलों के फ्लैट और बंगले बन जाएंगे दो तीन सालों में ही .....।"[3]

राजनीति क्षेत्र में घूसखोरी सबसे अधिक एवं मुक्त रूप से चलती है। वोट हथियाने के लिए राजनेता कुछ भी कर गुजरने के लिए तैयार रहते हैं। मैत्रेयी पुश्पा गाँव की राजनीति में घूसखोरी के बारे में लिखती हैं – "भँवर की अम्मा उससे बोलती है – मुसलमानों के वोट बटोरने के लिए यह रहिमन के महाचोर दामाद की जमानत रोहतक जाकर कराके लाया है। रहिमन के नाती का वजीफा बाँध दिया। तू बाबरी न होती तो ये बातें समझ लेती। उसके लिए को परोपकार नहीं, ब्याज और सूद के बराबर रखती।"[4] लेखिका लोगों की मानसिकता के बारे में यह लिखती हैं कि आज ऐसा समय आ गया जहाँ समाज के सभी वर्ग चाहे अमीर हों गरीब सभी बेइमानी के रास्ते से पैसा कमाने के पक्षधर हैं। उनमें यह समझ विकसित हो रही है कि अगर किसी को हम वोट दें तो क्यों दें अगर हमारा कोई लाभ न हो। गाँव से लेकर शहर तक सभी इसी मानसिकता के शिकार हैं। पैसे ऐंठने के लिए सब आज तत्पर हैं। रंजीत जब गाँव के लोग की भलाई के बारे में सोचता है तब फतेसिंह उससे कहता है – "जिस जनता के

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं.
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 78
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं.
[4] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 377

उद्धार की बात तुम सोच रहे हो, जिन बेघर-बेजमीन गरीबों को उठाने के लिए तुम कमर कसकर खड़े होना चाहते हो, वे ही लोग तुम्हें उठाने का मोल मांगेंगे, सबसे पहले। लो, कर लो कल्याण की बात। लाओ विकास! किसके लिए? उन्हीं के लिए, जिन्होंने तुम्हें अपना वोट मोल बेचा है रकम नहीं दोगे तो तुम्हारे नाम पर पेटी रीती जाएगी।"[1]

अंतिम दशक में घुसखोरी रूपी राक्षस समाज में गाँव से लेकर शहर, गरीब से लेकर अमीर हर स्तर पर फैला हुआ है। धन कमाने की असीम चाह में लोग अपनी ईमानदारी नैतिकता को घूस के रूप में अर्पण करके झोली भरते दिखाई पड़ते हैं।

2.2.4 सत्ता लोलुपता

राजनीति समाज का सबसे अधिक सशक्त तथा सक्रिय क्षेत्र है जो हर समय चर्चा के केन्द्र में रही। अंतिम दशक में राजनीति मुख्य रूप से मूल्यहीन तथा संवेदनहीन प्रतीत होती है। राजनीति पर समाज का विकास जैसा गुरू दायित्व न्यस्त है। मगर स्वतंत्रता के इतने वर्षों बाद भी देश की स्थिति में उतना इजाफा नहीं हो पाया है। इसका दोष हमारी भ्रष्ट राजनीति, स्वार्थपरक तथा सत्ता लोलुप राजनेताओं को ही जाता है। जिनका मकसद हमेशा से सत्ता हथियाके अपनी स्वार्थ सिद्धि करना ही होता है। राजनीति ने मनुष्य की सारी संवेदनाओं को अपने स्वार्थ के लिए पर्याप्त रूप से दोहन किया है जहाँ साधारण मनुष्य ही इनका कोपभाजन होता है। राजनीति आज इतनी कलुषित हो गयी है कि मानवीयता, समाज सेवा आदि के स्थान पर भ्रष्टाचार, हिंसा, सत्ता लोलुपता आदि कर प्रभुत्व हो गया है। सत्ता हथियाने के लिए राजनेता किसी भी हद तक जा सकते हैं। अंतिम दशक में राजनीति केवल सत्ता प्राप्त करने की आड़ में धन प्राप्त करने का शक्तिशाली माध्यम बन गया है। जनता के पैसे हथियाके ऊँचे-ऊँचे महल में ऐशो आराम के साथ रहना आधुनिक समाज में रीति बन गई है। साहित्य में हमेशा राजनीति की असलियत को उजागर करने का प्रयास किया गया है। उपन्यास मुख्य रूप से विस्तृत फलक पर उभरकर यह सामने आ पाया है।

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 282

'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल मजदूर आंदोलन के पीछे हुए सत्ता हथियाने की चाहत या दूषित राजनीति का चित्रण करती हैं। 'आवां' मजदूर संगठनों के अंतर्विरोधों के साथ-साथ समकालीन राजनीति की मूल्यहीनता को भी उजगार करता है। गरीब उत्थान, दलित उत्थान के नाम पर जो ढिंढोरा पिटा जाता है, वास्तव में वह कुर्सी हथियाने का अभिनव उपाय मात्र है। अन्ना साहब, पवार, शिवहरे सभी का स्वप्न सत्ता प्राप्त करना ही है। शिवहरे के बारे में अन्ना साहब कहते हैं – "सत्ता लोलुपता ने उसे पदच्युत कर दिया है। कुर्सी के लिए वह किसी से भी गठबंधन को राजी है, देवीशंकर! मुझे मालूम था। घुन कहीं भी हो, किसी के भी साथ हो अपना धर्म नहीं छोड़ता।"[1] शिवहरे कुरसी पाने के चक्कर में अन्ना साहब की बुराई अखबार में करता है और सबसे जघन्य कांड यह कहता है कि वह मजदूर बस्ती में खुद आग लगवा कर खुद राहत की सामग्री वितरण कर रातों रात उन गरीबों का मसीहा बन जाता है। केवल और सत्ता लोलुपता के कारण राजनीति का यह विकट, विकृत रूप वास्तव में दिल दहला देने वाला है। इन नेताओं के लिए गरीब का जीवन मूल्यहीन प्रतीत होता है। विमला बेन बताती है – "अंदर की खबर है कि बांद्रा पूर्व के बंद सिनेमाघर कलामंदिर की बगल की जिस झोपड़पट्टी में महीने भर पहले भरी दोपहरी को अचानक तबाही भरी आग लगी, वह आग, देवीशंकर, किसी मजदूरिन की झोपड़ी में फटे स्टोव से नहीं लगी थी। सर्वत्र सिद्ध और प्रचारित नहीं किया गया था। परदा डालने का असलियत पर।"[2] विमला बेन इस सत्यता को उजागर करते हुए कहती हैं कि – "आग लगी नहीं लगवाई गई थी शिवहरे के संकेत पर, नायकत्व का किरीट धारण करने को .... "[3]

मजदूर संगठन जिसका उदय कभी शोषितों के उद्धार एवं उत्थान के लिए हुआ था अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते उसमे भी पूंजीपति – सर्वहारा की स्थिति पुन: सर उठाने लगी। जहाँ इसका उद्देश्य कभी सत्ता विरोधी था। बदलते परिवेश में इसमें भी सत्ता लोलुपता की भावना प्रबल हुई है।

अन्ना साहब जो कामगार आघाड़ी के केन्द्रीय सचिव हैं, उनमें भी सत्ता लोलुपता की भावना दिखाई देती है। समाज सेवा तथा दलितोत्थान का मुखौटा पहनकर अन्ना साहब भी सत्ता हथियाने की

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 77

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 79

[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 80

कोशिश में रहते हैं। रुपये पैसे और जमीन जायदाद के मामले में भी वे विवादों से घिरे होते हैं। सिंधी मालकिन का मकान उनके द्वारा कब्जा लिए जाने की चर्चा आम है। इस तरह छल से अर्जित संपत्ति के बल पर वे अपनी बेटी को विदेश में पढ़ाते हैं। भले ही वे लोगों के सामने न्याय की प्रतिमूर्ति बनते हों मगर असलियत में वे यौन-विकृतियों के शिकार हैं। अपनी बेटी की उमर की नमिता के साथ भी वे दुराचार करके पश्चाताप नहीं करते हैं। कामगार आघाड़ी के दलित नेता पवार की शक्ति को चुनौती मानकर उसे रास्ते से हटाने के लिए नमिता के माध्यम से उसकी राह बंद करना चाहते हैं। पवार नमिता से कहता है – "अन्ना साहब की बातों से मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ। हालांकि मैं उस आदमी की रणनीति से अपरिचित नहीं। यह भी जानता हूँ कि उस रिक्त स्थान पर अचानक एक दिन तुम्हारी नियुक्ति अकारण नहीं थी। अन्ना साहब ने तुम्हें एक दावं की भांति इस्तेमाल करना चाहा मेरे खिलाफ।"[1] पवार के इस कथन से अन्ना साहब की सत्ता लोलुपता का आभास मिल रहा है। कुरसी पाने की चाह में उनमें चारित्रिक स्खलन के साथ-साथ वैचारिक स्खलन भी होता है। इसलिए समाज सेवा, दलित उत्थान आदि ढोंगबाजी ही हैं। वास्तव में अन्ना साहब की असलियत का खुलासा पवार इस तरह करता है – "सोद्देश्य अन्ना साहब ने श्रमिकों में चेतना पिरोने के बजाय उन्हें चेतना संपन्न, आत्मबली व्यक्तित्व के भरासे निर्भर बने रहने का पाठ अधिक पढ़ाया। क्यों? क्योंकि निर्भरता से मजदूर वर्ग की मुक्ति का अर्थ होगा, उनके मध्य अपनी अलौकिक छवि क्षीण करना।"[2] भले ही अन्ना की लड़ाई पूंजीपतियों के शोषण के विरोध में है। मगर इस कथन से साफ पता चलता है कि वे स्वयं एक पूंजीपति हैं जो सर्वहारा मजदूरों का शोषण एक अभिनव उपाय से करते हैं। वास्तव में अन्ना ा साहब जैसे नेता कभी यह नहीं चाहते हैं कि गरीब अपने पैरों पर खड़ा होकर विकास करे, बल्कि उनका मकसद यह होता है कि ये हमेशा ढोंगी नेताओं को अपना मसीहा मानकर उनकी दया पर जीवित रहे ताकि इन नेताओं का वर्चस्व ताउम्र बना रहे। राजनीति की वास्तविकता यही है। कल्याणमल लोढ़ा कहते हैं कि – "आवां एक जलती हुई भट्टी है। समाज में व्याप्त विसंगतियों की या यों कहूँ तो मानवीय जीवन की उन ज्ञात-अज्ञात विसंगतियों की जिन्हें आज हम प्रतयेक व्यक्ति के

---

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 77 156

[2] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 181

मुखौटे के अंदर देख सकते हैं। हम इस मुखौटे के भीतर झांककर देखने से पाते हैं कि हर एक पात्र का व्यक्तित्व इस आवरण को चीरकर ही देखा जा सकता है। चाहे वे अन्ना साहब हो या कोई और।”[1] अत: सारे ट्रेड यूनियन का आंदोलन उससे जड़ित ‘कामगार आघाड़ी’ का अंतर्विरोध, अन्ना साहब, शिवहरे, पवार आदि के स्वार्थपरता, सत्ता लोलुपता तत्कालीन समाज की यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। आत्मकेन्द्रित समाज में राजनीति भी विसंगतिपूर्ण साबित हुआ है। ‘आवां’ इसके सार्थक चित्र को प्रतिपादित करता है। राजनीतिज्ञों की रणनीति यह होती है कि वे कभी साधारण जनता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते हैं ताकि यह राजनेता अपनी नेतागिरी को बरकरार रख सकें। अन्ना साहब में भी यह गुण छलकता है। इसलिए वे तीस-पैंतीस वर्षों से श्रमिक राजनीति कर रहे हैं। पवार कहता है – “नमिता जी! बह गया पानी स्वयं अपने उद्गम की ओट नहीं पलटता, मगर उद्गम से उनका नाता नहीं टूटता। तीस-पैंतीस वर्षों से अन्ना साहब श्रमिक राजनीति कर रहे हैं चूना भट्टी से लेकर मुलुंड तक। बदल गई उनकी झोपड़ियाँ महलों में? मात्र सार्वजनिक नल और सार्वजनिक संडास हासिल करने के ....दस खोली के पीछे एक संडास और एक नल, तुमने नहीं देखा? जरूरतमंद की जरूरत बनाए रखने में ही उनके अस्तित्व की सुरक्षा है।”[2] अन्ना साहब यह भली भांति जानते हैं सत्ता में बने रहने के लिए कौन-सी रणनीति अपनानी चाहिए। इसलिए अन्ना साहब की अधिकांश नीतियों से पवार असहमत तथा विरोधी होने के बावजूद अन्ना साहब उसे सहते हैं क्योंकि पवार दलित वर्ग का है। दलित वर्ग के मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता है। पवार कहता है – “मुझे बढ़ावा देख वह दलितोत्थान के क्षेत्र की माला अपने गले मं पहन साबित करना चाहते हैं कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर के बाद दलितों को न्याय दिलाने वाले वे एकमात्र मसीहा हैं।”[3] अन्ना साहब जैसे भ्रष्ट राजनेता तथा शातिर राजनेता राजनीति के दांव पेंच को अच्छी तरह समझते हैं और उसका प्रयोग करते हैं। इसलिए पवार का यह कहना संगत प्रतीत होता है – जरूरी नहीं कि राजनीति सत्ता के गलियारे में स्वयं सत्ताधीश होकर शासन करे। किसी अनपढ़, मूर्ख, गंवार, गुंडे को भी वह राजगद्दी पर बैठा व्यवस्था की बागडोर

---

[1] वागार्थ - नवंबर 2000, पृ.सं. 101
[2] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 351
[3] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 347

अपने हाथों में रख उसे अपने संकेतों पर नचा सकता है। नियंता बन शासन करने के इस निराले अंदाज का सुख कम आह्लादकारी नहीं होता।"[1] यहाँ तक कि इस बात का समर्थन खुद पवार भी करता है जो अन्ना साहब को ढोंगी पाखंडी कहता है। असल में उसमें भी सत्ता की ललक दृश्यमान होती है। तभी तो वह यह कहता है कि दलितोत्थान हेतु स्वयं ऐसा ही नियंता बनना चाहता हूँ मैं – "संगठन प्रमुख! इस ताकत को गेहूँ में घुन सदृश पैठ अपनी बुद्धि-चातुर्य से हासिल किया है मैंने। रही-सही कसर हथियाने में वक्त नहीं लगेगा।"[2] अन्ना साहब से पवार इसलिए जुड़ता है कि वे सत्ताधीन होने के कारण इसकी मदद कर सकते हैं और जब वह स्वयं सशकत होकर अन्ना साहब का विरोधी बन जाएगा। वास्तव में पवार के इस उद्देश्य के पीछे केवल और केवल सत्ता लोलुपता ही विद्यमान है। यह राजनीति का घिनौना खेल है। पवार स्वयं नमिता के इस सत्य का उजागर करता है – "अन्ना साहब से क्यों जुड़ा मैं? सोचो! कोई अलग से संगठन खड़ा करना चाहता तो निश्चित ही पूरा जीवन होम हो जाता। आसान होता है किसी मजबूत संगठन में प्रवेश कर, जातीय साम्प्रदायिकता के बलबूते उनका महत्वपूर्ण धड़ा बन जाना। उसी संगठन में मोल-तोल की औकात पैदा कर लेना। उनके लिए चुनौती बन जाना। सुअवसर देख, पूरे धड़े के साथ विभाजित हो, स्वतंत्र पार्टी कायम कर लेना ......।"[3]

इस उपन्यास में देश की राजनीति पर प्रहार किया है। सत्ता लोलुपता के कारण राजनीतिज्ञ जनता को केवल अपना वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल करते हैं। अन्ना साहब जहाँ दलितों का मसीहा कहलाते हैं वहीं दूसरी ओर उनका सरोकार देश की राजनीति से होती है। पवार कहता है – "कामगार आघाड़ी में मेरे नकदीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो चुकी है। विमला बेन के लिए विधानसभा से लोकसभा का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं वे कांग्रेस पार्टी से टिकट दिलवाकर। स्पष्ट बात की है मुझसे आघाड़ी के दलित श्रमिक सदस्यों के वोट ही नहीं चाहिए, विमला बेन के हक में, ये तो उन्हें हासिल ही है। उनके परिवार वालों को भी चाहिए। उनके कुटुंबीजनों को भी।"[4] वास्तव में इन नेताओं को अपने वोटों की ही चिंता रहती है। इन्हें श्रमिकों के दु:ख-दर्द से कोई मतलब नहीं होता है। समाजवाद के नाम

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 347
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 147
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 348
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 347

पर जनता को सदियों से धोखा दिया जा रहा है। राजनेताओं का अनाचार से सदैव आम जन त्रस्त है परंतु उसके पास कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इन सबसे अवगत होकर भी वह इन विसंगतियों से बच नहीं पाता है। पवार कहता है – "देश का अधिकांश मताधिकारी जानता है कि वह चांडालों को चुनने के लिए विवश है। कया किए ले रहा जानकर? विकल्पहीनता उसे किसी पर भी विश्वास नहीं करने देगी। विकल्प बनकर ही उसे विश्वास दिलाना होगा। खुलकर कहूँ तो चांडालों के वक्त चांडाल हुए बिना जंग नहीं जीती जा सकती। चाहे जितने समय के लिए परकाया-प्रवेश करना पड़े – करना होगा, वरना समाजवाद देश में सदैव के लिए मात्र एक विचार भर बनकर रह जाएगा, ओढ़ते-बिछाते रहिए। लंगोटी बाबा का समय और था। सदियों की दासता से ऊबे हुए लोग थे। मुक्ति का संकल्प स्वयं उनके मन का संताप था। उन्हें गैरों से लड़ना था। आज आधी सदी के सत्ता सुख में मदांध स्वयं अपनों से हतप्रभ हैं।"[1]

राजनीति का मकसद कभी भी साम्प्रदायिकता नहीं है बल्कि देश की बागडोर संभालने के कारण इनका दायित्व साम्प्रदायिक सद्भावना का प्रचार-प्रसार होना चाहिए। मात्र सत्ता के लिए मदांध राजनेता साम्प्रदायिकता को ही अपना सशक्त अस्त्र मान लिया है। दो सम्प्रदायों के बीच दरार उत्पन्न कर वोट प्राप्त करनाराजनीति की घिनौनी तथा समाज विरोधी तत्वों का पर्दाफाश कर रहा है। राजनीति के सभी गलत शह के कारण ही लोगों में भी साम्प्रदायिकता कट्टरता फैलने लगी है। 'हमारा शहर उस बरस' में लेखिका इस पर चर्चा करती है। हिंदू यह सोचने लगे हैं कि राजनीति पर केवल उनका ही हक है। एक स्वामी कहते हैं – "आज हमारे देश की राजनीति हमारा अपमान कर रही है। हमारे लिए धर्म का पालन वर्जित है। हमें अपने त्योहारों पर आनंद व्यकत करने की स्वतंत्रता नहीं है। यह कौन-सी स्वतंत्रता हमारे देश को मिली है? क्या भारत सच में स्वतंत्र है? हम अपनी भूमि अपने लिए माँगते हैं तो यह संपत्ति की लोलुपता नहीं है, केवल अपने चिथड़े गए मान को पुन: जोड़ने को विनय इच्छा है। कोई राष्ट्रीय झंडा जलाएगा तो क्या आप उसे कपड़े के टुकड़े के लिए झगड़ा कहेंगे? या देश की रक्षा और

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 350-351

सम्मान के लिए?''[1] लोगों में यह जो चिंताधार व्याप्त हुआ है और लोग शासन तंत्र से यह आशा रखते हैं कि वे भी साम्प्रदायिक कट्टरता को बल दें इसका कारण मुझे केवल हमारी भ्रष्ट राजनीति लगती है। लेखिका इस सत्य को उजागर करती हैं – "लोग कहने लगे थे कि डेमोक्रेसी का बड़ा उल्टा-सीधा इस्तेमाल होता रहा है यहाँ। अराजकता फैलाने का हथियार बन गया है वह। हक के नाम पर ढिठाई बढ़ती जा रही है। अपनी स्वार्थसिद्धि हो रही है। और वफादारी? वफादारी का तो नामोनिशान नहीं रहा।"[2] वास्तव में देश में गणतंत्र के नाम पर राजनेता उसका गलत प्रयोग करने लगे हैं। अपनी झोली भरने के लिए ये राजनेता कुछ भी करने के लिए तैयार हैं।

'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा सत्ता प्राप्ति के लिए लोगों में आये बदलाव पर चर्चा करती हैं। सारंग का पति रंजीत एक ईमानदार एवं सहृदय व्यक्ति है। मगर जब से वह चुनाव लड़ना चाहता है तब से उसके व्यवहार में परिवर्तन आने लगा जिसका अनुभव सारंग कर पाती है। सारंग कहती है – "मैं तो उस रंजीत को ढूंढते-ढूंढते हलाकान हो चली, जो किसी काम को करने से पहले मुझसे दस बार पूछता था। छल-कपट कैसा होता है, वह सच्चा इंसान क्या जाने? ठगना, चार सौ बीसी करना ही तुम्हारे चलते पाप था रंजीत। क्या हो गया ऐसा कि तुम ....बहुत ऊँचे तो उड़ना नहीं चाहा कि डोर प्रधान को पकड़ानी पड़ी? भटको मत रंजीत, मैं खत्म हो जाऊँगी।''[3] वास्तव में सत्ता प्राप्त करने की लालसा में अच्छे-अच्छों के व्यक्तित्व में बदलाव आ जाता है। अतरपुर गाँव में चुनाव को लेकर बहुत ही धांधली चलती है। कुरसी पाने के चक्कर में लोग किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार हैं।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'विश्रामपुर का संत' में एक ऐसी ही पाखंडी, सत्तालोलुप राजनेता की कहानी है। जयंती प्रसाद हमेशा सत्ता हथियाने के लिए अजीबोगरीब हरकत करते थे। भूदान आंदोलन में भाग लेना या राजनीति से संन्यास लेकर विश्रामपुर का संत बनना सबके पीछे उनकी सत्ता लोलुपता ही हावी है। डॉ. सुरेश पटेल कहते हैं – "जयंती प्रसाद भूदान आंदोलन में अपनी भूमि का दान करके एक सक्रिय नेता के रूप में हमारे सामने उभरते हैं। गवर्नर पद के बाद तथा संयुक्त राष्ट्र संघ

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 39
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 91
[3] चाक - मैत्रेयी पुषपा, पृ.सं. 309

में देश के प्रतिनिधि मंडलों में आल्टरनेट डेलिगेट बनने के उपरांत अनेक प्रयासों के बावजूद जब उन्हें किसी बड़े देश का राजदूत न बनाये जाने से निराशा और हताशा के शिकार होते हैं इन्हीं परिस्थितियों में विश्रामपुर का संत बनकर कहीं-न-कहीं अपनी सत्ता-लोलुप भावना की तुष्टि करते हैं।"[1] कुँवर जयंती प्रसाद कुरसी पाने के लालच में कभी भी अपने पारिवारिक जीवन में सफल नहीं हो पाये। जीवन में अनेक नारी के प्रति आसक्त आदि चारित्रिक विसंगति के कारण एक मात्र पुत्र को भी अपने से दूर रखते हैं। वास्तव में कुंवर जयंती प्रसाद सिंह सत्ता लोलुप तथा कामुक प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। कुँवर जी का संपूर्ण जीवन कभी सत्ता का दुरूपयोग करने में तो कभी भयंकर सत्ता लोलुपता और कभी चारित्रिक विषमता इन्हें के दर्द-गिर्द ही घूमता है। राजनीति में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए वे अनेक कारनामे करते रहते हैं। भूदान आंदोलन के समय जब उनके भाई को जेल हुई तब भी ये चालाकी से काम करते हैं – "कुँवर जयंती प्रसाद सिंह ने बड़े भाई के जेल-प्रवास के दौरान ग्राम दान की घोषणा की। राजनीतिक खेल में यह एक शानदार छक्का था। इसका सर्वोदयी कार्यकर्ताओं में ही नहीं, सरकारी तंत्र में भी वाजिब असर हुआ। उनकी साख बढ़ी। साथ ही खपत भी।"[2] सत्ता हथियाने के लिए उन्हें किस समय क्या खेल खेलना था इससे वे भली भांति परिचित थे। समय की माँग से वे अनभिज्ञ नहीं थे। उन्हें यह पता था कि – "राजनीति में चमकने के लिए अब जेल यात्रा का प्रमाण पत्र जरूरी न था, अभिजात्य का बोलबाला था। ऊँचे नेताओं, बड़े औद्योगिक घरानों और महत्वपूर्ण अफसरशाहों की घनिष्ठता एक स्वतंत्र मूल्य बन चुकी थी। जाहिर है (जैसा कि पंडित जवाहरलाल नेहरू अपने हर चौथे वाक्य में जोड़कर बोलते थे) जमाना अब कुँवर जयंती प्रसाद सिंह का था।"[3] जीवन के अंतिम पड़ाव पर भी जयंती प्रसाद में सत्ता के प्रति मोह बची हुई थी। 'विश्रामपुर के संत' बनने के पीछे भी उनकी यह चाह बलवत्तर थी। सादा जीवन का निर्वाह उनके लिए केवल अभिनय मात्र है ताकि लोग उनकी सराहना करें। लेखक लिखते हैं – "कोई भी बाहर से उन्हें देखकर समझ सकता था कि उनका रूझान सहजता एक प्रकार की साधुता की ओर जा रहा है। कुछ दिनों से उन्होंने

---

[1] श्रीलाल शुक्ल : एक अध्ययन - डॉ. सुरेश पटेल, पृ.सं. 119

[2] विश्रामपुर का संत - श्रीलाल शुक्त, पृ.सं. 85

[3] विश्रामपुर का संत - श्रीलाल शुक्त, पृ.सं. 85

गीता और योग वशिष्ठ भी पढ़ना शुरू कर दिया था और उसकी नियमित चर्चा वे प्रवास भाई से करने लगे थे। वे स्वयं इन बदलावों से परिचित थे और भीतर ही भीतर इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि अच्छाई का अभिनय भी अच्छी चीज है। धीरे-धीरे अभिनय समाप्त हो जाता है, सिर्फ अच्छाई रह जाती है।"[1]

समाज में राजनीति हमेशा सत्ता लोलुप से जुड़ी रही। साधारण जनता केवल इन सत्ताधारियों के स्वार्थवादिता में दिशाहीन होते हैं। और यह पाखंडी, स्वार्थी राजनेता अपनी झोली भरते रहते हैं। ऐसी स्थिति में समाज के विकास पर प्रश्न चिह्न लगना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

2.2.5 पुरुष वेश्यावृत्ति (Gigolo culture)

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में देश में अनेक विघटनकारी शक्तियाँ हमारी सांस्कृतिक नींव पर प्रहार करने लगीं। छद्म-आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिमी सभ्यता देश में प्रभुत्व विस्तार के प्रयास में है। लोग पश्चिम संस्कृति के अनुकरण करने में गर्व महसूस करने लगे हैं। इसके चलते हमारी संस्कृति में अनुकरण की भोगवादी तथा समाजघाती तत्वों की बहुलता होने लगी है। इस पश्चिम संस्कृति के प्रचार-प्रसार के बदौलत समाज में अत्यधिक खुलापन अप-संस्कृति को फैला रही है। आर्थिक उदारता तथा वैश्वीकरण ने देश में जिस उपभोक्तावाद को जन्म दिया है उसमें दमित तथा ग्रसित होकर व्यक्ति का अध:पतन हुआ है। भले ही बाह्य रूप से इस आधुनिकता ने तथाकथित परम्परा की कुछ रूढ़ियां से उसे मुक्ति दिलाया हो! मगर जब व्यक्ति में अपनी उपभोग लालसा को समाप्त करने की शक्ति खत्म हो जाती है तब तक वह कहीं का नहीं रह जाता है। दोनों व्यक्तिगत एवं सामाजिक धरातल पर खंडित प्रतीत होते हैं। आधुनिकता के चक्कर में उसके हाथ केवल हताशा, अपमान, अकेलापन तथा आत्माहुति ही आते हैं। जिगोलो संस्कृति या पुरुष वेश्यावृत्ति इसी उपभोक्तावादी संस्कृति तथा पश्चिमीकरण की देन है। जहाँ व्यक्ति में निहित किसी भी कला को बाजार में बेच कर धन कमाया जाता है। प्रचुर धन प्राप्त करने की चाह में व्यक्ति में आज नैतिक स्खलन हो रहा है। विदेशों में पुरुष वेश्यावृत्ति आम बात है। मगर भारत जैसे पारम्परिक तथा सांस्कृतिक धरातल पर दंण्डायमान देश में

---

[1] विश्रामपुर का संत - श्रीलाल शुक्ल, पृ.सं. 153

यह भौंएं टेढ़ी करने वाली बात है। मगर अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते यह एक विकट सत्य बन गया। सबसे दिल दहलाने वाली बात यह है कि देश के तथाकथित शिक्षित एवं सौम्य युवक इस पेशा को अपना रहे हैं और इनके ग्राहक उच्च वर्ग की वे नारियाँ हैं जो स्वयं को शिक्षित, आत्मनिर्भर तथा खुले दिमाग वाली कहती हैं। खुलेपन तथा महत्वाकांक्षा के कारण इन नारियों को वह सब कुछ करने का मन है जो उनमें कभी दमित, कुंठित थी। पुरुष सत्ता से चुनौती देती हुई यह नारियाँ अपने चारित्रिक पतन के लिए भी कुंठाबोध नहीं करती हैं।

सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास ‘दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता’ में इस विसंगति पर चर्चा की गयी है। महानगर में यह किस प्रकार एक अभिनव वरन प्रभावशाली व्यवसाय बनता जा रहा है इस पर जानकारी प्रदान करता है। उपन्यास का नायक नील जो कभी एक मेधावी शोध छात्र था और विश्वविद्यालय में अध्यापक बनने का ख्वाब संजोये था, उसे नहीं पता था कि तकदीर उसे एक दिन पुरुष वेश्या बनने के लिए बाध्य करेगी। अपने शोध-निर्देशक की भतीजी किरण से प्रेम करने का नतीजा उसे अपने कैरियर से हाथ धोकर अपना शहर छोड़कर मुम्बई की ओर नौकरी की तलाश में प्रस्थान करना पड़ा। महानगर में आकर छोटा-मोटा काम कर उसे संतुष्टि नहीं मिली। बहुत ऊँचा उड़ने वाले नील को कम समय में प्रचुर धन कमाना था। उसे यह समझ आ गया था कि महानगर में रहकर उसके सपने साकार हो सकते हैं। नील ने महसूस किया - “इस महानगर की गठन और प्रकृति मुद्रा-केन्द्रित है, आने के पहले दिन ही उसे ऐसा अहसास हुआ था। यहाँ की जीवन-शैली, आचार-विचार, भाव-भंगिमा सब मुद्रा अर्जन से संचालित हैं। उपनगर के स्टेशन पर लोकल पकड़ने के लिए लपकता हुआ आदमी, बिजनैस डिस्ट्रिक्ट में शोफर द्वारा चलाई जाने वाली मर्सिडीज में फाइल पर झुका हुआ आदमी, घड़ी देखकर मेकर चैम्बर्स में चारों लिफ्टों के बटन दबाने वाला आदमी – सब लक्ष्य प्रेरित और एक ही पथ के पथिक हैं। कमाओ, कमाओ, कमाओ! सुबह चिड़ियों की चहचहाहट में उसे अक्सर यही व्यंजना सुनाई देती थी।”[1] पूंजीवादी समाज में जीवन के हर सुख केवल धन के माध्यम से ही प्राप्त किए जा सकते हैं। खासकर महानगर के लोग यह भलीभांति समझने लगे हैं। नील भी इस

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 82

चिंताधारा से अलग नहीं हो पाया। जब व्यक्ति में बेशुमार धन के प्रति लालच उत्पन्न होता है तब वह धन कमाने के लिए कोई भी विसंगत उपाय का अवलम्बन कर सकता है। नील यह समझ गया था कि "हम जिस पूंजीवादी समाज में जी रहे हैं, उसमें हमारे सामने पेट भरने का एक ही रास्ता है – अपनी किसी काबिलियत को बाजार में बेच पाना।"[1] और इसी बात को ही नील ने ठान लिया था। शिक्षित तथा सुन्दर एवं कुशाग्र होने में ही उसकी काबिलियत को उसने महसूस किया और इसे बेचकर पैसा कमाना चाहा। अध्यापन करके पैसा कमाना उसकी निगाह में अपने मूल्य को घटाना था, वरन पुरुष वेश्या बनकर रातों-रात ऐशोआराम की जिंदगी हासिल किया जा सकता था। विडम्बना यह है कि नील को इससे कभी पश्चाताप या शर्मिंदगी नहीं हुई बल्कि जब भोला उससे पूछता है कि इस शख्सियत के अलावा उसमें और कोई काबिलियत नहीं है? तब नील उसे बेहिचक जवाब देता है – "बाजार में उसकी कीमत बहुत नीची है। ....और क्या ये औरतें भी दोषी नहीं जो मेरे पास बाँहें फैलाए दौड़ी चली आती हैं?''[2] कभी नील एक मेधावी छात्र था और अध्यापन जैसा पवित्र पेशा की पूजा करता था आज मुम्बई में रहकर वह सब कुछ बिसर गया था। पैसे के लालच में वह अंधा बनता जा रहा था। महानगर में अर्थशून्यता और अर्थ प्राचुर्य दोनों के बीच उसे अपना स्थान बनाना था। इसलिए उसे पुरुष वेश्या बनने में ही तरक्की के मार्ग नजर आये। वह 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समाचार पत्र में अपना विज्ञापन इस तरह से देता है – "कुशाग्र बुद्धि, संभाषण-कुशल सजीले युवक को युवती मित्र चाहिए। जिंदगी को बर्दाश्त के लायक बनाना हो तो आज ही संपर्क करें।"[3] आधुनिक समाज में महानगर में उच्च वर्ग के लोग अद्भुत कार्यकलाप में लिप्त रहते हैं जिसके बारे में एक साधारण आदमी सोच भी नहीं पाएगा। महानगर में धनाढ्य घर की महिलाएं अपने कार्य में व्यस्त पति जिनके लिए धन कमाना ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है उनसे शारीरिक तथा मानसिक रूप से संतुष्ट नहीं होती हैं। इसलिए वे पर परुष पर आसक्त होती हैं जो पैसे लेकर इन महिलाओं के शारीरिक तथा मानसिक जरूरतों को पूरी करे। पति-पत्नी संबंध पर पाश्चात्य संस्कृति का नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। पति-पत्नी जहाँ एक दूसरे के

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 145
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 145
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 102

सुख-दु:ख तथा अकेलेपन के साथी होते हैं वहीं दूसरी ओर अर्थ प्रधान समाज में यह मधुर संबंध दमघोंटू बनता जा रहा है। दोनों पति-पत्नी एक दूसरे के प्रति विश्वासघात करते हैं। अपने अहं के कारण कोई किसी के प्रति समर्पण भाव नहीं रखता है। इसी कारण से धनाढ्य वर्ग में जिगोलो संस्कृति को बढ़ावा मिला। विशेषकर शादी शुदा औरत ही जिगोलो पर आश्रित रहती हैं। इसी अपसंस्कृति की बदौलत ही नील को जिगोलो बनने के लिए अवसर मिला। इसमें बहुत कम समय में ही महीने भर के वेतन से अधिक पारिश्रमिक मिलता है। नील कहता है – "इसके दूसरे छोर पर श्रीमती दस्तूरथीं, जो अपने मन को हल्का करने के लिए उसे विश्वविद्यालय के अध्यापक के बराबर वेतन दे रही थीं। ब्लॉसम और यास्मीन थीं जो दो घंटोंकी उसकी सेवाओं के लिए उतना पारिश्रमिक दे रही थीं जो कितने मध्यमवर्गीय हिन्दुस्तानियों का एक महीने का वेतन होगा।"[1] महानगरीय आपाधापी में लोग येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना चाहते हैं। पैसा कमाते-कमाते नैतिक मूल्यों में भले ही गिरावट आयी हो मगर इनमें कोई अंतर नहीं आता है। नील कहता है – "मैं आपको पूरे संतोष की गारंटी देता हूँ। कहते-कहते वह अटक गया, मेरे रेट भी वाजिब हैं।"[2] धनाढ्य वर्ग की महिलाएं अपने पतियों के पीठ पीछे यह घिनौना कार्य करती हैं मगर पकड़े जाने पर भी ना उनमें ना नील में पश्चाताप या शर्म की भावना होती है। नील जब शिल्पा नामक औरत से काम संबंध रखता है तब उसका पति इन दोनों को रंगे हाथ पकड़ लेता है। मगर दोनों में कोई ग्लानि नहीं होती है। शिल्पा जब नील को उसका पारिश्रमिक देती है तब नील से शिल्पा का पति पूछता है – "इसने तुम्हें रोकड़ा क्यों दिया?"[3] तब नील कहता है – "यह मेरा पेशा है।"[4] पुरुष नील को गाली देता है – "कुत्ता, कमीना, हरामजादा .....शक्ल से तो पढ़ा-लिखा लगता है। कोई नौकरी क्यों नहीं ढूँढ लेता?"[5] तब नील गर्व के साथ कहता है – "नौकरी में पैसा बहुत कम है।"[6]

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 86-87
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 101
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 143
[4] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 143
[5] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 143
[6] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 143

वास्तव में नील का जिगोलो बनने के पीछे केवल उसे दोषी ठहराया नहीं जा सकता है। समाज तथा परिवेश भी अनेक मात्रा में इसके लिए दोषी है। एक मेधावी छात्र होने के बावजूद भी उसे उसके शोध निर्देशक ने अपने स्वार्थ की खातिर दर-दर भटकने के लिए छोड़ दिया। शिक्षित जब बेकार होता है तब उसकी तड़प को आसानी से समझा नहीं जा सकता है। अर्थ केन्द्रित समाज में आदमी का मूल्यांकन उसके पैसा तथा शान शौकत के आधार पर किया जाता है। एक भला, ईमानदार एवं शिक्षित युवक की समाज में कोई अहमियत नहीं जब तक उसका बाजार में मूल्य लगाया न जाए। इस बाजारवादी सभ्यता ने मनुष्य को उपभोग सामग्री बना डाला है। भौतिक सुखों की सामग्री जुटाते-जुटाते वह अपने नैतिक जीवन मूल्यों की बलि चढ़ा देता है। अपने घर-परिवार, यहाँ तक कि वह 'स्व' से भी खंडित तथा प्रताड़ित हो जाता है। भले ही जीने के लिए झूठी शान का दिखावा के लिए वह सर उठाकर तर्क देता है मगर कहीं-न-कहीं उसके मन को यह विसंगत कार्यकलाप कचोटता रहता है। उसका अंतर्मन खुद उसके ही सवालों का उत्तर देने में असमर्थ होता है। तभी अपनी काली मन:स्थिति की कड़वाहट में नील सोचता है – "मैं अपने भावनाहीन स्पर्श का भुगतान लेता हूँ। थोड़ी भावनाओं वाले स्पर्श लेने वाली स्त्री से मूल्यवान भेंट लेता हूँ और आज उस स्त्री के पति से अपने अँधेरे रिश्ते से बाहरी धूप से बचाये रखने के लिए मैंने रिश्वत ली है।"[1] इस कथन से यह ज्ञात होता है कि नील का अंतर्मन पश्चाताप, ग्लानि, शर्म आदि भावनाओं से लहुलूहान है। मोहिनी के पति परेश से नील कहता है – "हम रंडियाँ तुम्हारे उपभोक्तावादी ढाँचे की उपज है। जहाँ माँग होगी, वहाँ सप्लाई होगी। पेट की जरूरत के बिना इस पेशे में कोई नहीं आता।"[2]

उपभोक्तावादी सभ्यता ने समाज के रिश्तों की धज्जियां उड़ा दी हैं। जहाँ धन प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपनी मान-मर्यादा को भी बेच खाता है इसी वहशी ढाँचे ने पुरुष वेश्या वृत्ति जैसी विसंगति को जन्म दिया है।

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 166
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 237

2.2.6 वेश्यावृत्ति तथा कॉल गर्ल समस्या

भारतयी समाज में वेश्यावृत्ति सदैव एक विसंगति के रूप में रही है। भले ही यह प्राचीन समय से ही समाज में है, मगर बीसवीं शताब्दी में यह विकृति के चरम पर बनी हुई है। हमारे समाज में 'सेक्स' को सदैव पवित्र माना गया है और पारिवारिक जीवन में इसके महत्व को सम्मान के साथ स्वीकारा गया है। परन्तु जब 'सेक्स' को अर्थ उपार्जन का विसंगत साधन बनाया जाता है तब यह व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए चिंताजनक विषय बन जाता है। देखा जाए तो समाज ही इसके लिए दोषी भी है। गरीब, बेसहारा स्त्री को समाज ही वेश्या बनने के लिए मजबूर करता है। वास्तव में पुरुष का शोषण रवैया ही स्त्री को वेश्या बनाता है। पुरुष कभी भी स्त्री को 'देह' के अलावा और कुछ स्वीकारता ही नहीं। इसलिए स्त्री के लिए 'देह' ही अंतिम वस्तु है जिसे वह बेचकर अपना पेट पाल सकती है। उसकी यह दयनीय स्थिति, समाज की विषमता और पुरुष का उसके प्रति उत्पीड़न पर आधारित है। यह कैसी विडम्बना है कि समाज स्त्री को वेश्या बनाता है और वही समाज ही उसे अपमानित, लांछित करता है। उन्हें साधारण जीवनधारा से बहिष्कृत करता है। उनके दु:ख भरे जीवन को निरंतर दु:खदायी तथा दयनीय बनाने के लिए कभी पश्चाताप नहीं करता है। कारण जो भी हो असलियत यही है कि वेश्यावृत्ति एक ज्वलंत विसंगति के रूप में समाज पर प्रहार करती है। साहित्य में भी सदैव इस समस्या को उठाया गया है और इस पर तर्क-वितर्क होते रहते हैं। लेखिका चित्रा मुद्गल इस संदर्भ में काफी संवेदनशील हैं। उन्होंने अपने उपन्यास 'आवां' में वेश्या समस्या का मार्मिक चित्रण किया है। लेखिका कामुक पुरुष जाति की लोलुपता का पर्दाफाश करती है जो वेश्यावृत्ति को समाप्त करने के बजाय उन्हें उस दल-दल में ढकेलने का प्रयास करती हैं। बीसवीं सदी में यह समस्या अधिक विकृत प्रतीत होती है।

श्रमिक महिला मोर्चे की कर्मचारी विमला बेन वेश्याओं की स्थिति में सुधार लाने के लिए रंडी बाजार में 'जागो री' नाम से एक सभा का आयोजन करती हैं। जिस सभा का उद्देश्य यह होता है कि उन्हें गंदगी भरे जीवन से निकालकर मिलों में मजदूरी दिलवाकर सम्मान से जीने लायक बनाया जाए। भले ही शुरूआत में वेश्याओं को इस सभा पर भरोसा नहीं था कि यह उन्हें वास्तव में इस नर्क से उद्धार कर पायेगा या यह केवल हवाई बातें हैं। इन वेश्याओं के मन में समाज के प्रति जो डर है वह भी

समाज के प्रति उनका अविश्वास का ही नतीजा है। उनके दिमाग में सदियों से जो सोच बलवती है उससे आसानी से छुटकारा पाना कठिन कार्य है। नमिता पवार से कहती है – "दरअसल, उनके भीतर एक सोच तैयार करने की जरूरत है। भीतर घर किए बैठे संशयों का निवारण जरूरी है। डर नहीं निकलता है उनके मन से अभी। उन्हें लगता है, क्या गारंटी है कि मिल मजदूरी में उनका दैहिक शोषण नहीं होगा?!"[1] विमला बेन का मकसद इन औरतों को मुख्यधारा में मिलाकर सम्मान के साथ जीना सिखाना था। लेकिन यह इतना सहज कार्य भी नहीं है कि वे आसानी से इस भ्रष्ट समाज पर विश्वास कर ले। नमिता कहती है – "आंदोलन कोई अलाउद्दीन का चिराग नहीं। ऊँच-नीच समझ में आते-आते ही आएगा! आ रहा है। छह-सात औरतों नेमिलकर 'जयहिंद आयल मिल' जाना शुरू कर दिया है।"[2]

समाज की यह विडम्बना है कि वेश्याओं के मन में जो अविश्वास, घृणा, अभिशाप इस समाज के लिए है वह नाजायज नहीं है। इस भ्रष्ट सामज में कभी भी वेश्याओं को चैन की साँस लेने नहीं दिया है और उन्हें मुख्य धारा में शामिल करना तो दिवास्वप्न मात्र है। वेश्या अगर इस दलदल से निकलना भी चाहती है उन्हें सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसा करने नहीं देती हैं। पुरुष का नजरिया भी इसके प्रति कभी नहीं बदलता है वरन स्थिति और खराब नजर आती है। एक वेश्या अनीता जिसे विमला बेन ने अपना धंधा छुड़वाकर जयहिंद आयल मिल में काम करवाने के लिए राजी किया था, कार्यस्थल में पुरुष उसके साथ खराब व्यवहारकरते हैं जिससे वह परेशान होकर नौकरी छोड़कर पुन: अपने धंधे में वापस जाने के लिए सोच रही थी। पवार नमिता से कहता है – "हाँ, नौकरी रास नहीं आ रही थी उसे। विमला बेन से शिकायत भी की थी उसने कि मजदूर उसे देखते ही इशारेबाजी करते हैं ......अकेला पाकर कोने में खींच लेते हें।"[3] पूंजीपति समाज में जहाँ पूंजीपतियों को शोषक तथा गरीब मजदूर को सर्वहारा या शोषित माना गया है ठीक उसी प्रकार पुरुष प्रधान समाज में पुरुष पूंजीपति या शोषक है और स्त्री सर्वहारा या शोषित है। जब-जब स्त्री ने आत्मसम्मान के साथ जीना चाहा है पुरुष उसे पददलित करता आया है। स्त्री को वेश्या बनने के लिए स्वयं पुरुष बाध्य करता है मगर जब वह उस

---

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 260
[2] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 260
[3] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 353

धंधे में प्रवेश कर जाती है तो उसे पुरुष प्रधान समाज वहाँ से वापस लौटने नहीं देता है। अगर विमला बेन जैसी समाज सुधारक इनका उद्धार करना चाहती भी है तब अनीता जैसी हालात से गुजरने के लिए यह वेश्या विवश होती हैं। अनीता के साथ जो हादसा होता हे उससे अवगत होने के पश्चात पुरुष जाति का चित्रण आवां उपन्यास में लेखिका करती हैं। पुरुष की नजर में एक वेश्या की जिंदगी जिंदगी नहीं होती है। पवार नमिता से अनीता के बारे में कहता है – “किसी ग्राहक के संग अनीता का झगड़ा हुआ। ग्राहक इच्छा के विरूद्ध जोर-जबरदस्ती उससे संभोग करना चाह रहा था। पेट में उसके सात महीने का बच्चा था। दारू पिए ग्राहक ने अनीता के राजी न होने पर उसके पेट में इतनी लातें लगाईं कि उसका गर्भ गिर गया और बच्चा पेट से बाहर निकल आया। असीमा मूर्च्छित हो गई। चेत में न आने पर ‘जागो री’ की अन्य वेश्या सदस्यों ने मिलकर खून से लथपथ अनीसा को ले जाकर राजवाड़ी अस्पताल में भर्ती कराया। घंटे-भर बाद डॉक्टरों ने अनीताा को मृत घोषित कर दिया। बच्चा तो मरा हुआ पैदा ही हुआ था ....।”[1] यह स्थिति समाज के लिए अत्यंत लज्जाजनक एवं भर्त्सना के लायक है। पुरुष के इस बहशी अत्याचार से रोज वेश्याएं जूझती रहती हैं। मगर इन वेश्याओं की कराह सुनने के लिए हमारा समाज बहरा होने का नाटक करता है। विमला बेन जैसी समाज सुधारक आखिरकार मात्र स्त्री ही तो है, पुरुष प्रधान समाज में उसे कौन सुनता है। वह चिल्ला चिल्लाकर अंत में शब्दहीन हो जाती है। और जिन वेश्याओं का उद्धार करने में विमला बेन ने जी तोड़ मेहनत करके उन्हें आयल मिल में काम दिलवाया था उन वेश्याओं के लिए भी समाज में सम्मान के साथ जीने की आशा क्षीण होती जाती है।

वेश्यावृत्ति जहाँ पारंपरिक संस्कृति की देन है, कॉलगर्ल आधुनिक समाज की उपज है। भूमंडलीकरण की बदौलत जिस पश्चिम सभ्यता का भारत में प्रखर मात्रा में प्रचार-प्रसार हुआ है उसी ने ही कॉल गर्ल संस्कृति को बढ़ावा दिया है। आज यह स्थिति है कि कॉल गर्ल बनने के लिए खुद युवतियाँ इच्छुक हैं। मानचन्द खेडेला इस संदर्भ में कहती हैं – “आधुनिक समाज में कॉलगर्ल, वेश्या का विकसित रूप है। शिक्षित, सुन्दर और स्मार्ट व्यक्तित्व से पूर्ण यह वर्ग वर्तमान में कॉल गर्ल के नाम

---

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 353

से संबोधित किया जाता है। विडम्बना तो यह है कि पहले देह व्यापार के इस घिनौने व्यवसाय को महिलाएं किसी विवशता या धन के अभाव में अपनाती थीं, वहीं आज के युग में अनेक सुशिक्षित युवतियाँ इस व्यवसाय को अपनी इच्छा से अपना रही हैं।"[1] यह विकृत स्थिति केवल उपभोक्तावादी संस्कृति की ही देन है। ऐसा कहने में अतिश्योक्ति नहीं है। धन कमाने की प्रबल इच्छा, यहाँ गौर किया जाए कि यह धन पेट का पोषण के लिए नहीं बल्कि अपने अनचाहे, असीम भौतिक सुख को प्राप्त करने के लिए चाहिए। इस कॉल गर्ल व्यवसाय में केवल कुछ घंटों के लिए काम करके बहुत अधिक धन कमाया जा सकता है। इसलिए विशेषकर बड़े-बड़े शहर तथा महानगर में यह व्यवसाय आज फलता-फूलता जा रहा है। आज यह तथ्य सामने आ रहा है कि संपन्न घर की लड़कियाँ भी इस क्षेत्र में आ रही हैं। केवल अपने पॉकेट मनी बढ़ाने की खातिर। देह का व्यापार में पतनमुखी करता है। आधुनिक समाज में यह भयंकर समस्या बन गया है। गरीब अनपढ़ युवतियाँ इस पेशा को मजबूरन अपनाती हैं वह फिर भी ग्रहणीय है मगर अब शिक्षित तथा संपन्न घर की लड़कियाँ जिस प्रकार पथ भ्रष्ट हो रही हैं यह वास्तव में चिंता का विषय है। आज स्थिति ऐसी बन गई है कि वेश्यावृत्ति का समाधान जहाँ होना चाहिए था वहीं इसके साथ-साथ कॉल गर्ल समस्या समाज में उभरने लगी है। महानगरों में तो यह अपनी जड़ मजबूत करती जा रही है। वेश्यावृत्ति में स्त्री की इच्छा के विरूद्ध पुरुष उसके साथ काम संबंध स्थापित करता है मगर कॉल गर्ल व्यवसाय में लड़कियाँ खुद पुरुष के साथ काम सुख का उपभोग करना चाहती हैं पैसा वसूलकर। मानचंद खेडेला का कहना है – "क्या कारण है कि आज वेश्यावृत्ति जैसी सामाजिक समस्या का समाधान होने के विपरीत नई समस्या कॉल गर्ल के रूप में सामने आ गई। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि आज नारी को भोग-विलास की अतृप्त लालसा ने उसे अच्छृंखल बना दिया है। एक पुरुष से बंधे रहना उसे स्वीकार नहीं। उनके इस स्वच्छंद आचरण व काम तृष्णा से भारतीय नारी की गरिमापूर्ण छवि को गहरा आघात लगा है और इसमें कोई संदेह नहीं है

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 30

कि आज पश्चिम से प्रभावित भारतीय नारी उस अधोगति को पहुँच चुकी हैं जहाँ उसके चारित्रिक उद्धार का कोई मार्ग शेष नहीं बचता।"[1]

'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में संदर्भगत रूप में इसकी भी चर्चा की गई है। शहर के प्रमुख समाचार पत्र में इसके बारे में विज्ञापन दिया जाता है। इस बात से हम स्थिति का अंदाजा लगा ही सकते हैं। नील खुद समाचार पत्र में देखता है – "टाइम्स ऑफ इंडिया' के 'मीटिंग ग्रांउड' शीर्षक के वर्गीकृत विज्ञापन में उसने कुछ ध्यानकर्षी नमूने देखे थे बुद्धिमान, आकर्षण, अपना फ्लैट और कारवाले बिजनेस एग्जीक्यूटिव को महिला मित्रों की तलाश है। उदार हृदयवाली की इच्छुक संपर्क करें। जाति, आयु की कोई बाधा नहीं। पाँच आँकड़ों वाली मासिक आय के नौजवान व्यवसायी को जो साल में दो बार विदेश जाता है, युवती मित्रों की जरूरत है। खुले मन के, लचीली मान्यताओं वाले युवा दंपत्ति भी पत्र व्यवहार कर सकते हैं। कृपया फोन नंबर दें।"[2] इसे अगर आधुनिकता माना जाए तो हो गया समाज का कल्याण! संक्रमण के इस विषम दौर में हम किस ओर अग्रसर हो रहे हैं इसके बारे में सोचने के लिए भी किसी के पास समय नहीं है। जिसकी जो इच्छा वह वही करता है। कोई किसी को टोकने वाला नहीं। खुलेआम इस विसंगति को बढ़ावा दिया जा रहा है। मगर कोई इस पर प्रश्न भी नहीं उठाता है। स्वार्थी समाज इसलिए आज विसंगतिपूर्ण हो गया है। 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास में विष्णु प्रभाकर भी कॉल गर्ल पर संदर्भगत रूप से चर्चा करते हैं। बदलते परिवेश में किस प्रकार बड़े घर की बेटियाँ कॉल गर्ल बन रही हैं उस पर लेखक ने दृष्टि निक्षेप किया है। बिंदिया सुमिता से कहती है – "और हम ही क्यों, जो अपने को अब तक ऊँचा कहते रहे हैं उनकी बहन-बेटियाँ भी तो कॉल गर्ल बन रही हैं। मैं तो उन्हें 'कॉल गरल' कहती हूँ।"[3] बिंदिया एक नौकरानी है। अपने प्रति पुरुष के नजरिया के बारे में सुमिता से वह कहती है और उसके गरीब होने के कारण पुरुष उसे भोगना चाहते हैं। सुमिता बिंदिया की बात पर हँसती हुई कहती है – " 'कॉल – गरल'! बिंदिया, तूने सही नाम दिया है। वे

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 30
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द वर्मा, पृ.सं. 101-102
[3] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 187

सचमुच 'काल' है और 'गरल' भी।"[1] सुमिता पुन: बिंदिया से कहती है – "तूने जिन्हें काल-गरल कहा हे वे भी मजबूर हैं। न जाने किन-किन कारणों से। सबसे बड़ा कारण तो समाज का वर्तमान ढाँचा है। पुरुष प्रधान।"[2] यहाँ सुमिता 'कॉल गर्ल' के प्रति समाज का नजरिया तथा पुरुष समाज कैसे उन्हें अपना देह व्यापार करने के लिए बाध्य करते हैं उसका वर्णन करती है। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास में उस आधुनिक कॉल गर्ल के बारे में बताया गया है जो अपनी मर्जी तथा प्रचुर धन कमाने के लिए इस पेशे में आती है और उसे इस कार्य में शर्मिंदगी भी महसूस नहीं होती है। शालू की सहेली रोजी अपनी यौन तृप्ति मिटाने के लिए एवं धन कमाने के लिए कॉल गर्ल बनती है। "रोजी ने देखा कि पंद्रह बीस हसीन लड़कियाँ एक कतार में बैठी हैं एक से एक रूपवती। दल्ले ने रोजी को भी उसी कतार में बिठा दिया। थोड़ी देर बाद एक आदमी आया। उसने एक नजर सब लड़कियों पर डाली। रोजी की बगलमें बैठी लड़की की तरफ इशारा किया। वो लड़की उठकर उस आदमी के साथ चली गई। फिर एक पठान जिसकी लंबी-लंबी मूंछे थी, आया और उसने एक और लड़की को पसंद किया और उसे अपने साथ ले गया।"[3] रोजी अपने शरीर का सौदा केवल धन के लिए करती है। अपार धन तथा ऐशो आराम की जिंदगी के एवज में उसने कभी पश्चाताप नहीं किया और ना ही शर्मिंदा हुई। बल्कि इस धंधा में धीरे-धीरे सिद्धहस्त बन गई। "टोनी का काम धंधा चल पड़ा तो उसकी स्टाइल भी बदल गयी। वो अब हर ग्राहक के साथ शिफ्ट गुजारने के लिए तैयार न होती, बल्कि उसकी बैक ग्राउंड, उम्र और जेब का अंदाजा लगाकर ही राजी होती।"[4] एक दिन रोजी का प्रेमी भूषण उसके पास आया था, मगर दोनों इस बात से अनभिज्ञ थे। रोजी भूषण को देखते ही नाटक करने लगी। रो रोकर बदहाल हुई। मगर भूषण गुस्से से बोला – "क्या नाटक कर रही है रंडी कहीं की। मुझे धोखा देती है। लंबे-लंबे खत लिखती है कि तू दो हफ्तों के बाद दिल्ली वापस आ जाएगी और फिर शादी करेगी। यहाँ धंधा कर रही है। हरामजादी। मुझे बता कया रेट है तेरा? ये ले पकड़ तीन हजार रुपये की गड्डी। मुझसे ले।"[5] लेकिन

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 187
[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 187
[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 88
[4] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 91
[5] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 92

पुरुष का अहं और उसकी मर्दानगी की दाद देनी पड़ेगी। खुद वह वेश्या के पास आ रहा है मगर स्त्री को हरामजादी कहता है। अगर समाज में भूषण जेसे पुरुष नहीं रहेंगे तो देह-व्यापार ही खत्म हो जाता। पुरुष चाह रहा है तभी तो यह कलुषित प्रथा समाज में विद्यमान है। रोजी भूषण के ऊपर गरजकर बोलती है – "तू यहाँ क्या करने आया था? किसी रंडी से मिलने? किसी कॉल गर्ल को नोचने।"[1] यहाँ तक शालू भी कॉल गर्ल बन देह का व्यापार करने लगती है। रोजी उसे इस पेशे के प्रति उकसाती है "अरी इडियट, तू इस बंबई में भूखी मर जाएगी और फिर टके-टके को बिकेगी, लेकिन मैं कहती हूँ अब यही वक्त है कि तू अपनी कीमत खरी करे।"[2] आज यह समाज के सम्मुख ज्वलंत प्रश्न बन गया है कि स्वतंत्रता का गलत मतलब निकालती कुछ औरत क्यों अपने जीवन को क्षणिक सुख के लिए तबाह करने पर तुली हुई है? इन्हें यह समझ में कब आयेगा कि पैसा सब कुछ नहीं है। पैसा की जरूरत जीवन चलाने के लिए चाहिए न कि जीवन सजाने के लिए।

2.2.7 नग्न प्रदर्शन

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारत में अपसंस्कृति फैलने लगी। समाज मूल्यहीनता की ओर अग्रसर होता चला गया। विकास की अंधी गलियों में समाज भटकने लगा। इस संकटपूर्ण स्थिति में लोग अपने घर-परिवार, रिश्ते-नाते से टूटने-बिखरने लगे। पैसे के पीछे पागल मनुष्य के लिए अब ये सब महत्वपूर्ण नहीं रह गये। शहरी चकाचोंध भरी जिंदगी से लालायित होकर मनुष्य पथभ्रष्ट होने लगे। केवल पुरष ही नहीं स्त्री भी धन कमाने का यंत्र बनने लगी। इस विडम्बनापूर्ण समाज ने उसे भी रंगीन सपने दिखाए। सदियों से जिस घूँघट के नीचे अपने शरीर को छुपाकर मर्यादित, शालीन कहलाती थी उपभोक्तावादी समाज में वह उस परदा को वर्जित कर आधुनिक नारी के रूप में गर्व महसूस करने लगी है। अंग प्रदर्शन से पैसा उपार्जन करने में उसे अब ग्लानि नहीं होती है। विडम्बना यह है कि समाज में अत्यधिक आर्थिक विषमता के कारण गरीब घर की लड़कियाँ भी इसे पेशा बनाने के लिए मजबूर हैं। उच्च वर्ग के पुरुषों को सुख देने के लिए इन्हें अपने शरीर का नग्न प्रदर्शन करना पड़ता है और अंतिम दशक में महानगर में यह साधारण वर्ग के

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 92
[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 143

पुरुष इस नग्न प्रदर्शन के लिए इन गरीब लड़कियों का उच्च मूल्य देते हैं ...., इससे लालायित होकर गरीब लड़कियाँ इस पेशे को खुशी-खुशी अपनाने लगी है। सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में इस वीभत्य नग्न प्रदर्शन का चित्रण किया गया है। शालु जो एक गरीब एवं नसीब का मारी हुई युवती है जिसे अपने पेट पालने के लिए अपने शरीर का प्रदर्शन करना पड़ता है। भोला कहता है – "सुरों की एक इकाई पूरी होते ही पल भर को मौन छा गया। शालू ने अपने कंधों से एक वस्त्र निकालकर नीचे फेंक दिया। अगले पल धुन शुरू होने पर वह फिर थिरकने लगी। विरामों के बाद शालू के सिर्फ दो अंतर्वस्त्र ही बचे रहे। धुन की इकाई पूरी हुई, तो छोटे से विराम के बीच शालू ने अपना आखिरी अंतर्वस्त्र उतारकर फेंक दिया। भरा होने के बावजूद हॉल निस्तब्ध था। हल्की मुस्कान वाली चपल भंगिमा से अनावृत देह के पिछले और अगले हिस्से को प्रदर्शन करते हुए शालू ने अंगड़ाई ली.....।"[1] समाज में स्त्री का शोषण हर समय हुआ है और यह हमेशा चलता रहेगा। स्त्री केवल शिक्षित तथा आत्मनिर्भर होकर इस भ्रम में है कि वह आज शोषक पुरुष से मुक्त है। स्त्री जिस किसी वर्ग की प्रतिनिधित्व करती हो, चाहे वह मजदूर हो या मध्य वर्ग की हो या उच्च वर्ग की, पुरुष उसका शोषण अपना रूप बदलकर करता है। दु:खद बात यह है कि समाज जितना विकास करता जा रहा है उतनी ही स्त्री की स्थिति दयनीय होती जा रही है। उपभोक्तावादी बाजार में वह एक वस्तु मात्र बन गयी है जिन्हें समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के पुरुष अत्यंत चतुरता के साथ क्रय-विक्रय करते हैं। शालू जैसी अनेक महिलाएं इन्हीं दरिंदों की शिकार हैं। मानचन्द खेडेला कहते हैं – "हमेशा से ही कभी भारतीय संस्कृति के नाम पर कभी अश्लीलता के नाम पर और कभी स्त्री के चरित्र को लेकर सवाल उठाए जाते रहे हैं और आज भी सवाल उठाए जाते हैं। यह विडम्बना ही कही जाएगी कि भारतीय संस्कृति के पालनहार आज भी पुरुषवादी सोच और मानसिकता से ग्रसित हैं।"[2] पुरुष स्त्री को अपने शरीर को बेचने के लिए बाध्य करता है और वही पुरुष उसे कुलटा, रंडी, चरित्रहीना कहता है। यही स्त्री की नियति है। पुरुष प्रधान समाज में आज आधुनिक स्त्री आधुनिक रूप से शोषित है। महानगर में यह स्थिति अत्यधिक पीड़ादायक है। नारी स्वतंत्रता, समानता आदि नारा बस समाज के

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 40-41

[2] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 45

विशेष वर्ग तक ही सीमित है। शालू जैसी लड़कियाँ आज भी अपनी इज्जत आबरू बचाने के लिए त्राहि-त्राहि करती हैं। सेठ के सामने अपना पारिश्रमिक पाने के लिए गिड़गिड़ाती है और सेठ उसे पैसा देने के लिए हजार नखरें दिखाते हैं। शालू जब दलाल से पैसा माँगती है तो उसे दलाल कहता है – "आज पैसे की कमी है। पिछली शाम भोला खजांची के पास गया, तो वह पास खड़ी शालू के साथ चुहल कर रहा था।"[1] महानगर जीवन शैली में लोग अजीबोगरीब दहशत से जूझने के लिए मजबूर होते हैं। नील महानगर की स्थिति के बारे में कहता है – "इस महानगर में अर्थ न्यूनता और अर्थ प्राचुर्य दोनों अति पर हैं। उसने सोचा। गरीबी के तमाम हृदयविदारक नमूने तो उसने कई शहरों में देखे थे, लेकिन यहाँ उसकी बहुत नग्न तथा वीभत्स झलकियाँ मिली थीं।"[2] महानगर में जहाँ समृद्ध वर्ग पश्चिमी सभ्यता का आँख मूंदकर अनुकरण करता है वहीं दूसरी ओर शालू जैसी गरीब स्त्रियाँ इस पश्चिमी सभ्यता को उसे समृद्ध वर्ग को मुहैया कराने का माध्यम बनने के लिए मजबूर होती है। महानगर की असलियत से भोला और नील आश्चर्यचकित रह जाते हैं – "आधी चेतना के पार नील को सतरानी का कैबरे याद आया, जब नर्तकी के पूरी तरह निर्वसन होकर एग्ज़िट लेने के बाद धवल बालों वाले चचाजान स्टेज पर आकर ब्रा और पैंटी समेटने लगते थे।"[3]

आधुनिक समाज में स्त्री को अत्यंत चालाकी के साथ छला गया है। स्त्री इस छलावा को पहचानने में अक्षम नजर आती है। बाजारवादी संस्कृति में उसे वस्तु बनाकर बाजार में बेचा जाता है। इसे स्त्री अपनी स्वतंत्रता समझती है और अपनी काबिलियत पर गर्व अनुभव करती है। मीडिया ने स्त्री की इज्जत को अति मात्रा में उछाला है। स्त्री देह का प्रदर्शन कर धन उपार्जन करना आधुनिक समाज का एक अंग बन गया है। मीडिया स्त्रियों में अंग प्रदर्शन के लिए लालसा उत्पन्न करने में प्रमुख माध्यम बना। किसी चीज को बेचने के लिए स्त्री का अंग प्रदर्शन आज आम बात बन गई है। पत्र-पत्रिका में स्त्री की उत्तेजक तस्वीर छापकर स्त्री को विभिन्न उपमाओं से नवाजना पुरुष सत्ता का शोषण ही है। मॉडलिंग एवं फिल्म की चकाचौंध भरी दुनिया में स्त्री का केवल दोहन ही किया जाता है। इसके बदले

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 41
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 86
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 233

स्त्री को अगर कुछ मिलता है तो वह है पारिश्रमिक। इस पैसे तथा ग्लैमर के पीछे पागल औरत को यह नहीं पता कि यह पैसा और रूतबा तब तक रहेगा जब तक उसका दैहिक सौंदर्य बरकरार है। जब तक वह बिकनी पहनकर कैमरे के सामने पोज दे सकती है। जब उसका यौवन ढलने लगेगा तब उसे दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंक दिया जाएगा। बलवंत गार्गी का 'मॉडल गर्ल' उपन्यास स्त्री की इसी चकाचौंध भरी मॉडलिंग दुनिया के प्रति लालसा तथा उच्च आकांक्षा और इस विसंगतिपूर्ण दुनिया की असलियत का पर्दाफाश करता है। शालू एक सफल मॉडल बनने की असीम इच्छा रखती है जिसके लिए वह कुछ भी करने के लिए तैयार रहती है। बाजारवादी चाल की मोह में वह इस तरह ग्रसित होती है जिसके कारण उसका जीवन तहस-नहस हो जाता है। सुरेन्द्र वर्मा की शालू जहाँ इस बाजारवादी छलावा में मजबूरन फँसती है वहीं बलवंत गार्गी की शालू जानबूझकर कीचड़ में पाँव डालती है। मगर दोनों का अंतिम परिणाम दयनीय ही होता है। अत: यह बाजारवादी संस्कृति कभी भी नारी के लिए सुरक्षित नहीं है। आधुनिकता के नाम पर स्त्री को अपने घर-परिवार की चारदीवारी से यह मुक्त तो कर देता है मगर खुलेआम स्त्री की जिस प्रकार धज्जियां उड़ाता है वह वास्तव में दयनीय है। बाजार स्त्री की बोटी-बोटी नोच लेने के लिए सदैव तैयार रहता है। उपन्यास के आरंभ में ही शालू बाजारवादी दृष्टि से स्वयं को देखती नजर आती है – "मैं सोलह बरस की उम्र में भरपूर जवान हो गई थी। पूरा शबाब छलक रहा था मेरे अंगों में। लोगों की नजरें मुझ पर पड़तीं, उनकी आँखें काँच की दो गोलियों की तरह मेरी छातियों पर से फिसलती हुई गुजर जातीं।"[1] शालू अपने शरीर का नग्न प्रदर्शन का उपभोग करती है वह गर्व से कहती है – "एक दिन मैं बिकनी पहने समुंदर के झाग उड़ाते तट पर घूम रही थी, मस्ती कर रही थी ....भाग रही थी और पीछे मुड़-मुड़कर अपने लंबे स्याह बालों को हवा में उड़ते देख रही थी – बेलगाम घोड़ी की तरह भागी जा रही थी ....।"[2] शालू कहती है – "मेरे दिल में उमंग थी कि मैं भी मॉडल बनूँ। मेरा जिस्म, मेरे अंग मॉडल बनने के लिए ही ढले थे। मेरे जिस्म की रेखाएँ, गोलाइयाँ मॉडल बनने के लिए तड़प रही थी। फैशनेबल मॉडल।"[3] मॉडल बनने की चाहत में शालू परवेज जैसे

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 7

[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 8

[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 8

अधेड़ आदमी से विवाह कर लेती है मगर जब परवेज की असलियत से अवगत होती हे तो उसे छोड़कर भाग जाती है। परवेज जो फैशन फोटोग्राफर है वह शालू को अपने चाटुकारी बात से मोहित करता है – "शालू, औरत की असली क्लास बी.ए.,एम.ए. या अमीर घराने से नहीं परखी जाती। उसकी जात का उसके वर्ग से कोई ताल्लुक नहीं। उसकी परख उसके हुस्न से है।"[1] परवेज शालू को अपने जाल में फाँसने के लिए चने के भाड़ में चढ़ाता हुआ कहता है – "हुस्न का कोई मज़हब नहीं होता। कोई वर्ग नहीं होता। हुस्न खुद एक वर्ग है उच्चतम कोटि का एरिस्टोक्रेटिक वर्ग। शालू, तुमको किसी सामाजिक दर्जे की जरूरत नहीं। तुम अपने आपमें पूर्ण हो।"[2] परवेज के इस छलावा से प्रभावित होकर शालू अपने शरीर का नग्न प्रदर्शन करती है। शालू कहती है – "क्या ये सच न था कि मैंने अपनी अदाओं से उन्हें लुभाया था? अर्धनंगे आसनों से, अपने हुस्न को कैमरे के आगे पूरी तरह खोलकर उन्हें आकर्षित नहीं किया था?! फैशन की दुनिया में उनके संबंध ....हाई-सोसाइटी....पार्टियाँ ....मेरे ख्वाबों की दुनिया ....तरक्की की मंजिलें तय करने की सीढ़ियाँ ही तो थीं। मुझे अपने कैरियर की तरक्की की मंजिलें नजर आ रही थीं। कया यही राज न था उनसे शादी करने का?''[3] आधुनिक समाज का यही सच है। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री शोषण का यह अभिनव उपाय है। मगर स्त्री इससे अनभिज्ञ है। या तो वह इस भ्रम में भी मजा लेती है। अपने अंग का खुलेआम प्रदर्शन कर नाम कमाना चाहती है। परवेज से धोखा खाने के बावजूद वह उस विसंगत राह से मुक्त नहीं हुई बल्कि उसकी उमंग को नये पंख लग कये। वह अब फिल्म जगत में प्रवेश करने की सोचने लगी। रोजी उसे इस जगत में काम था होने का मंत्र देते हुए कहती है – "मंडी में अपना माल बेचना एक आर्ट है ....चाहे लिप्टन चाय हो ....चाहे लक्स साबुन.....ग्राहकों को लुभाना पड़ता है।"[4] उपभोक्तावादी समाज में स्त्री का सबसे अधिक दोहन हो रहा है। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल स्त्री के इस विकृत रूप का चित्रण करती हैं। कथा नायिका नमिता गरीब घर की होने तथा अपने पिता का अपाहिज होने के कारण कुछ भी करके पैसा कमाना चाहती है। नमिता की गरीबी का फायदा धनी महिला अंजना वासवानी उठाना चाहती है।

---

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 10
[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 10
[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 21
[4] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 51

उसे पैसा का मोह देकर उससे मॉडलिंग कराना चाहती है। एक औरत होकर अंजना वासवानी नमिता का शोषण अत्यंत शातिर तरीके से करना चाहती है। एहसानों के बोझ के नीचे नमिता को दबाकर उससे नग्न प्रदर्शन करवाना चाहती हैं। नमिता की माँ इससे क्रोधित होकर कहती है – "बड़े कसीदे काढ़े उसने इच्छा पूरण देवी के! उनकी बहबूदी में रामायण-भागवत बाँच सुनाई? उन-सी कौन? हजारों-सैकड़ों में नए-नोखे वे एक। वही इच्छापूरण देवी तक नहीं भकुटी थीं कि टाइपिंग, शार्टहैंड के साथ उसे उनके गहनों-गुरियों की भी मॉडलिंग करनी होगी? कपड़े उतार नंग नमंग बेचने को भरे बाजार खड़ी रहना होगा? मॉडलिंग कोई शरीफों का पेशा ठहरा? फैशनमारियों की सरेआम रंडीबाजी है, रंडीबाजी! चार ठो फोटुओं की खातिर कोई टेंट से दस हजार ढीले करता है? मूरख वो किसी और को बनाए।"[1] नमिता को अपनी माँ की यह बात कठोर लगी। उसने सोचा की इतनी भलाई करने वाली औरत के खिलाफ माँ अनाप-शनाप बकती है। नमिता माँ की बात को अनसुना करती है। परंतु नमिता की माँ असलियत से वाकिफ थी। बुजुर्ग होने के नाते दुनियादारी की उन्हें समझ होती है। अंजना वासवानी जैसी औरत नमिता जैसी हताश युवतियों को अपने जाल में फाँसकर उनसे कुत्सित कार्य करवाती है। मूल्यवान उपहार देकर अपने कुशल एवं शालीन व्यवहार से ये औरत नमिता जैसी युवतियों को बेवकूफ बनाकर जाल में फाँसती हैं और जब ये पूरी तरह उनकी कैद में आ जाती हैं तब ये शातिर औरतें उनसे मनचाहे कार्य पैसों का लालच देकर उनसे नग्न प्रदर्शन करवाती हैं। नमिता की माँ कहती है – "ऐसी पगलैट नहीं बे! उनकी बाईं आँख उसी रोज फड़फड़ाने लगी थी जब हरामिन इच्छापूरण देवी ने जन्म दिन की आड़ ले, चांद का जूता सिर टनकाया। कीमती कपड़े-लत्ते, जूता, पर्स फेंक। कल जाके साफ-साफ कह आए – सीधे-सीधे नौकरी खटवानी है तो खटवाए। मॉडलिंग-फाडलिंग के चकमे-चक्कर नहीं चलेंगे। घर रखे दस हजार की गड्डी।"[2]

अंतिम दशक में यह एक सामाजिक व्याधि बन गया था। जिसमें स्त्री कभी असहाय होकर तो कभी जान बूझकर इस दलदल में फँसती जाती है। इसे समाज का विकास नहीं बल्कि विकृति कहा जाएगा।

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 241-242

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 242

2.2.8 बाल श्रम

बाल श्रम समाज की एक व्याधि है जहाँ नाबालिक बच्चों को कारखाना, होटल तथा अन्य बेसरकारी संस्थाओं में कम वेतन में बहुत ज्यादा काम कराया जाता है। उनकी खेलने कूदने तथा पढ़ाई करने की उम्र में उन्हें भूख मिटाने के लिए काम करना पड़ता है। बाल श्रम समाज में गैर कानूनी है। मगर फिर भी इसकी तादाद दिन ब दिन बढ़ती जा रही है। गरीब माता-पिता अपने बच्चों को दो वक्त का खाना भी नहीं दे पाते हैं और मजबूरन उन बच्चों को काम करना पड़ता है। मिल मालिक इन बच्चों को कम वेतन में काम कराते हैं अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए। और उन पर तरह-तरह का जुल्म करते हैं। बच्चे होने के नाते उनमें सही गलत की समझ नहीं होती है और न काम करने की योग्यता। मालिक लोग इसलिए उनका शोषण करते रहते हैं, उन्हें मारते हैं। उनके वेतन में कटौती करते हैं। शारीरिक तथा मानसिक यंत्रणा के कारण कभी-कभी उनकी जान भी चली जाती है मगर इसका फर्क मालिकों तथा समाज पर नहीं पड़ता है। कोई भी इन मासूम बच्चों के बारे में नहीं सोचता है। जिंदगी और मौत के साथ ये मासूम बच्चे जूझते रहते हैं। कोई भी मददगार संस्था उन्हें नहीं बचा पाती है।

‘कठगुलाब’ उपन्यास में मृदुला गर्ग ने समाज की इस विकट व्याधि का चित्रण किया है। उपन्यास का एक पात्र नर्मदा एवं उसका भाई दोनों एक चूड़ी कारखाने में बाल श्रमिक के रूप में काम करते हैं और उनका मालिक उन पर बहुत अत्याचार करता है। जब नर्मदा गरम शीशे की लब दौड़कर जोड़ीदार (चूड़ी बनाने वाला) को देकर थक जाती है तो उसकी आँख लग जाती है और तब उसका मालिक आकर उसकी कमर पर लात मारते हुए कहता है – “हराम की औलाद। लग काम पे। सोने के पैसे नहीं मिलते, हरामी, कामचोर।”[1]

बच्चे होने के नाते नम्रदा एवं उसके भाई में समझ नहीं होती है जिसका फायदा ठाकुर उठाता था। ठाकुर उन्हें बहला फुसलाकर काम करवाता था। वह नर्मदा को प्रलोभन देकर काम करवाता है। ठाकुर नर्मदा से कहता है – “देखें तू कित्ती तेज दौड़ सके है, एकदम भागी हुई जा, और लब जोड़ीदार

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 130

के पास पहुँचा दे। देरी हुई तो सीसा ठंडा हो जाएगा। फिर चूड़ी कैसे बनेगी? तू पहनेगी चूड़ी? ले।"[1] और नम्रदा इतना खुश हुई कि जी जान लगाकर दौड़कर लब पहुँचाती रही।

जब मीडिया वाले उन बच्चों का साक्षात्कार लेने आते हैं तब उनका ठाकुर उन्हें पहले से चेता देता है उनसे कुछ न कहने के लिए - "तुम लोगों को फुसलाने डायनें आवेंगी। जो बोलेगा, उसे झोली में डाल, उठा ले जावेंगी। जाकर कसाई को बेच देंगी। काट-कूट के कीमा बनाएगा और बेच देगा ढाबों को। कुछ भी पूछे, मुँह बंद रखना, एकदम चुप। यों गूँगे हो जैसे।"[2] लेकिन नर्मदा जो भुगत रही है सब सच सच बता देती है। ठाकुर को इसके बारे में पता चल जाता है और नर्मदा पर अत्याचार करता है। "हरामजादी! बहोत जबान चलाने लगी है और ठाकुर ने नर्मदा को कान से खींचके उठाकर सामने दीवार पे दे मारता है।[3]

गरीबी के कारण नर्मदा एवं उसके भाई जेसे अनेक बच्चों को श्रम करना पड़ता है। माता-पिता चाहते हुए भी अपने बच्चों को दो वक्त का खाना, पोशाक एवं शिक्षा देने में असमर्थ होते हैं और परिस्थिति उन्हें मजबूर कर देती है बाल श्रम के लिए। नम्रदा के माता-पिता उसके बचपन में ही मर जाते हैं। वह अपनी बहन एवं जीजा के साथ रहती है मगर उन लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण नर्मदा बहुत छोटी उमर में ही चूड़ी कारखाने में काम करने लगी है। जहाँ उसे बहुत काम करना पड़ता था। नर्मदा कहती है – "जल-जल के मुर्दा पड़ चुकी उँगलियों की पोरें। उँगली क्या, हाथ-पाँव, सिर आँख, सब जला करें थे भट्ठी की झुलस में। हाँ, जहाँ तहाँ फफोले पड़ा करें थे बदन पे, पिघले सीसे के छींटों से। हाँ दरद से तड़पा करूँ थी मैं, बिलखा करूँ थी, बिलबिलायाँ करूँ थी। लगा देवें थे फिर काम पर।"[4]

सरकार ने बालश्रम के खिलाफ कानून तो बनाया है मगर अपने गली तथा बाजार में आये दिन इन नन्हें मजदूरों को देखने से इन कानूनों की कार्यकारिता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। साहित्य में भी इस समस्या पर विचार किया जाता है। 'पंचनामा' उपन्यास में वीरेन्द्र जैन ने इस पर पाठकों का ध्यान

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 129
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 132
[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 135
[4] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 131

आकर्षण करने का प्रयास किया है। एक अनाथ लड़के अकलंक को दुकानदार नाबालक होने के कारण नाम बदलकर काम पर रखता है अकलंक से दुकानदार कहता है – ''दरअसल तुम 18 साल के नहीं हो न। तुम्हें नौकरी पर नहीं रखा जा सकता। सेठ जी ने कहा था कि तुम्हारा नाम न लिखकर कोई और नाम रजिस्टर में लिखा जाए। ये देखो .....मैनेजर ने एक नाम पर ऊँगली रखकर कहा। यहाँ रजिस्टर में तुम्हारा यह नाम है। इसी के आगे दस्तखत करो।''[1]

2.2.9 कोख का विक्रय

बाजारवादी व्यवस्था में ऐसा कुछ नहीं बच पाया है जिसकी कीमत न लगायी जा सके। अब ऐसा समय आ गया है जहाँ केवल 'पैसा फेंको और तमाशा देखो' की स्थिति है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दृश्यमान हुआ। फलत: भारत भी पाश्चात्य चाल-ढाल में ढलने लगा और आधुनिक बनने के लिए पश्चिम की रीति-रिवाज का आँख मूँदकर अनुकरण करने लगा। इस अनुकरण के कारण हम अपने सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक मूल्य को पीछे छोड़ने लगे हैं। प्राचीन काल में राजा महाराजा बच्चे पैदा करने के लिए अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे और सभी को रानी का दर्जा देते थे। मगर आधुनिक युग में पैसे देकर किसी औरत की कोख को खरीदा जाता है बस बच्चे पैदा होने की अवधि तक और यहाँ पर शादी या उत्तराधिकार की नौबत नहीं आती है1 इस प्रक्रिया में जो दंपत्ति कोख खरीद रहे हैं और जो कोख बेच रही है उनकी रजामंदी के बल पर सभी कार्य होते हैं और बच्चा जन्म होने के पश्चात असली माँ अपने बच्चे को खरीददारों को हस्तांतरण कर हमेशा के लिए चली जाती है। और इस प्रक्रिया में कानूनी कार्यवाही भी होती है ताकि भविष्य में असली माँ बच्चा की माँग न करे। इसके लिए कोख विक्रय करने वाली औरत को ऊँची कीमत अदा की जाती है। अर्थ केन्द्रित समाज में कोख का विक्रय एक विसंगति बनकर उभरा है।

चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' में इस विसंगति पर चर्चा की गई है। उपन्यास में गौतमी एवं नमिता के द्वारा इस स्थिति को उजागर किया गया है। संजय कनोई एक बहुत बड़ा आभूषण का व्यवसायी नमिता की कोख से अपना बच्चा प्राप्त करना चाहता है क्योंकि उसकी पत्नी बच्चे को

[1] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 194

जन्म देने में असमर्थ है। इसलिए संजोई कनोई गरीब नमिता को अपने प्रेम के जाल में फांसता है उस पर बहुत धन खर्च कर उसे अपने लायक बनाता है। नमिता इस बात से बिल्कुल अनभिज्ञ है। संजय कनोई की असलियत का पर्दाफाश तब होता है जब नमिता का गर्भपात किसी कारणवश हो जाता है। संजय कनोई को इससे बहुत बड़ा धक्का लगता है। वह बौखला जाता है और नमिता के ऊपर बरस पड़ता है – "झूठी ....प्राण ले लूंगा मैं तुम्हारे ....मुझे मेरा बच्चा चाहिए .....बच्चा! जानती हो? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया? उस मामूली औरत अंजना बासवानी की औकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके? उसका जिम्मा सिर्फ इतना भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए। वह ऐसी पचासों लड़कियों को परोस सकती थी जो मुझसे यौन संबंध कायम कर केवल पहत्तर हजार में मुझे बाप बना सकती थी .....।"[1]

संजय कनोई नमिता से कहता है – "मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेकों से सौदा कर चुकी हो – मुझे नहीं गवाराथी ऐसी किराये की कोख! मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो ....पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बने! सिर्फ मुझसे सहवास करे.....हमारा मिशन सफल रहा ....तेरह वर्ष बाद मैं बापबना ...अपने बच्चे का बाप। उस औरत से जिसे मैं सचमुच प्यार करने लगा! उसी ने ......उसी ने मुझे धोखा दिया? मेरे बच्चे की जान ले ली!''[2] पुरुष स्त्री को छलने या प्रताड़ना या शोषण करने का कोई भी मौका गँवाना नहीं चाहता है। औरत हमेशा अपने भोलेपन तथा नादानी के कारण प्रताड़ित होती है। नमिता की गरीबी तथा उसकी शर्तहीन प्रेम का फायदा संजय कनोई जैसा धोखेबाज इस तरह से उठाता है। वह कहता है – "बल्कि मैंने ....मैंने निर्मला को पिछले दिनों तुम्हारे बारे में बताकर मना लिया था ....जैसे ही बच्चा होगा हम उसे गोद ले लेंगे। निर्मला तुमसे मिल चुकी है। उसे कोई आपत्ति नहीं हुई। शादी मैं तुमसे करूँ, न करूँ ....मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशो आराम से रह सकती थी...।"[3] नामी गिरामी उद्योगपति छेड़ा साहब का। जापान में उनके संग डेढ़ साल रही

---

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 539
[2] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 539
[3] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 539

गौतमी। छेड़ा साहब की पत्नी मुम्बई लौटीं तो अपनी सूनी गोद में बेटा लेकर। व्यवसायी समाज में उन्होंने झूठ उड़ा रखा था कि मिसेज छेड़ा गर्भवती हैं। दुनिया का कोई इलाज मिसेज छेड़ा को माँ नहीं बना सकता था .....।"[1]

अंतिम दशक की यही सच्चाई है। जहाँ मनुष्य की समस्त नैतिकता, मानवीयता दम तोड़ती नजर आ रही हैं। अर्थ उन सबको क्रय करने का सामर्थ्य रखता है। अत: विसंगतियों से घिरे समाज में मनुष्य किस ओर अग्रसर हो रहा है यह विचारणीय है। 'कठगुलाब' उपन्यास में भी लेखिका ने कोख के विक्रय के बारे में चित्रण किया है। आधुनिक विचारधारा वाले विपिन को जब यह ज्ञात होता है कि असीमा बच्चा पैदा नहीं कर सकती है तब वह किसी दूसरी औरत के कोख से बच्चा प्राप्त करना चाहता है। वह कहता है – "जब मुझे पता चला कि असीमा के माध्यम से मुझे बच्चा नहीं मिल सकता तो सामने दो विकल्प दिखलाई दिये। असीमा के साथ मिलकर गोद लिए हुए बच्च को पालना या अन्य किसी कम उम्र युवती से संतान प्राप्त करना।"[2] विडम्बना यह है कि यह विचारधारा लोगों में प्रबल होती जा रही है। पति-पत्नी अपने काम में इतना व्यस्त रहते हैं कि उनके पास बच्चे के बारे में सोचने के लिए समय नहीं है और उम्र की ढलान के बाद जब ये शादी करना चाहते हैं तब तक बच्चे पैदा करने की शक्ति इनमें नहीं रहती। मगर अर्थ के बल पर किसी और औरत की कोख से बच्चा प्राप्त करते हैं चाहे मन माने या न माने। उनके पास कोई विकल्प नहीं होता है।

2.3 काम

हिंदू विचारधारा के अनुसार 'काम' को पुरुषार्थ के अंतर्गत महत्वपूर्ण माना गया है। सांसारिक जीवन निर्वाह के लिए मानव सम्प्रदाय के लिए 'काम' के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है। वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा के अनुसार – " 'काम' व्यक्ति की सहज कामनाओं व वासनाओं का द्योतक है और इसी से यह निम्नतम कोटि का पुरुषार्थ माना जाता है।"[3] काम शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्तर पर व्यक्ति को आनन्द प्रदान करता है। जीवन को संतुलित बनाने के लिए धर्म और अर्थ के साथ-साथ काम की

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 540

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 217

[3] भारतीय सामाजिक संस्थाएँ - वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ.सं. 13

भी मुख्य भूमिका है। कामोइच्छा में विकृति से समाज में विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं। व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर असामाजिक बन जाता है। वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा कहते हैं – " 'काम' मानव के सहज स्वभाव और भावुक जीवन को अभिव्यक्त करता है तथा उसकी काम भावना और सौंदर्यपिय्रता की प्रवृत्ति की संतुष्टि करता है। इस रूप में 'काम' के दो पक्ष हैं – एक व्यापक और दूसरा संकुचित। व्यापक अर्थ में काम का अर्थ उन सभी इच्छाओं की संतुष्टि से है जो इंद्रिय परक हैं अथवा मानव के सौंदर्यात्मक अथवा भावुक पक्ष को व्यक्त करती है। संकुचित अर्थ में 'काम' व्यक्ति के यौन संबंधी जीवन को व्यक्त करता है – अर्थात एक पक्ष कामना से संबंधित है तो दूसरा वासना से संबसंधित है और ये दोनों ही पक्ष मानव जीवन की सहज प्रवृत्तियाँ हैं।"[1] आधुनिक समाज में यह संकुचित अर्थ में ही सीमित हो गया है। इसलिए मनु ने 'काम' को तामस-वृत्ति के अंतर्गत स्थान दिया है। इसलिए यह सर्वमान्य है कि 'काम' को 'धर्म' के द्वारा नियंत्रित किया जाता है ताकि व्यक्ति तथा समाज में संतुलन बनाया जा सके। राघवेन्द्र पान्थेरी कहते हैं – "जब मनुष्य अत्यधिक कोमेच्छुक होता है तब उसमें विवेक शून्यता की स्थिति पैदा हो जाती है और इससे व्यामोह की उत्पत्ति होती है। काम की यह स्थिति ही तामसिक है।"[2] आधुनिक समाज काम के इसी तामसिक रूप से ग्रसित है। मुख्य रूप से आज की युवा पीढ़ी 'काम' के संकुचित दायरे में इस तरह फँस गये हैं जिसके कारण समाज में अनैतिकता, हिंसा, अपराध आदि आसमान छूने लगे हैं। संक्रमण के इस भयंकर दौर में 'काम' का जिस प्रकार गलत इस्तेमाल किया जा रहा है उससे हमारे समाज में भारी नैतिक स्खलन हो रहा है। मनुष् में जिस प्रकार यौन विकृतियाँ उत्पन्न होने लगी है उसका परिणाम यौन शोषण, बलात्कार, मुक्तभोग, समलैंगिकता आदि अनेक रूपों में आज समाज में विद्यमान हैं।

2.3.1 मुक्त भोग

उत्तर आधुनिकता के प्रभाव के चलते समाज में यौन संबंधों के प्रति स्वच्छंद दृष्टि रखने वाली नारियों का एक अलग वर्ग सामने आने लगा है। सदियों से दमित इच्छाएँ आज इस स्वच्छंदता के रूप में उभरने लगी हैं। समाज की शिक्षित तथा उच्च वर्ग की नारियों में यह एक फैशन बनता जा रहा है।

---

[1] भारतीय सामाजिक संस्थाएँ - वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ.सं. 14

[2] प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन - राघवेन्द्र पान्देरी, पृ.सं. 125

पुरुष के जैसा बनने के अथक प्रयास ने उन्हें आज इन विसंगतियों से जूझने के लिए बाध्य कर दिया है। मानचन्द खेडेला कहते हैं – "पश्चिमीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति, आधुनिकीकरण की गलत धारणा, संचार माध्यमों में हो रही क्रांति, घटती जा रही भौगोलिक दूरियाँ, महिला आंदोलनकारियों के बढ़ते जा रहे प्रभाव, स्त्री-पुरुष की बढ़ती समानता, नौकरी पेशा में महिलाओं की बढ़ती संख्या जेसे कारण भी यौन विकृतियों व स्वच्छंद यौनाचार के लिए जिम्मेदार हैं।"[1] स्त्री आज अनेक पुरुषों के साथ यौन संबंध स्थापन करने को मुक्त चिंताधार के अंतर्गत मानती है। स्वतंत्रता के नाम पर मुक्त भोग रूपी स्वेच्छाचार की वह सराहना करने लगी है। स्त्री की इस स्वच्छंदता को अनेक साहित्यकारों ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। चित्रा मुद्गल 'आवां' उपन्यास में स्त्री की इस विकृति पर चर्चा करती हैं। इस उपन्यास में ऐसे अनेक नारी पात्र हैं जो यौन स्वच्छंदता के पक्षधर हैं। नमिता की सहेली मुक्तभोग करने की पक्षधर है। इसलिए वह अनेक पुरुषों के साथ संबंध रखती है और अपने पुराने बाय फ्रेंड शरत को कंडोम इस्तेमाल नहीं कर पाने के कारण छोड़ देती है। स्मिता शरत से कहती हे – "इसलिए होगी गधे की औलाद कि मैं तेरे बच्चे की कुँआरी माँ नहीं बनना चाहती और जो लड़का कंडोम इस्तेमाल करना नहीं जानता, वह मेरा प्रेमी होने के काबिल नहीं। बैठ घर में।"[2] नमिता की सहेली ममता उसे ब्यूटी पार्लर के विषय में अनेक बातें कहती है। ब्यूटी पार्लर में किस प्रकार महिला यौन सुख देने में कुशल होती हैं। इस बारे में भी नमिता ममता से सुनी हुई होती है। यहाँ तक कि ममता नमिता से यह भी बताती है कि "चीनी और देशी लड़कियों की कुशलता में क्या अंतर है। 'काम सुख' पहुँचाने में चीनी लड़कियों के कौशल का जवाब नहीं। उसने कॉले की शिप्रा के बारे में कनफुस्सी की थी कि वह 'हिल रोड' के 'गार्सियाना' में अक्सर 'काम सुख' भोगने जाया करती है। बाप फिल्म निर्माता है। काले पैसे का अंबार कहाँ खिसकाए?''[3] विशेषकर आर्थिक रूप से स्वतंत्र तथा शिक्षित नारी में यह मनोभाव प्रखर है। नारीवाद के नाम पर कुछ स्त्रियाँ अस्वस्थ वातावरण उत्पन्न करती हैं जो नारीवाद के नाम पर कलंक है। नारीवाद के लक्ष्य तथा उद्देश्य से अनभिज्ञ कुछ स्वच्छंद नारी इसे बदनाम करने पर तुली हैं।

---

[1] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न - मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 33

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 205

[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 216

पुरातन युग से ही पुरुष के साथ स्त्री के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और स्त्री-पुरुष को विवाह के बंधन में बांधकर उनके काम संबसंध को पवित्र माना गया है तथा समाज में संतुलन स्थापन के लिए भी महत्वपूर्ण माना गया है। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। इसे समझकर ही साथ चलने में समझदारी है। मगर आधुनिक नारी स्त्री-पुरुष के इस संबंध को नकारने लगी हैं। विवाह बंधन को पुरुष सत्ता का षड्यंत्र मानने लगी हैं। इसलिए पुरुष को प्रताड़ित करने में उसे आज आत्मतृप्ति मिलती है। 'जैसे को तैसा' मनोभाव से स्त्री आज ग्रसित है। पुरुष उसके साथ जो करता आया है आज वह पुरुष से इसका बदला लेने पर उतर आई है। ऐसी अवस्था में घर उजड़ना स्वाभाविक बन गया है। नर्सिंग होम में जब नमिता से डॉ. वनजा कहती हैं – "ऊब गई हूँ मैं लड़कियों की इन नादानियों से। ऐसे पैसों की जरूरत नहीं इस नर्सिंग होम को। सौ में से प्रत्येक पांच लड़की स्वतंत्र यौन संबंधों में अपना वजूद तलाश रही। समता तलाश रही। अधिकार तलाश रही। तलाश लिया? पा लिया?''[1] वास्तव में पथभ्रष्ट नारी यहाँ भी प्रताड़ित होती है। फर्क बस इतना है कि यहाँ वह अपनी इच्छा से अपनी दुर्गति चुनती है।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' उपन्यास में स्त्री की स्वच्छंदता से त्रस्त होकर विपिन नीरजा से कहता है – "यह सारा नाटक तुम मुझे पीड़ा पहुँचाने के लिए करती हो। पर मुझसे ज्यादा दु:ख तुम खुद पाती हो। यही होता है। पर-पीड़न की परिणति आत्म-पीड़न में ही होती है।"[2] अंतिम दशक में स्त्री की वास्तविकता यही है। 'कठगुलाब' उपन्यास में नीरजा, असीमा आदि मुक्त भोग में विश्वास रखने वाली स्त्री है। यहाँ तक कि विपिन भी स्त्री के इस पक्ष से सहमत होता है क्योंकि वह भी स्त्री के साथ चिरंतन बंधन में बंधना नहीं चाहता है। विपिन कहता है – "चूँकि मैं जानता था कि उत्कट भावानुभूति, मुझे पुरुष में नहीं, स्त्री में मिलेगी, इसलिए मैं स्त्रियों का साथ ढूँढा करता था। पर केवल ऐसी स्त्रियों का, जो स्थायी संबंध बनाने में दिलचस्पी न रखती हों, जो पूरी तरह से आत्म-केन्द्रित और तर्कशील हो।"[3] उत्तर आधुनिकता के इस भयंकर दौर में पुरुष नजरिया में भी काफी बदलाव आने लगा है। उसे भी घर परिवार तथा यौन संबंध से बंधती औरत स्त्री के रूप में नहीं चाहिए। विपिन कहता है – "एक और

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 500
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 259
[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 213

आश्वासन मैं उसे दे सकता था। हमारे विवाह में सेक्स-संबंध अनिवार्य नहीं था। वह चाहेगी तो होगा, वरना हम अन्य किसी से संबंध बनाने को स्वतंत्र होंगे।"[1] 'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा भी स्त्री की यौन-स्वच्छंदता का चित्रण करती है। सारंग जो एक गाँव की विवाहिता औरत है उसमें लेखिका ने मुक्तभोग के प्रति लालसा को दिखाने का प्रयास किया है। एक विद्रोहिणी नारी के रूप में सारंग एक पुरुष के साथ बंधकर रहना नहीं चाहती है इसलिए अपने गाँव के ही स्कूल शिक्षक श्रीधर के साथ योन संबंध रखने में तनिक भी कुंठाबोध नहीं करती है। लेखिका यहाँ तक कि बूढ़ी चाची में भी यह मनोदशा दिखाती है। चाची सारंग से कहती है – "हाथ लगाऊँ तो बाँसन कूछे-उछिते। अब क्या करूँ? अरी मैंने कर्रे पकड़ लिया और ऐसे मालिस करी जैसे छ: महीना का बालक हो। और फिर खाट पर लोट गई उसके बरब्बर में। बोल दिया कि लल्लू के लासी, भूल जाओ रिश्ते नाते। नाज लिहाज त्यागन कर दो। उमर का भेद नहीं रह गया हमारे बीच। इस घड़ी तुम मर्द और मैं वैयर ....सारंग, जो काम उस नाँसिया को करने थे, सो मैंने किए। मरी मरदारी के हाथ फेर-फेरकर चेतन्त किया और तुरत ही अपने लत्ता खोल के एक ओर पटक दिए। जता दिया, समझा दिया कि मेरा कुछ नहीं बिगड़ा जाता। और फिर ये तो देह रहते के खेल है रे। पाप-पुन्न मत सोचना।"[2] इस कथन से ऐसा लगता है कि अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते गाँव भी इस विकृत चिंताधार से ग्रसित होने लगा है।

'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में लेखक ने महानगर में फैलती जा रही इस चिंताधारा का सजीव चित्रण किया है। पाश्चात्य प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित महानगरीय जीवन शैली मुख्य रूप से उच्च वर्ग की नारियों में यौन संबंध के प्रति स्वच्छंदता साधारण बात बन गई है। यहाँ तक कि विवाहिता स्त्रियों में भी मुक्त भोग की कामना चरम पर अवस्थापित है। कुमुद नील से कहती है – "तुम्हारे जैसा सजीला युवक किताबों से अपना सिर खपाये, यह बंबई के युवती समाज का अपमान है।"[3] स्त्रियों की इस यौन स्वच्छंदता के कारण ही नील जैसा मेधावी तथा ईमानदार युवक को पुरुष वेश्या बनना पड़ा। कुमुद जैसी मुक्तभोगी औरत पुरुष को अपनी ऊँगली पर नचाती है। नील सोचता है

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 217
[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 104
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 48

– "इस दौरान कुमुद उसकी यौन-गुरू हो गई थी। नील को इतना तो एहसास था कि स्त्री पुरुष की शारीरिक निकटता होती है, लेकिन यह प्रक्रिया इतनी दुरूह, गहन और जटिल भी हो सकती है। यह उसने कुमुद से सीखा।"[1] पारूल, कुमुद, शिल्पा, यास्मीन, ब्लॉसम आदि स्त्रियाँ महानगर की उन उच्च तथा शिक्षित वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनमें यौन विकृति उन्हें अनैतिकता से भरती है। वे इस स्वच्छंदता में ही स्वतंत्रता मानती है। नील इन तमाम स्वच्छंद स्त्रियों के साथ योन संबंध स्थापन करके उनके बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करता है। महानगर की इन औरत की सच्चाई से अवगत होकर भी इससे विरत नहीं होती है। उनके लिए यह फैशन बन गया है और उनमें यह अहं है कि पैसों के बल पर वे कुछ खरीदने के लिए मुक्त है। दैहिक सुख ही क्यों न हो। नील कुमुद के बारे में सोचता है – "संभोग के बाद आम तौर से स्त्री अपराध भाव से भर जाती है। प्रेमी के साथ कोई सामाजिक रिश्ता नहीं। यह अंधेरे का संबसंध है और वह भीतरी-बाहरी आवरणों को विसर्जित करके स्त्रीत्व की सबसे गहरी अनुभूति से सिहर चुकी है। अब उसे आपसी लगाव का रेखांकन चाहिए, परम निकटता का सांत्वना देने वाला आलिंगन चाहिए। विपरीत लिंगी संपूर्णता को व्यंजित करने वाले चुम्बन चाहिए। वे स्पर्श चाहिए जो कहे कि समय के इस मोड़ पर हम एक और अविभाज्य हैं, संपूर्ण हैं।"[2] बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की यह विशिष्टता रही कि स्त्री समस्त रूढ़ मान्यताओं को तोड़ने की लालसा में अनेक अनैतिक कार्य में नियोजित हो रही है जिसका समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

2.3.2 बिन ब्याहे माँ

बीसवीं सदी में समाज आधुनिकता की लहर से इतना प्रभावित है जहाँ भारतीय समाज के समस्त मूल्य, मर्यादा, परम्परा टूटते बिखरते नजर आ रहे हैं। शिक्षा के प्रचार प्रसार ने लोगों को नव जीवन दृष्टि प्रदान की। अन्य संस्कृति को जानने-समझने का मौका पाकर उसका अनुकरण भी करने लगे। फलस्वरूप हमारे समाज का बसा-बसाया सामाजिक तथा नैतिक मूल्य पद दलित होने लगा। स्त्री-पुरुष इस बदलाव का मुक्त रूप से स्वागत कर रहे हैं। हमारे देश में विवाह को हमेशा पवित्र संबंध

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 58
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 64

स्वीकारा गया है। इसमें बंधकर ही स्त्री-पुरुष को कानूनी तथा नैतिक दृष्टि से मानसिक तथा दैहिक संबंध स्थापित करने की स्वीकृति मिलती है। क्षमा शर्मा विवाह के बारे में कहती हैं – "यह जीवन ऐसा होना चाहिए जो जीवन के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हो सके। जीवन के इन्हीं लक्ष्यों के लिए स्त्री-पुरुष के मध्य विषय सेवन का संबंध, जिसे एक विशिष्ट आयु का आकर्षण और आनंद की परिणति समझा जाता है, संतानोत्पत्ति का कारण बनकर, पीढ़ी दर पीढ़ी के रूप में जीवन के विकास का आधार बनता है। विवाह संस्था द्वारा जीवन के मोड़ के इसी मनोविज्ञान को धार्मिक संस्कार और सामाजिक मान्यता देकर उसकी पुष्टि ही नहीं की जाती बल्कि उसे अनुशासनबद्ध तरीके से विकसित होने की दिशा भी नियत की जाती है।"[1] परन्तु विडम्बना यह है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विवाह की यह मान्यता टूटने लगी हैं। सामाजिक परिस्थितियों में भारी परिवर्तन के कारण शिक्षित युवक युवती अपने कैरियर बनाने के लिए जलदी विवाह के बंधन में बंधना नहीं चाहते हैं, परन्तु अन्य पक्ष में इन्हें वह खुलापन या आजादी चाहिए जहाँ वे अपने हिसाब से जीवन जियें। आधुनिक शिक्षा का खुलापन, विज्ञापन का प्रचार-प्रसार आदि इन युवक-युवतियों को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। ऐसे हालात में इनमें विकृत काम संबंध का मोह जगता है। पुरुष-स्त्री एक दूसरे को जाँचने परखने के लिए पहले साथ रहते हैं, यौन संबंध स्थापन करते हैं। यहाँ तक कि अविवाहित माँ-बाप बनने में भी हिचकते नहीं। जो कार्य विवाह में बंधकर किया जाना चाहिए यह आधुनिक युवा-युवती विवाह से पूर्व वह सब कुछ कर लेना चाहते हैं। क्षमा शर्मा इसके बढ़ावा के पीछे यह कारण देती हैं – "इस समस्या को बढ़ाने में अश्लीलता परोसते टी.वी. चैनल, प्रेम के नये तीरकों को परिभाषित करती हुई देशी विदेशी फिल्में, गर्भ निरोधक तरीकों के विज्ञापन और समाज में बढ़ता हुआ खुलापन और भी सहायक सिद्ध हो रहा है।"[2] काम प्रधान समाज में मनुष्य विषय सेवन के लिए सभी रीति-रिवाजों का अपने हिसाब से तोड़-मरोड़ करता है। शिक्षित स्त्री भी पुरुष के इस विसंगत कार्य में भागीदारी करती हैं। विवाह के प्रति उसके मन में जो रूढ़ियाँ भर दी गयी थीं वह भी इससे छुटकारा चाहती हैं। इसलिए बिना विवाह के माँ बनना उसके लिए उस पुरुष सत्तात्मक समाज के लिए चुनौती है। इस आड़ में स्त्री यह भी दिखाना चाहती है

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा शर्मा, पृ.सं. 83

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा शर्मा, पृ.सं. 86

कि वह अब अबला नहीं रही। अपने हिसाब से जीवन चुनने के लिए वह आज स्वतंत्र है। 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में वर्षा ऐसी ही नारी है जो पिता तथा परिवार के विरूद्ध जाकर उन्मुक्त जीवन का चयन करती है। बिना विवाह किए ही हर्ष के बच्चे की माँ बनना चाहती है। आर्थिक स्वतंत्रता के कारण स्त्री आज आत्मविश्वास से भरने लगी है। उसे अब पिता तथा भाई के द्वारा चुने गये लड़के से अपने इच्छा के विरूद्ध शादी करना मंजूर नहीं है। वर्षा भी हर्ष को स्वयं पसंद करती है। स्त्री जब घर के चारदीवारी से बाहर निकलती है तब उसे पुरुष के समीप आने के अनेक मौके मिलते हैं जिनसे वह निस्संकोच संबंध स्थापन करती है और धीरे-धीरे दोनों में निकटता होती है और अंत में दोनों में संपर्क स्थापन होता है। वर्षा के साथ ही यही हुआ। हर्ष के साथ वह नाट्य विद्यालय में पढ़ते समय मिली, धीरे-धीरे दोनों में निकटता, फिर प्रेम और दोनों में दैहिक संबंध स्थापन होता है। "वर्षा ने आर्थिक स्वावलंबन को आज की नारी के जीवन की धुरी माना था।"[1] वर्षा शादी करके अपने कैरियर में बाधा डालना नहीं चाह रही थी। उसके लिए विवाह से बढ़कर हर्ष से बढ़कर उसका फिल्मी कैरियर है जिसके लिए वह अपने घर परिवार को छोड़कर शहर में चली आई थी। जब हर्ष से शादी करने की बात चलती है तब वह सोचती है – "कई कारण थे जो उसे मनाही का संकेत दे रहे थे। पहला कारण कलात्मक था। अभी उसने रचनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण का एक चरण पूरा किया है। अभी उसकी उपलब्धि क्या है?"[2] वर्षा के लिए हर्ष से ज्यादा उसकी रंगमंच महत्वपूर्ण था। घर गृहस्थी में फँसकर वह अपने कलात्मक कैरियर को छोड़ना नहीं चाहती है। वर्षा कहती है – "मैं रंगमंच के बिना नहीं जी सकती। गृहस्थी और बच्चे मंचोपरिस्थिति के जादू का स्थापन्न नहीं हो सकते। अगर उसके पति का तबादला हुआ तो वह रिपर्टरी के बजाय उसे छोड़ देगी। दूसरा कारण आत्मसम्मान से जुड़ा था।"[3] मगर इस मुक्त तथा आत्मकेन्द्रित चिंताधारा के बाजवूद वर्षा हर्ष के साथ दैहिक संबंध रखने में नहीं चूकती। हर्ष के साथ उसके अहं के टकराव वर्षा को विवाह में बँधने से पूर्व बार-बार सोचने के लिए मजबूर कर रहे थे। आधुनिक समाज में यह पश्चिमी सभ्यता का ही प्रभाव है जहाँ स्त्री-पुरुष में अहं के टकराव के कारण

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 532
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 163
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 163

उनमें साझेदारी के बजाय प्रतिद्वंद्विता बढ़ी है जिसके कारण वे शादी करके पश्चाताप करना नहीं चाहते हैं। मगर एक दूसरे के साथ दैहिक संबंध रखने में उन्हें ऐतराज नहीं है। वर्षा हर्ष से शादी तो नहीं करती है मगर कुंवारी माँ बनने के लिए तैयार हो जाती है। वर्षा कहती है – "मैं हर्ष के बच्चे को स्वीकार करूँगी, यह धारणा बलवती होती जा रही थी।"[1] वह यह जानती है कि अविवाहित माँ बनना समाज में ग्रहणीय नहीं है फिर भी वह यह साहस करती है – "यह निर्णय कंटक पथ साबित होगा, यह समझाना मुश्किल नहीं था। हर्ष के आत्मसंहार को उसने कायरता माना था। क्या वह भी कायरता दिखाने और क्लिनिक में मुक्ति पाकर बाहरी तौर पर धुली-पुँछी जिंदगी जीती रहे?''[2] वर्षा समस्त बाधाओं के बावजूद भी अपनी जिद पर अटल रहकर बच्चे को जन्म देती है। वर्षा सोचती है – "अब वह संपूर्ण स्त्री बन गयी है .....जननी, लेकिन पत्नी बने बिना।"[3] 'आवां' उपन्यास में लेखिका बिन ब्याहे माँ की दुर्दशा को दर्शाती हैं। नमिता भी मुक्त यौनाचार की पक्षधर रहकर संजय कनोई जैसे बड़े उद्योगपति के साथ दैहिक संबंध रखती है और गर्भधारण भी करती है। डॉ. वनजा उसे बोलती है – "तुम गर्भिणी हो .....तुम्हें चौथा महीना पूरा हो पाँचवां आरंभ होने जा रहा ......जानती हो तुम?''[4] लेकिन जब नमिता को इस सच्चाई के बारे में पता चलता है तो वह विचलित हो जाती है। डॉक्टर के बहुत पूछने पर वह बताती है – "वह कुंआरी है और बच्चा नहीं चाहती। गर्भ की सफाई नहीं हो सकती?''[5] वास्तव में स्त्री की दुर्दशा यहाँ से शुरू होती है। अपनी स्वच्छंदता को स्वतंत्रता समझने के भ्रम में वह पुरुष से विवाह पूर्व काम संबंध तो रखती है मगर जब उसे पुरुष ठगता है तब उसे जमीन पर पछाड़ खाकर गिरने में देर नहीं लगती है डॉ. वनजा उसे डांटते हुए कहती हैं – "मूर्ख लड़की ....बच्चा पैदा करके ही स्त्री नहीं जानती कि माँ कैसे बना जाता है। कब बना जाता है। न तुम छोटी हो न नादान। प्रेमी ने आश्वस्त किया होगा, बहुत जल्द तुमसे ब्याह रचा, घर-बार बसा लेगा। झांसे में आकर तुम प्रतीक्षा करती रही

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 553
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 553
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 557
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 499
[5] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 499

होगी जयमाला की। अब जब फ्री सेक्स पर विश्वास रखने वाली लड़की से उसका जी ऊब गया होगा, वह राजा-मुन्ना अपने माँ-बाप द्वारा सुझाई लड़की से फेरे डालने चल दिया होगा।"[1]

भौतिकवादी समाज में लोग इतना अधिक भौतिक सुख सुविधा जुटान में लग गये हैं कि उन्हें किसी बंधन को स्वीकारना गंवारा नहीं है। रिश्ते-नाते सब उनके लिए दिखावट मात्र बन गये हैं। डॉ. रणवीर रांग्रा कहते हैं – "मनुष्य की आस्था अपने परिवेश, समाज, वर्ग तथा परिवार से हटकर अपने में ही केन्द्रित होती गई। उसके जीवन में व्याप्त बाह्य संघर्ष का स्थान मानसिक संघर्ष ने ले लिया। स्त्री पुरुष के संबंध जहाँ मित्रता, सौहार्द, प्रेम और आकर्षण का उद्गम स्थल है, वहीं तीव्र घृणा, ईर्ष्या एवं विभिन्न मानसिक कुंठाओं का आधार भी बन जाते हैं। प्रेम और यौन-संबंधी नवीन नैतिकता ने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों को तनावपूर्ण बना दिया। स्वैच्छिक काम संबंधों ने परिवार को विघटित कर दिया।"[2] 'चाक' उपन्यास में लेखिका ने इस समस्या का संदर्भगत चित्रण करती हैं। दु:ख की बात यह है कि शिक्षा जगत में शिक्षक भी छात्राओं को बिन ब्याहे माँ बनने के लिए मजबूर करते हैं। नाबालिक, नासमझ बालिकाओं के साथ दैहिक संबंध रखके उन्हें गर्भवती बनाया जाता है इससे दु:खद और शर्मनाक स्थिति और क्या हो सकती है। सारंग कहती है – "एक थी शकुंतला। गर्भ रह गया था। कहते हैं कि उसने बच्चे के बाप का नाम माताजी को बता दिया था।"[3] अत: समाज का अत्यंत खुलापन समाज के लिए भारी पड़ता है।

2.3.3 बलात्कार

पुरुष सत्तात्मक समाज में महिला को पद दलित करने के लिए अनेक उपाय आजमाये जाते हैं। पुरुष हमेशा स्त्री को रोती, बिलखती और प्रताड़ित होते हुए देखकर सुख का अनुभव करता है। इसी के चलते बलात्कार स्त्री के प्रति होने वाले हिंसा में से सबसे अधिक त्रासदपूर्ण है। पुरुष का स्त्री के प्रति सबसे घृणास्पद कार्य इसे ही माना जा सकता है। पुरुष की वासना का शिकार तथा उसके वर्चस्व को स्त्री सदियों से भोगती आ रही है। बलात्कार एक ऐसा घिनौनी सामाजिक विसंगति है जिससे स्त्री मृत्यु

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 500
[2] हिन्दी उपन्यास में चरित्र चित्रण का विकास - डॉ. रणवीर नांगा, पृ.सं. 337
[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 91

पर्यन्त छुटकारा नहीं पाती है। यहाँ तक कि बहुत से स्थान पर ऐसा भी देखा जाता है कि बलत्कृत स्त्री आत्महत्या कर लेती है क्योंकि हमारे समाज में बलात्कारी से अधिक बलत्कृत का जीवन अत्यंत दुखदायी होता है। ऐसे हालात में समाज की उपेक्षा भरी नजरों को सहन करने से मृत्यु का वरण करना उसे श्रेयस्कर लगता है। राजकिशोर इस संदर्भ में कहते हैं – "गंभीर अपराध और भी है, लेकिन बलात्कार को सर्वाधिक घृणास्पद माना जाता है। यहाँ तक कि कुछ स्त्रियों को बलात्कार और आत्महत्या के बीच चुनने की छूट दी जाए तो वे आत्महत्या को ही चुनेंगी।"[1] इससे हम बलात्कार के भयावहता के बारे में अंदाज लगा सकते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी परिवार के लोग भी यही चाहते हैं क्योंकि जिस स्त्री के साथ बलात्कार होता हे उसके परिवार को भी कम अपमानित होना नहीं होता है। समाज का अधिक खुलापन, विज्ञापन का प्रचार-प्रसार, अश्लील सिनेमा, आदि बलात्कार को और विकट बना रहे हैं। विष्णु प्रभाकर ने 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास में बलात्कार की भयावहता के बारे में चित्रण किया है। कथा नायिका सुमिता जिसके साथ बलात्कार जैसा घिनौना कांड हुआ है, वह अपने पति के द्वारा ग्राह्य होने के बावजूद भी पीड़ा की अनुभूति करती है। पति अजित सुमिता को ग्रहण करके बड़प्पन तो दिखाता है मगर जीवन भर अपराध-बोध का शिकार होता है। सुमिता कहती है – "एक तरफ पिता है अपने को छिपाते हुए कि कोई उनके दुख से पीड़ित न हो, दूसरी तरफ पुत्र है एक गहरी अपराध-भावना से ग्रस्त। बार-बार भाग जाने को आतुर कि .....।"[2] मनुष्य चाहे जितने भी प्रयत्न कर ले साधारण बने रहने का मगर जो संस्कार उसके मन में सदियों से जड़ जमाये हुए उसे निकलना दुष्कर है। सुमिता कहती है – "मुझे याद है वे बहुत तड़पे थे लेकिन जैसा हमारा समाज है, हमारे संस्कार हैं, उसमें और हो भी क्या सकता था? उन्होंने कई दिन बाद कहा था, कैसी है हमारी नैतिकता! इंसानियत के प्रति इतना बड़ा जघन्य अपराध केवल इसी छद्म नैतिकता के कारण दंडित हुए बिना रह गया। कौन तोड़ेगा नैतिकता के इस आत्मघाती चक्रब्यूह को .... ?"[3] समाज की यह विडम्बना है कि बलत्कृत को अनेक तरह से अपमानित किया जाता है। हमारी कानून व्यवस्था ऐसी है जिसके चलते बलात्कार

---

[1] इक्कीसवीं सदी की ओर - राजकिशोर, पृ.सं. 169

[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 24

[3] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 16

से पीड़ित या उसके घर वाले बलात्कारी को सजा दिलवाने के लिए कानून की सहायता लेने के लिए भी डरते हैं। सुमिता के साथ भी यही होता दिखाया गया है। सुमिता कहती है – "मरे पति से थानेदार ने कहा, कोई प्रत्यक्षदर्शी गवाह नहीं है। वह दोषी है यह प्रमाणित करने के लिए आपकी पत्नी को जिस यातना में से गुजरना होगा उसको सह पायेंगी वह .... ?"[1] इसलिए सुमिता और उसके पति अजित चुपचाप अपने दर्द को सीने में छुपाये चुप रहना ही श्रेयस्कर माने। मगर वास्तव में क्या सुमिता और अजित इस लांछना, प्रताड़ना, से बच पाये? सुमिता अपनी स्थिति का इस तरह से बयान करती है – "मुझे अपराधिनी उस दरिंदे ने नहीं बनाया बल्कि मेरे समाज ने बनाया। भीतर से मैं जिसे स्वीकार नहीं कर सकी थी, वही मुझ पर थोप दिया गया। जिसके प्रति अपराध किया गया सजा भी उसी को मिली। औरत, अपमानित मैं किसी की करुणा की अधिकारिणी भी नहीं रह गई .....।"[2] बलात्कार पीड़िता सुमिता का जीवन भले ही गरीब, अशिक्षित स्त्रियों की तरह न हो, मगर इसका असर दोनों पति-पत्नी के जीवन में खामोशी से घुसपेठ कर गया था। दोनों पढ़े-लिखे तथा शिक्षित होने के बावजूद भी एक अलग तरह के पीड़ा को झेलने के लिए मजबूर होते हैं। क्योंकि हमारे समाज का यही संस्कार है। जितना चाहे हम इसे सहज स्वीकार कर लें लेकिन यह असंभव है। सुमिता कहती है – "व्यक्ति के चारों ओर जो नैतिक मूल्यों का संस्कार रूपी अभेद और अवैज्ञानिक चक्रब्यूह निर्मित कर दिया है सामाजिक और धार्मिकों ने, उसमें फँसकर अभिमन्यु मर ही सकता है। संसस्कार भय पैदा करते हैं और भय की दीवारों के बीच पनपती है अंधी अमानवीय आस्था। उसी आस्था का कवच पहनकर प्रहार करते हैं सामाजिक महारथी।"[3] अजित भले ही सुमिता के प्रति खराब व्यवहार नहीं दिखाता है मगर भीतर ही भीतर इसे यह कौंधता ही है। पत्नी से अनचाहे वह दूर भागता है तथा दूसरी स्त्री के प्रति आकर्षित होता है। और सुमिता न चाहते हुए भी अजित के इस बेगानेपन को सम्मान देती है। पति ने उसके प्रति जो बड़प्पन दिखाया है उसके चलते पति के इस नखरे को भी हँसते हुए सहने के लिए वह बाध्य होती है। वास्तव में यही स्त्री की नियति है। सुमिता कहती है – "प्रकट में मैं और अजित दोनों

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 15
[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 16
[3] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 36-37

एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हैं पर भीतर एक गहरा द्वंद्व है दोनों के।"[1] सुमिता जैसी अनेक स्त्री मालिनी, राजकली आदि बलात्कार की शिकार होती है और भले ही वे साहस के साथ संघर्ष करने निकली हों मगर इन्हें समाज तरह-तरह से प्रताड़ित करता है। कटाक्ष भरी नजरों से लोग इन्हें लहूलुहान करते हैं। गरीब कमजोर वर्ग की लड़कियों के साथ तो यह आम बात बन गया है क्योंकि अनपढ़, अशिक्षित और गरीब का फायदा उठाया जाता है और न ही इनकी कोई सहायता करता है। गरीब मजदूर राजकली के साथ पुलिस का बलात्कार करना अत्यंत शर्मनाक बात होने के बावजूद भी राजकली की कराह को कोई सुनता नहीं है। सुमिता कहती है – "नाम उसका क्या था, कोई अर्थ नहीं रखता। सुभीते के लिए उसे राजम्मा या राजकली कुछ भी कहकर पुकार सकते हैं। कमजोर वर्ग के एक परिवार की यह बेटी पुलिस की हवस का शिकार हुई। बाद में उन्होंने उस पर दारू का व्यापार करने का इल्जाम लगाकर हवालात में बंद कर दिया। वहाँ पता लगा, वह गर्भवती है। वह बलात्कार का प्रमाण हो सकता था, सो उसे गर्भपात के लिए विवश किया गया।"[2] भले ही इस अपराध का खुलासा हुआ पुलिस पकड़ा गया मगर कुछ दिन के पश्चात सब कुछ शांत हो गया जो हमेशा होता आया है। सुमिता कहती है – "इसके बाद वही हुआ जो ऐसी घटनाओं के साथ होता है। न तो समाचार पत्रों ने कोई रुचि ली और न बलात्कार विरोधी संस्थाओं ने। राजकली और उसका परिवार क्या कर सकता था? गरीब और ऊपर से सामाजिक कलंक सहने की यातना।"[3] सत्ताधारी लोग भी यौन-शोषण करते हैं। मगर शक्तिशाली एवं संपन्न होने के कारण इनके खिलाफ कार्रवाई बस नाम मात्र की होती है। पैसे के बल पर कानून का मुँह बंद कर दिया जाता है। विष्णु प्रभाकर इस निंदनीय बात का चित्रण करते हैं। विजय ने इन नेताओं के बारे में लेख में लिखते हैं – "स्वतंत्र भारत में अलग-अलग समय पर अलग-अलग यौन भ्रष्टाचारों की गूँज जनमानस को उद्वेलित करती रही, लेकिन उनसे जो नारियाँ जुड़ी थी उनमें से कुछ ने आत्महत्या कर ली। कुछ दुर्घटनाग्रस्त होकर चल बसीं लेकिन जो पुरुष थे वे वैसे ही देश का नेतृत्व संभाले हैं और मूँछों पर ताव देते आयातित कारों में घूम रहे हैं। हमारे ही नगर में देखो वे जो कारपोरेटर

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 37
[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 51
[3] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 51-52

थे .....जिन्होंने झुग्गी-झोपड़ी की कमला से बलात्कार किया और फिर उसे भस्म कर दिया झोपड़ों के साथ-साथ। और वह शासक दल का एक अग्रणी नेता जिन्होंने किस तरह झाँसे दे-देकर प्रचार साधनों की एक निदेशक अपने ही साथी की पत्नी को कलंकित किया और फिर विवश कर दिया चार मंजिल से कूदकर आत्महत्या करने को .....।"[1] चित्रा मुद्गल भी इन सत्ताधारियों की यौन विकृति का पर्दाफाश करती हैं। 'आवां' उपन्यास में नमिता कामगार आगाड़ी के मुख्य अन्ना साहब का यौन शोषण का शिकार होती है। मगर अन्ना साहब को इस घृणित कार्य से पश्चाताप नहीं होता है और वे नमिता को भी सब कुछ भूल जाने की सलाह देते हैं। अपनी बेटी समान नमिता के साथ कुकर्म करके भी सीना तान कर चलते हैं। अन्ना साहब नमिता के साथ यौन शोषण करने से पहले कहते हैं – "साफ कहूँ तुमसे? साफ कहने का मैं आदी हूँ। देखो, दोस्त की बेटी हो तुम, बेटी नहीं हो मेरी। पिता समान हूँ मैं तुम्हारा पिता नहीं हूँ। रिश्ते की इस गहन अंतर्सूक्ष्मता को महसूस कर लोगी तो संबंध से स्वयं को शोषित अनुभव नहीं करोगी। न छुड़ाने की कोशिश करो, न उठने की .... कहा न, पिता नहीं हूँ, पिता समान हूँ।"[2] अपने दोस्त की बेटी के साथ जघन्य अपराध करने के बाद भी उन्हें अपराध बोध का अहसास ही नहीं होता है। बल्कि खुद को साफ सुथरा दिखाने का प्रयास करते हैं। नमिता से वे कहते हैं – "मुझे देखो, कहीं कोई अपराध बोध है चेहरे पर? नहीं न! क्यों? क्योंकि मेरे भीतर ऐसा कोई भाव नहीं उठ रहा जो मुझे बाध्य करे कि मैंने जो भी किया है, अपराध किया है। अपनी ऊर्जा का अपव्यय मैं पश्चाताप में नहीं कर सकता। उस क्षण जो घटा, घट गया। अगले क्षण को मैं उस क्षण की प्रेतछाया से दूर रखता हूँ। उसे अगले से अगले क्षण पर मंडराने की कतई मोहलत नहीं देता।"[3] बलात्कारियों के इसी रवैया ने स्त्री के जीवन को नर्क बना दिया है। अन्ना साहब की इसी घिनौनी हरकत के कारण नमिता कामगार आघाड़ी छोड़ देती है। और जीवन में दर-दर भटककर संजय कनोई के चंगुल में जा फँसती है। देखा जाए तो संजय कनोई भी उसका एक तरह का बलात्कार ही करता है। पुरुष गर्व के साथ उस घृणित कार्य को सहज रूप से स्त्री से ग्रहण करने के लिए कहता है क्योंकि स्त्री के ऊपर

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 269
[2] आवां - चित्रा दुगल, पृ.सं. 136
[3] आवां - चित्रा दुगल, पृ.सं.137

उसका एकाधिकार है। अन्ना साहब नमिता से कहते हैं – "द्वंद्व में जकड़ी हुई तुम अब तक बीत गए को स्वयं से झटक नहीं पा रही। चीथ रहे हैं तुम्हें कुछ प्रश्न। स्तब्ध हो मेरे व्यक्तित्व के दोहरेपने से! दोहरेपन नहीं है यह मेरा। व्यक्तित्व का सहज मानवीय पक्ष है। सहज रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए उसे।"[1] पुरुष को स्त्री को प्रताड़ित करने के लिए बस मौके की तलाश रहती है। किसी भी समस्या में स्त्री को जलील करने में वह शांति अनुभव करता है। गीतांजलि श्री इस भयावहता के बारे में लिखती हैं। शहर में जब साम्प्रदायिक दंगे होते हैं, तब स्त्री पर अत्याचार किया जाता है क्योंकि स्त्री हमेशा बेसहारा और अबला होती है। छोटे जोश कहते हैं – "हमारे शहर से जरा बाहर, आबादी से दूर होते ही रेलगाड़ी से जंजीर खींचकर रोका और बहुत आदमियों को मारा, बहुत औरतों को जलील किया। रेप किया। फिर लोहे की छड़ें अंदर डालकर घाव किये।"[2] साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण देश तथा विदेश की अनेक स्त्रियों का बलात्कार होना आम बात है।

अरब अमीरात की सामाजिक समस्याओं के ओहदेदार मुहम्मद बिलाल से जब अदब हिंदुस्तानी लड़की बिलकीस के बारे में पूछता है तो बिलाल गुस्से में बोलता है – "ओह! बिलकीस! लेकिन एक हिंदुस्तानी औरत की जिंदगी इतनी कीमती नहीं कि उसके बारे में मुझसे जवाब माँगा जाए। खुद तुम्हारे मुल्क के दंगों में कितनी बिलकीस रोज मरती हैं ....उनके साथ जिना किया जाता है ....तब तुम खामोश रहते हो .....तब अपने लोगों से तुम जवाब नहीं माँगते!''[3] इतिहास गवाह है कि स्त्री पर कैसा जुल्म ढाया गया है और आज भी यह प्रक्रिया जारी है। कोरियन लड़की कम-हकुसन कहती है – "सर! मैं कोरियन हूँ। तब मैं 17 साल की थी। वैसे मैं पैदा तो सन् 1924 में जिलिन में हुई थी लेकिन 1941 में मुझे पेइचिंग से जापानी फौजियों ने उठाया था और दूसरे महायुद्ध के दौरान मुझसे जापानी सोल्जरों ने लगातार 15 बार प्रतिदिन बलात्कार किया। मुझे 'तीसहिनताई' कोर में भर्ती किया गया जो सेक्सकोर थी, जिसे 'कम्फर्ट कोर' के नाम से पुकारा जाता था। इस कोर में करीब चालीस हजार औरतें लड़कियाँ जबरदस्ती भर्ती हो गई थीं और हम प्रतिदिन कम से कम पन्द्रह जापानी फौजियों की

---

[1] आवां - चित्रा दुगल, पृ.सं. 138

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 127

[3] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 88

पाशविक वासना को सहती और तृप्त करती थी ....।”[1] औरत विश्व के किसी भी कोने में क्यों ना रहे मगर पुरुष की काम लोलुपता से वह बच नहीं पाती है। यहाँ तक कि अपने परिवार में भी वह सुरक्षित नहीं है। मृदुला गर्ग के ‘कठगुलाब’ की स्मिता, नर्मदा तथा ‘आवां उपन्यास की नमिता अपने ही सगों के द्वारा बलत्कृत होती है। इस त्रासदी का अंत असंभव लगता है।

2.3.4 समलैंगिकता

बदलते परिवेश में समाज में अनेक विकृतियाँ दृश्यमान हुई। विकास के नाम पर विदेशियों की अत्यधिक नकल हमारे समाज में विसंगतियों का सूत्रपात का करण बनी। सूचना क्रांति ने जितना समाज का उद्धार किया है उतना ही विकृतियों का स्थानांतरण किया है। मानचन्द खेडेला के अनुसार – “रूढ़िवादी सांस्कृतिक मूल्यों, कट्टरपंथी धार्मिक विचारों के पक्षधरों द्वारा यह आरोप लगाया जाता है कि टेलीविजन के पर्दे पर हिंसा, बलात्कार, अनैतिक संबंधों, सेक्स, नशा, अकर्मण्यता, विश्वासघात व भौतिकवादी प्रवृत्तियों पर आधारित जीवन शैली, शासन व प्रशासन की खिल्ली उड़ाते समाज कंटकों, देवी-देवताओं का चमत्कारों, संयुक्त परिवार व्यवस्था के विखंडन के दृश्यों की भरमार होती है। एम-टीवी, बी-टीवी, स्टार व जी-टीवी जैसे विदेशी चैनलों पर ‘खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ’ की पश्चिमी संस्कृति को आक्रामक तरीके से उभारा जा रहा है।”[2] नारीवादी आंदोलन के कारण स्त्रियों में जागरूकता बढ़ने लगी। पुरुष सत्ता के प्रति विद्रोह के कारण समलैंगिकता को बढ़ावा मिला। अंतिम दशक में इस नारीवादी आंदोलन का मीडिया ने जोर-शोर से प्रचार किया। मानचन्द खेडेला कहते हें – “1990 के दशक में आंदोलन और इसके आम नेता आगे बढ़े। नारीवाद हाशिए से निकलकर सामयिक भारतीय चिंतन की प्रमुख धारा बन गया। संघर्ष गलियों से निकलकर सभागारों में पहुँच गया। मीडिया ने कुछ चोटी के बुद्धिजीवी कार्यकर्ताओं को जग प्रसिद्ध बना दिया।”[3] इसी के कारण स्त्री को पंख पसारने का मौका मिला। सदियों से दबी कुचली भावनाओं को समस्त बाधा-विघ्न को पददलित करने का अवसर मिला। मगर नारीवाद का गलत अर्थ निकालकर स्त्रियों में अनेक विकृतियाँ दिखाई

---

[1] कितने पाकिस्तान - कमलेश्वर, पृ.सं. 89
[2] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न- मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 139
[3] आधुनिकता और महिला उत्पीड़न- मानचन्द खेडेला, पृ.सं. 143

पड़ीं। पुरुष को बॉयकट करके जोश में स्त्री-स्त्री के साथ ही दैहिक संबंध रखने लगी। अंतिम दशक के साहित्य में समलैंगिकता मुख्यत: स्त्री-स्त्री के मध्य ही दिखायी गयी है। पुरुष-पुरुष का संबंध बहुत कम ही मिलता है। इसका कारण मुझे नारीवादी आंदोलन ही लगता है जिससे हमारे साहित्यकारों को भी लेखन का प्रोत्साहन मिला है। ज्यादातर उपन्यास में लेसवियान समस्या को उभारा गया है। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने लेसवियान पर प्रकाश डाला है।

'आवां' उपन्यास में पवार नमिता से समलैंगिकता के संदर्भ में कहता है – "विभ्रम कैसा? स्पष्ट है। अवमूल्य या विकृति समाज में कोई नया मूल्य सृजित नहीं कर सकती। अब देखो, स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रतिहिंसा परस्पर इस सीमा तक खिंच गई है कि स्त्रियों ने एकजुट हो स्त्रियों के संग रहने की ठान ली। मर्द-औरत के बीच कोई सामंजस्य स्थापित हो सकेगा इन बेहुदा हरकतों से? बन पाएगी परस्पर स्वस्थ स्थिति? मैं फिर दोहरा रहा हूँ, स्त्री-शोषण का वितंडावाद अधिक दिनों का खेल नहीं। स्त्रियाँ जब तक चाहें, साथ रह लें। छुआ-छुऔवल खेलकर कामेच्छा तुष्ट कर लें। फिर भी कुछ है जो उनकी सामर्थ्य से परे है! मसलन भ्रूण नहीं दे सकती स्त्री स्त्री को।"[1] पवार इसका मजाक उड़ाते हुए कहता है – "सुनो, एक मजेदार ख्याल दिमाग में कौंध रहा। खिलंदड़ी में मग्न कबूतरों सी तबीयत फड़क उठेगी। दुनिया के देशों को नारी चेतना की आड़ में स्त्री के संग स्त्री का सहवास रूके न रूके, भारत सरकार को नारी-स्वातंत्र्य की इस क्रांतिकारी अवधारणा को अविलंब स्वीकार कर, अपने देश में युद्धस्तर पर प्रोत्साहित करना चाहिए। विस्फोटक जनसंख्या अभिवृद्धि का मसला चुटकियों में हल!"[2] भारतीय समाज में समलैंगिकता को साधारण नहीं माना जाता है। इसलिए पुरुष स्त्री की इस विकृति पर कुठाराघात करता दिखाई देता है। समाजसेवी तथा स्त्री उद्धारक कुमारी विमला बेन भी समलैंगिक संपर्क रखती हैं। पवार कहता है – "सुना है, बूढ़ी शेरनी को बुढ़ापे में भी यौनानंद से परहेज नहीं। तुम्हें शायद मालूम नहीं। उनके बंगले में उनकी सेवा-टहल को गोद ली श्रमिक कुँआरियों का जमघट लगा रहता है, जिसकी बिटिया पर मन आ जाता है उसके उद्धार के बहाने वे उसे अपनी सेवा-

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 261-262
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 262

टहल में नियुक्त कर लेती हैं ......।"[1] अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री समाज के समस्त पारंपरिक मूल्यों को तोड़कर आगे बढ़ने लगी थी। पुरुष के समान होने की चाह में वह सब कुछ करना चाहती है जिस पर कभी पुरुष का वर्चस्व था। स्त्री अपनी स्वाभाविकता को छोड़कर दोहरेपन में जीने लगी। विशेषकर बड़े घर की स्त्रियों में इसका अधिक प्रचलन दिखाई पड़ता है। पतियों से प्रेम न पाकर इन स्त्रियों की काम तृप्ति नहीं हो पाती। ऐसे में यह सदा बेचैन रहती हैं काम सुख के लिए और फिर स्त्री के प्रति ही इनकी आसक्ति बढ़ने लगी है क्योंकि स्त्री ही घर में ज्यादातर समय बिताती है। पुरुषों की तरह यह अपने काम में व्यस्त नहीं रहती। नीलम्मा जो एक बड़े घर में नौकरानी है वह इस बड़े घर की बहुओं का इस विकृति का पर्दाफाश करती है। वह नमिता से कहती है किस प्रकार उस घर की मंझली मालकिन अपनी वासना की तृप्ति के लिए आतुर होती हैं और अपने ही नौकरानी नीलम्मा के द्वारा मालिश के बहाने यौन सुख प्राप्त करती हैं। मंझली मालकिन नीलम्मा से कहती है – "सुनो नीलम्मा, कसम तेरे हाथों में जादू है, जादू! थोड़ा जादू और चला। दस का नोट ऊपर मिलेगा। गुर मैं बता दूँगी। बहुत आसान है। जैसा कहूँ, वैसा किए जाना। जितनी अतृप्त देह सिंचेगी तेरे हाथों नीलम्मा, तुझे मैं भेंट-सौगातों से पाट दूँगी।"[2] मंझली मालकिन के साथ-साथ उसकी सहेली मालिनी भी नौकरानी नीलम्मा की मालिश के द्वारा अपनी अतृप्त देह को शांत करना चाहती है। वह कहती है – "मालिश तो तूने बड़ी रेशमी की, नीलम्मा। पर तेरे हाथों का रोंया-रोंया सिहरा देने वाला वह जादू भी तो दूखूँ जो मेरी शैलजा को तेरे पीछे पगलाए हुए है। जो कसमें खा-खाकर मुझे यकीन दिलाने की कोशिश करती है कि मालिनी, औरत की देह को औरत ही पहचानती है। मर्द के लिए तो वह केवल उगालदान –भर है।"[3] पैसों के पीछे भागते-भागते धनी घर के पति पत्नी भी एक दूसरे से भागने लगते हैं। श्यामाचरण दुबे का कहना है – "पिछले दशकों में विकास की एक अत्यंत संकुचित व्याख्या प्रक्षेपित की गयी है और उसे व्यापक स्वीकृति भी मिली है। विकास की परिभाषा सकल राष्ट्रीय उत्पाद और आय के मानकों को आधार मानकर की जाने लगी है। इस संकुचित और एकांगी व्याख्या की स्वीकृति के

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 263
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 514
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 514-515

कारण कुछ विकृतियाँ और विसंगतियाँ उभरी हैं। इस विचार प्रक्रिया ने मानव की एक आयामी संकल्पना को पुष्ट किया है – वह है उत्पादक और उपभोक्ता मानव की संकल्पना। नयी व्याख्या के चलते धन ही सुख का पर्यायवाची बन गया है।"[1] अत: अर्थ सुख के पीछे पागल होने के कारण पति-पत्नी संबंध में दूरी बढ़ने लगी है। कार्य व्यस्तता हेतु पुरुष का ज्यादातर समय बाहर ही बीतता है। ऐसी हालात में बड़े घर में स्त्री अकेलेपन का शिकार होती है और उसको काम संतुष्टि भी नहीं मिलती है। इसलिए परिस्थिति उसमें विकृतियाँ भरती है। स्त्री-स्त्री में ही संतुष्ट होने के लिए बाध्य होती है। और पैसों के बल पर वे किसी को भी इस कार्य के लिए खरीद सकती हैं। मालिनी नीलम्मा से कहती है – "हम ठहरे व्यापारी बिरादरी। तेरे नफे में खोट नहीं होने देंगे। एकाध घर सुख-आराम के तुझे और पकड़वा देंगे। किटी क्लब है हमारा। जीवन-भर बरतन घिसकर जितना तू कमाएगी न, छह महीने में झीट लेगी। जिन्हें तू सुख देगी वे भला तुझे दु:ख कष्ट में देख सकेगे?''[2] स्त्री का एकाकीपन उसे विचित्र कार्य के लिए प्रेरित करता है। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास में भी ऐसी ही स्त्री की विकृति को दिखाया गा है। शालू जिस घर में किराया में रहती हे उस घर की मालकिन गंगावती जो विधवा बूढ़ी है शालू के साथ समलैंगिक संपर्क रखना चाहती है। शालू उसे धर्म-माँ के रूप में मानती है और वह भी शालू को अपनी बेटी मानती है। इसके बावजूद भी गंगावती शालू के साथ घिनौनी हरकत करती है। शालू कहती है – "एक रात मुझे नींद नहीं आ रही थी। दर्द के मारे सिर फटा जा रहा था। गंगावती ने मुझे नींद की गोलियाँ दी। मैंने गोलियाँ खाईं तो वह मुझे थपककर सुलाने लगी। अहिस्ता-अहिस्ता मुझ पर नींद की धुंध छाने लगी। उसके नर्म हाथ और ऊँगलियों जैसे पतरे रबर के दस्ताने पहन रखे हों – वो मेरी छातियाँ मसल रही थीं। उसके पोपले मुँह की साँस ......भारी-भारी साँस और पतली झिल्ली वाले हाथ मैंने अपने जिस्म पर फिसलते हुए महसूस किए। मेरी आँख खुल गई।"[3] शालू जब उसे धक्का देने लगती है तब भी वह शालू को नहीं छोड़ती – "लेकिन उसकी जकड़ और मजबूत हो गई। वो फैली आवाज में बोली, अरी नामुराद, मैं तेरी माँ हूँ। माँ से पर्दा? तुझे खिलाती हूँ, पिलाती हूँ, तुझसे कम

---

[1] समय और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 179

[2] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं.515

[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 54-55

किराया लेती हूँ, फिर भी तू नखरे करती है .....। उस मोटे बॉबी के साथ भोग करते हुए तुझे शर्म नहीं आती? मैंने क्या बुरा किया है तेरा? बड़ी संतवती बनती है ....।"[1] गंगावती अपने जीवन में एकाकी होने के कारण अनेक मनोदशा तथा विकृतियों से गुजरती है। आर्थिक स्वतंत्रता भी उसे स्वच्छंद बना देती है इसलिए शालू को देखते ही अपने उमर का लिहाज किये बिना उसके प्रति आसक्त होती है अलबत्ता शालू के अंग सौष्ठव को देखकर ही गंगावती ने उसे घर किराये के रूप में दिया था और वह दूसरों से कम मूल्य में। व्यक्तिवादी समाज में समलैंगिकता रूपी विकृति उभर रही है। मृदुला गर्ग भी इसी नकारात्मक पहलू को उभारती हैं। 'कठगुलाब' की पात्र असीमा अपने आपसे इसी जद्दोजहद में उलझी हुई है कि अगर मर्द-औरत के बीच का रिश्ता शोषक "शोषित का रिश्ता है तो क्या उसका विकल्प लैज्बियनिज्म है? क्या लैज्बियन के मन में बच्चा जनने की इच्छा नहीं होती? क्या औरत मर्द से सिर्फ इसलिए आकर्षित होती है क्योंकि वह उसे बच्चा दे सकता है? अगर औरत मर्द के बिना, स्पर्म दान द्वारा, बच्चा पैदा कर सके तो क्या औरत मर्द के बीच का आकर्षण समाप्त हो जाएगा।''[2] लेखिका यहाँ यह संदेश देना चाहती है कि पुरुष का शोषण लैज्बियनिज्म के आधार पर करना न्यायसंगत नहीं है और ना ही यह हमारे समाज के लिए शोभनीय है। स्त्री इस विकृति को स्त्री विमर्श का नाम प्रदान कर स्वयं को तथा समाज को भ्रमित कर रही है। 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सुरेन्द्र वर्मा की कथा नायिका वर्षा में भी इस विकृति का आभास मिलता है। घर में अपने पिता तथा भाई के प्रति आक्रोश उसे पुरुष समाज के प्रति उदासीन करता है। अत: वह हमेशा अपने पैरों पर खड़े होने का स्वप्न देखती है। इसलिए बहुत कम उम्र में ही वह घर छोड़कर दिल्ली भाग जाती है अपना कैरियर बनाने के लिए। इसलिए उसमें भी बचपन से ही सामाजिक मूल्य तथा नैतिकता तथा प्रथा तोड़ने का साहस दिखाई देता है। वर्षा की जीवन की प्रथम गुरू दिव कात्याल जिसके पथ पर चलकर वह सफल अभिनेत्री बनती है, उसके साथ ही उसका समलैंगिक संबंध होता है – "खोजी पत्रकार ने 'बिंदास वर्षा के नाइट गेम्स' शीर्षक से दिव्या को उसकी पहली प्रेमिका घोषित किया गया था। वस्तुत: किशोरावस्था से ही वर्षा में अप्राकृतिक प्रेम की ओर रूझान था। ऐसा उसकी एक पुरानी सहपाठी का

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 55

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 190

कहना है। कॉलेज में दिव्या कत्याल के सानिध्य से उसकी लेज्बियन कामनाएँ फूली-फलीं। किसने किसको दीक्षित किया, यह हम अपने प्रिय पाठकों की कल्पना पर छोड़ते हैं। कालांतर में दिल्ली पहुँचने पर वर्षा बाइसेक्सुअल हो गयी। पुरुष प्रेमियों के साथ-साथ अनुपमा एवं शिवानी उसकी प्रणय-शैया की केलि-सखियाँ हैं।"[1]

गोविन्द मिश्र भी 'पाँच आँगनों वाला घर' उपन्यास में समलैंगिकता पर सम्यक ध्यान खींचते हैं। वेश्या कमलाबाई का शांतिदेवी के प्रति ऐसा ही प्रेम है। भले ही शांति देवी इससे अनजान हो। पर कमला बाई कहती हैं – "उसका मन करता है किसी को प्यार करे, लेकिन जो कोठे पर आते हैं उन पर मन नहीं आता, और जो बस्ती में हैं वे इतने बँधे होते हैं कि बेचारों पर दया आती है। कम्मो को कोई लायक बंदा ही नहीं दिखता। भीतर कसमसाता प्यार जाकर गिरता है किसी शांतिदेवी जैसी महिला पर तो कम्मो अचकचाकर सोचने लगती है कि कुछ उल्टा सीधा तो नहीं है उसके साथ कि जो लड़की होकर लड़की को ही चाहता है।"[2] 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में लेखक ने पुरुष के प्रति पुरुष का आकर्षण को दिखाया है। गुंडा कालू का नील के प्रति समलिंगी आकर्षण विसंगति ही माना जाएगा – "कालू यकायक ठिठका और पील को देखा, लौंडा तो चिकना है। नील की साँस रूक गई......यह क्या हो रहा है? आ बे, चुम्मा दे। तीनों ने जैसे साँस रोक ली। अधेड़ फर्श को देखने गा।
कालू उठा। इंस्पेक्टर .....नील की सूखी आवाज निकली; कोई है?
कालू उसे बाँहों में कस रहा था। नील ने धक्का देते हुए अपने को बचाने की कोशिश की। कालू ने धुंआधार उसे दोनों गालों पर झापड़ बरसाए। नील सुन्न-सा हो गया। कालू ने सख्ती से उसके होंठ चूमे। नील छोटा-सा धक्का दे पाने में सफल हो गया।"[3] यहाँ पर कालू नील का जबरन बलात्कार ही करता है और आश्चर्य की बात यह है कि जेल के लॉक अप के अंदर यह घिनौना कार्य हो रहा है और नील के चिल्लाने पर भी पुलिस उसकी मदद करने के लिए नहीं आती है। एक पुरुष के द्वारा पुरुष का बलात्कार काम प्रधान समाज की देन ही हो सकती है। भारतीय समाज में समलैंगिकता विसंगति ही

---

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 405
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 54
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 233

माना जाएगा। स्त्री-स्त्री तथा पुरुष-पुरुष के मध्य काम संबंध प्रकृति के नियम के विरूद्ध ही है। विकसित सामाजिक व्यवस्था में भले ही नारीवादी या पुरुषवादी इसे कानूनी मर्यादा देते रहे, प्रकृति के खिलाफ जाकर इस प्रकार की विकृतियों में जीवन का सुख खोजना उभय व्यक्ति तथा समाज के लिए घातक सिद्ध होगा।

2.3.5 बाल यौन शोषण

उत्तर आधुनिक युग में उत्पन्न हुई अनेक विसंगतियों के साथ बाल यौन शोषण समस्या भी समाज में प्रचलित हुई। या ऐसा कहा जा सकता है कि हमारे समाज में बच्चे समय समय पर अपने घर-परिवार या आस-पड़ोस में शोषित होते रहे हैं मगर उनकी आवाज को शोषिक के डर तथा अन्य प्रलोभन के द्वारा दबा दिया जाता है। इसलिए यह खुलकर सामने नहीं आ पा रहे थे। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जहाँ मनुष्य के काम विकृति के कारण इस प्रकार के घटना में वृद्धि हुई, वहीं सूचना क्रांति के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप इसका भी प्रचार-प्रसार हुआ। विडम्बना यह है कि कई स्थान पर खुद बच्चे ही यह नहीं समझ पाते हैं कि इनके साथ यौन-शोषण हुआ है। इसलिए यह विकृति चिंताधारा वाले बच्चों को अपना शिकार बनाते हैं ताकि किसी इनकी दरिंदगी के बारे में खबर न लगे। इसलिए आज स्कूली शिक्षा में यौन शिक्षा दिये जाने लगे हैं। ताकि बच्चों में यह समझ विकसित हो कि कब किस प्रकार से उनका शोषण होने पर वे उसका विरोध कर सकें। साहित्यकार भी इस समस्या पर अपने कलम चलाने लगे हैं। मगर हिंदी साहित्य में मुख्य रूप से अंतिम दशक में हिंदी उपन्यास में इसका इतना चित्रण नहीं हो पाया है जितना यह समस्या समाज में व्याप्त है। 'पंचनामा' उपन्यास में वीरेन्द्र शर्मा ने इस समस्या का चित्रण किया है। अनाथ आश्रम जैसे संस्थाओं में इस प्रकार के घिनौनी कार्य चलता है। अनाथ बच्चों का भरण-पोषण का दायित्व लेकर यह संस्थाएं उन मासूम बच्चों को अपने दया तथा सहानुभूति की दुहाई देकर उनका यौन शोषण करते हैं। अकलंक नाम का एक अनाथ लड़के के साथ भी यही होता है। अनाथ आश्रम का शिक्षक ही अकलंक का यौन-शोषण करता है। अकलंक कहता है – "अपने ऊपर कोई भारी वजन रखा महसूस होता ही अकलंक की आँख खुल गई। अपने ऊपर लेटे आदम को बगल में पलटा और ताबड़-तोड़ कई घूँसे जड़ दिए। उसमें कोई हरकत

न होते देख अकलंक डर गया। बत्ती जलाई। कमरे में रोशनी होते ही अकलंक की आँखो के आगे अँधेरा छा गया। कमरे में उसके और पंडित जी के अलावा कोई नहीं था। पंडित जी बेसुध से चित्त लेटे खर्राटे ले रहे थे।"[1] पंडित जी काम वासना की पूर्ति के लिए अकलंक को अपना शिकार बनाते हैं। मगर यह बात आश्रम के लिए नया होता है। हमेशा कोई न कोई इन अनाथ बच्चों का अपने हवस का शिकार बनाता है। और यह बच्चे किसी से इसका जिक्र तक नहीं कर पाते हैं। अनाथ की पीड़ा को कौन सुनेगा। एक लुण्ठित, अपमानित बचपन झेलने के लिए ये विवश होते हैं। अकलंक को उसके दोस्तों ने बताया कि – "आश्रम में आए प्राय: हर लड़के को कभी-न-कभी किसी का कुलमा बनना पड़ता है। लड़के ग्लानि, भय, असुरक्षा के चलते न कह पाते हैं, न विरोध कर पाते हैं।"[2]

भोगवादी समाज के संस्कार के कारण भारतीय अपने पारम्परिक तथा नैतिक मूल्यों का जलांजलि देते जा रहे हैं। गुरू शिष्य का संबंध जहाँ एक पवित्र संबंध है, उसमें गुरू का यह चारित्रिक स्खलन समाज को किस ओर ले जाएगा यह हम अंदाजा लगा ही सकते हैं और इन मासूम बच्चों में किसी प्रकार की जीवन दृष्टि विकसित होगी, उनके व्यक्तित्व को कैसा मोड़ प्राप्त होगा इस पर प्रश्न चिह्न लगता है। मनुष्य जब से अपने धर्म का अनादर कर अर्थ और काम के प्रति लालायित हुआ तब उसमें अध:पतन के सभी लक्षण का आभास मिलना स्वाभाविक है।

[1] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 111

[2] पंचनामा - वीरेन्द्र जैन, पृ.सं. 112

तृतीय अध्याय

सामाजिक व्यवस्था में विसंगतियाँ

3.1 वर्ग व्यवस्था का विसंगत रूप

3.2 वर्ण व्यवस्था का विसंगत रूप

3.3 शिक्षा जगत में विसंगतियाँ

- 3.3.1 गुरू और शिष्य संबंध
- 3.3.2 शिक्षा का गिरता हुआ स्तर
- 3.3.3 शिक्षक की योग्यता तथा उनका चुनाव
- 3.3.4 विद्यार्थी तथा गुरू की अनुशासनहीनता एवं उद्दंडता
- 3.3.5 शिक्षा जगत में पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद
- 3.3.6 शिक्षा जगत में जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता
- 3.3.7 सुरापान तथा विविध विसंगत मनोरंजन
- 3.3.8 शिक्षा जगत में यौन संबंध

तृतीय अध्याय

सामाजिक व्यवस्था में विसंगतियाँ

सामाजिक व्यवस्था पर देश या समाज का विकास निर्भर करता है। भारत जैसे सांस्कृतिक तथा पारम्परिक देश में सामाजिक व्यवस्था सर्वदा महत्वपूर्ण तथा संवेदनशील साबित हुए हैं। समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए व्यवस्थाओं का होना अत्यंत जरूरी है। जिनकी कार्यकारिणी शक्ति से संगठित होकर समाज की गाड़ी चल निकलती है। इसे समाज की रीढ़ माना जाता है जो सदियों से हर स्तर से गुजरते हुए समाज के साथ-साथ स्वयं को भी विकसित करता है। इसका स्वरूप विकास के साथ बदलता जाता है। श्यामाचरण दुबे कहते हैं - "इसकी व्याख्या जीवन के बदलते संदर्भों के साथ बदलती रहती है और समय-समय पर यह अनेक प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलनों को प्रेरणा देती है।"[1] अत: समय के साथ इसमें बदलाव होना स्वाभाविक है। वर्ग व्यवस्था हो या वर्ण व्यवस्था, समय के बदलते स्वरूप में इनमें भी बदलाव आये हैं।

बीसवीं शताब्दी तक समय-समय में इन व्यवस्थाओं में असंभव प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। औद्योगीकरण, आधुनिक शिक्षा, भूमंडलीकरण से प्रभावित सामाजिक व्यवस्था विसंगतियों से भरपूर हो गयी हैं। सकारात्मक की तुलना में नकारात्मक प्रभाव से हमारी सामाजिक व्यवस्थायें अधिक पीड़ित प्रतीत होती हैं। विकास के नाम पर इन व्यवस्थाओं का दोहन हुआ है। ये अपनी जड़ से च्यूत दिखाई पड़ती हैं। बीसवीं सदी में समाज में सबसे अधिक परिवर्तन हुए। आर्थिक उदारीकरण ने समस्त व्यवस्था को प्रभावित किया। आनन्द पाटिल कहते हैं - "आर्थिक उदारीकरण, भूमंडलीकरण तथा वैश्वीकरण ने एक ऐसा भ्रमजाल फैलाया है कि हर इंसान आज पसोपेश में पड़ गया है। उसके ज़ेहन में ऐसी संकल्पनाएं डाल दी गयी हैं कि उसे लगता है कि यह एक आवश्यक आर्थिक प्रक्रिया है, जिसके बगैर मानव-जाति का कल्याण असंभव है।"[2] इसने सामाजिक व्यवस्था को गहन रूप से प्रभावित किया। इस भ्रमजाल में फँसकर हमारी सामाजिक व्यवस्था भी भ्रमित एवं विकृत होती गयी। सामाजिक

---

[1] भारतीय समाज - श्यामाचरण दुबे, अनुवादक वंदना मिश्र, पृ.सं. 123

[2] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण - आनंद पाटील, पृ.सं. 103

परिस्थिति के अनुरूप ही व्यवस्थाएं ढलने लगीं। बुनियादी परिवर्तन होने लगे। धीरे-धीरे हर व्यवस्था कलुषित तथा भ्रष्ट बनती गयी। व्यवस्था में मूल्यहीनता महसूस होने लगी। यह अपनी स्वाभाविकता, नैतिकता से खंडित होकर विकृत होती चली गयी। परम्परा तथा आधुनिकता की जद्दोजहद में हमारी सामाजिक व्यवस्था लहूलुहान हो रही हैं। अनेक विसंगतिपूर्ण परिस्थिति से जूझकर यह व्यवस्थाएं दम तोड़ती नजर आ रही हैं।

3.1 वर्ग व्यवस्था का विसंगत रूप

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही वर्ग व्यवस्था विद्यमान है और समाज के लिए यह व्यवस्था सदा शोषण पर आधारित है। प्राचीन काल में यह वर्ग व्यवस्था मुख्य रूप से जाति पर आधारित थी मगर आधुनिक कालीन समाज में यह आर्थिक व्यवस्था के आधार पर स्थापित हुई। विकास की प्रक्रिया में यह वर्ग व्यवस्था समाज के लिए सदा हानिकारक ही साबित हुई हैं। इस संदर्भ में डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ कहते हैं - "विकास का प्रत्येक नया मोड़ अपने साथ शोषण का नया स्वरूप लेकर आया है - प्रगति की प्रत्येक अग्रिम सीढ़ी क्रमश: अधिक लोगों के शोषण पर टिकी हुई है। कुछ लोगों का लाभ दूसरों की हानि के रूप में तथा वर्ग विशेष की प्रत्येक मुक्ति दूसरे वर्ग के लिए अभिनव दमन के रूप में सामने आती है। इस तथ्य के आधार पर ही मार्क्स ने अब तक के समाज के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास कहा है।"[1] इतिहास में झाँकने की अगर कोशिश की जाए तब अनेक सत्य से परदा उठने लगेगा। जमींदार तथा सामंत प्रथा के चलते जैसे पहले किसानों का, दलितों का शोषण किया जाता था ठीक उसी प्रकार आधुनिक समाज में पूँजीपति वर्गों के द्वारा मजदूर या श्रमिक वर्ग का शोषण हो रहा है। केवल शोषणकारियों की सूरत बदल गयी हैं मगर शोषण अपने विकृत रूप में आज भी कायम है।

आधुनिक समाज मं अर्थ आधारित जीवन दृष्टि ने शोषण को जन्म दिया है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज में एक पूंजी वर्ग का निर्माण हुआ जिनके हाथ उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा था। ये पूँजीपति विदेशी हो या स्वदेशी मगर शोषण के आधार पर अपनी पूंजी में रातोंरात वृद्धि

[1] आधुनिक हिंदी साहित्य : विविध आयाम - डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ, पृ.सं. 56

करने के पक्षधर रहे। डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा के अनुसार- "प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति ने अपनी शक्ति के बल पर अपार संपत्ति इकट्ठा करके अन्य लोगों को अपना दास बनाया एवं वे वर्ग शोषित वर्ग कहलाए।"[1] इस पूंजीवादी विचारधारा के विरूद्ध मजदूर वर्ग की पक्षधरता में मार्क्सवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा नैतिक व्यवस्था की नयी परिकल्पना की। मार्क्सवाद का स्वप्न सदा एक वर्गहीन समाज की स्थापना है। इसलिए शोषण और असमानता के खिलाफ आर्थिक व्यवस्था पर प्रहार कर शोषकों को संगठित करने का कार्य मार्क्स ने किया। परन्तु रूसी क्रांति के असफल होने के कारण समाजवाद हाशिये पर चला गया। धीरे-धीरे स्थिति बदतर होते हुए बीसवीं सदी के अंत तक आते-आते समग्र विश्व में पूंजीवादियों की संस्कृति चल पड़ी जिससे उसके द्वारा शासन तंत्र एक शोषण चक्र बन गया। फलस्वरूप जीवन मूल्यों में विसंगति के साथ-साथ संपूर्ण समाज में इस वर्ग व्यवस्था के विसंगत रूप की भयावहता दृश्यमान हुई। डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ के अनुसार - "औद्योगिक सभ्यता ने भारतीय समाज को दो वर्ग में विभक्त कर दिया - एक वर्ग है उद्योग धंधों से लाभ उठाने वाले बड़े-बड़े उद्योगपतियों एवं पूंजीपतियों का, और दूसरा वर्ग है मजदूर का। भारत में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप देश का सारा धन थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में एकत्र होता गया। इस स्थिति के विरूद्ध अपनी आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक दशा में परिवर्तन लाने के हेतु आज भारतीय मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग से संघर्ष करता दिखाई पड़ता है।"[2]

समाज में इस भयंकर वर्ग व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियाँ जैसे बेरोजगारी, भूखमरी, गरीबी, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, हिंसा, अपराध आदि अनेक रूपों में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कभी न भर सकने वाली दरार पैदा कर रही हैं। हिंदी साहित्य ने भी समय-समय में इन पर चर्चा की है। चित्रा मुद्गल द्वारा 'आवां' उपन्यास पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा यानी मजदूर वर्ग की असलियत को हमारे सम्मुख उजागर करता है। लेखिका ने श्रमिक संसार को बारीकी से परखने का सफल प्रयास किया है। फलस्वरूप मजदूर राजनीति के अंतर्विरोध, आपसी वैमनस्य, प्रतिद्वंद्विता के साथ-साथ पूंजीपतियों का इन मजदूरों पर रवैया तथा शोषण का सार्थक चित्रण करने में वह सफल हुई हैं। चित्रा मुद्गल स्वयं

---

[1] आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ - डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा, प्.सं. 4

[2] आधुनिक हिंदी साहित्य : विविध आयाम - डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ, पृ.सं. 57

श्रमिक परिवार से जुड़ी रहने के कारण नजदीक से उनके जीवन का अवलोकन कर पायीं। अपने विद्यार्थी जीवन में श्रमिक नेता डॉ. दत्ता सामंत के आंदोलन से जुड़कर सन् 1960 के दशक के मुम्बई के श्रमिक आंदोलन, उसकी विसंगतियाँ, अंतर्विरोध को देखा है। लेखिका स्वयं यह स्वीकारती हैं कि - "उस जीवन को मैंने देखा ही नहीं, जिया भी है, आग का दरिया मैंने तैरकर पार किया है। इसलिए उसके ताप से पूरी तरह परिचित हूँ। अचरज इस बात से होता है कि आजादी मिलने के इतने बरस बाद भी निम्न वर्ग के भूगोल और इतिहास में अपेक्षित परिवर्तन नहीं आ पाया है। झोपड़पट्टी जीवन मेरा जिया और भोगा हुआ यथार्थ है, जो बार-बार जहाँ-तहाँ मेरी रचनाओं में आता है।"[1]

'आवां' उपन्यास में पूंजीपतियों के खिलाफ आंदोलन करते हुए मजदूरों की दुर्दशा एवं इन पूंजीपतियों की ऊँची पहुँच के कारण दम तोड़ रहे देश के अनेक मजदूर संगठन से अंतर्द्वंद्व, निराशा, खोखलेपन का चित्रण किया गया है। उपन्यास की नायिका नमिता जिसके पिता देवीशंकर पाण्डेय एक ग्लास फैक्टरी के कारखाने में भट्टी सुपरवाइजर हैं और वहाँ के 'कामगार आधाड़ी' नामक मजदूर संघ के महासचिव रह चुके हैं, वह एक ईमानदार एवं संवेदनशील व्यक्ति हैं और मजदूर की भलाई दिल से चाहते हैं। मगर इस कामधाड़ी आधाड़ी में अन्ना साहब जैसे अनेक लोग हैं जिन्होंने मजदूर आंदोलन को राजनीतिक हथकंडा के रूप में व्यवहार कर रहे थे। इसलिए यह आंदोलन मजदूरों को अपना हक दिलाने में अहम साबित हो रहा था। और इसकी असफलता से समाज के तथाकथित पूंजीपति वर्ग खुश हो रहे थे। अंजना बासवानी एक पूंजीपति महिला है वह कहती है - "बी.बी.सी. ने खूब मजे लिए। हड़ताली मजदूरों की भूख से बिलबिलाती औरतों और नंग धड़ंग बच्चों को सड़कों पर गाड़ियाँ रोक-रोककर भीख माँगते हुए दिखा .....कुछ घरों में जीवन से ऊबी हताश औरतों को गले में फंदा डाल लटकते ...."[2] अंजना बासवानी के लिए मजदूरों का सुख उनका हक कोई मायने नहीं रखता है इसलिए इस आंदोलन के साथ-साथ अन्ना साहब का विरोध करते हुए कहती हैं - "घृणा है मुझे ऐसे महत्वाकांक्षी मजदूर नेताओं से ..... परम पूज्य अन्ना साहब से। पहले दर्जे का सिरफिरा आदमी है।

---

[1] आजकल - जुलाई, 2002, पृ.सं. 14

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 68

हत्यारा ...."[1] अंजना वासवानी के इस कथन से पूंजीपति होने का घमंड दिखाई देता है। समाज में आर्थिक विषमता से उत्पन्न दयनीय स्थिति जो एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व दिखाने में खुश होता है इस उपन्यास में उसका सार्थक चित्रण हुआ है। अंजना वासवानी के ऐसे मनोभाव से नमिता व्यथित होकर कहती हैं - "श्रमिकों की लड़ाई में समाज का कोई दायित्व नहीं, मैम? बाबूजी का कहना है कि हम संवेदनहीन नपुंसक समाज में जी रहे। अट्ठारह महीने लंबी खिंची वह हड़ताल कभी विफल न होती, न उतनी लंबी खिंचती अगर समाज के अन्य वर्गों ने मजदूरों के संघर्ष को अपने बुनियादी हक की लड़ाई समझा होता और उसका जोरदार समर्थन किया होता।"[2]

इस चिंताजनक वर्ग-वैषम्य से स्थिति दिन-प्रतिदिन भयानक होती जा रही है। जहाँ एक वर्ग को जीवन का हर सुख प्राप्त है वहीं दूसरे वर्ग को दो वक्त का खाना भी नसीब नहीं होता है। समाज का धनाढ्य वर्ग इस बात से बेखबर अपनी स्वार्थ पूर्ति में लगा है। मजदूर वर्ग पर प्रहार करने के लिए कोई भी सुयोग धनिक वर्ग नहीं छोड़ता है। नमिता के पिता के ऊपर जब जानलेवा हमला हुआ तब उनके कारखाना के मालिक के ऊपर इसका कोई असर नहीं हुआ। अंजना वासवानी से नमिता इस संदर्भ में कहती है - "बिटरम ग्लास के मालिक सी.डी. मोदी का रूख उपेक्षापूर्ण था, स्वाभाविक था, उनके कष्टों से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। उन्हें यही लगता रहा होगा कि बाबूजी एक ऐसी सड़ी मछली हैं जो अपनी छुतही दुर्गंध से सारे तालाब को गंदाकर रही। उनके बचने पर निश्चित रूप से उन्हें दु:ख हुआ होगा।"[3]

देखा जाए तो असलियत में उच्च वर्ग का निम्न वर्ग के प्रति यही रवैया होता है। जो मजदूर दिन रात मेहनत कर अपना लहू पसीना बहाकर उनके लिए काम करते हैं, उन्हें यह मालिक वर्ग सड़ी हुई मछली समझते हैं। इसलिए देवीशंकर बेटी नमिता से कहते हैं - "प्रतिदान का लहू पिए बिना पूंजीपति की अनुकंपा संतुष्ट नहीं होती।"[4]

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 68
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 68
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 70
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 73

समाज में आर्थिक विषमता ने जीवन के सभी मूल्यों को धराशायी कर दिया है। केवल लोगों के मन में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि भावना बलवत्तर होती रही है। स्वतंत्र भारत में इंदिरा गाँधी के शासनकाल में भी अन्ना साहब उनकी सहमति से इन पूंजीपतियों पर रोक लगाने की कोशिश कर रहे थे - "इंदिरा जी के शासन-काल में उद्योगपतियों की निरंकुशताओं पर अंकुश बनाए रखने के लिए अन्ना साहब की मोर्चा-नीति के प्रति उनकी अव्यक्त सहमति थी। अनेक असहमतियों के बावजूद, दोनों इस मुद्दे पर एकमत थे - समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता ही सामाजिक असमानता का मूलाधार है। आम जन का जीवन-स्तर उठाए बिना समाज का उत्कर्ष संभव नहीं।"[1]

और यह स्थिति आज भी बनी हुई है। एक वर्गहीन समाज गठन के लिए तथा अपनी मूलभूत अधिकार के लिए मजदूर वर्ग आज भी मोर्चा निकालता है जिसे बार-बार अनसुना कर दिया जाता है। दु:ख, दुर्दशा तथा हीनमन्यता से जीवन बसर करने का वह आदी हो गया है नमिता जो मजदूर वर्ग से है कहती है - "अपने वर्ग के अधिकारों की लड़ाई लड़ने के लिए उसे उन सभी असुविधाओं का सहर्ष वरण करना होगा जो नित्य ही उसे समझाती रहेंगी कि सपनों की दुनिया को अपने इर्द-गिर्द देखने की इच्छा करना अभावग्रस्त श्रमिकों के समक्ष किसी जघन्य अपराध से कम नहीं।"[2]

'आवां' में लेखिका ने वर्ग व्यवस्था की दयनीय स्थिति का बखूबी चित्रण किया है। गायतोंडे नमिता से बस्ती के पास रह रहे उच्च वर्ग के सरकारी अधिकारियों के मजदूर वर्ग के प्रति घृणा भाव को इस तरह उजागर करता है- "एम.ई.एस. के अधिकारियों को अपनी साफ-सुथरी सड़कों के ऊपर पहाड़ी तलहटी में बसी मजदूर बस्तियों के मैले-कुचैले रहवासियों का गुजरना अराजक तत्वों का गुजरना लगता। उनके हिकाते-गंधाते पसीने की बदबू से उनकी नाजुक बीवियों का जी मितलाने लगता।"[3] दु:खद स्थिति यह है कि सरकारी अधिकारियों की सुरक्षा के लिए मजदूर वर्ग की सुविधा को नजरअंदाज कर दिया गया। और तुरन्त इन सरकारी अधिकारियों के कहने पर दीवार खड़ी कर दी गयी। गायतोंडे कहता है- "पत्थरों की चीन-सी ऊँची दीवार का घेरा बनवाकर एम.ई.एस. के सरकारी

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 90
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 92
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 100

अधिकारियों ने प्रतापनगर के छुतहे बाशिंदों से स्वयं को अलग कर लिया। विभाजन से त्रस्त ध्वस्त प्रतापनगर के श्रमिक रहवासियों ने इसका विरोध किया। वे क्या आसमान के रास्ते आवागमन करेंगे? या मीलों की परिक्रमा पूरी कर अपनी फैक्टरियाँ पहुँचेंगे? रात पालियों से घर लौटना कोई आसान काम नहीं है। जबकि एम.ई.एस. के बंगलों को पार करते ही आगरा रोड के ठीक पटली ओर 'बड़ला', 'इंडियन लिंक चेन', 'सिबका', 'मे एंड बेकर', 'करसन', 'विटरम ग्लास' आदि पचासों फैक्टरियाँ हैं - पंक्तिबद्ध।"[1] वर्ग व्यवस्था के इस दलदल में हमेशा उच्च वर्ग के स्वार्थ को महत्व दिया गया है और मजदूरों के साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। मगर पूंजीपति वर्ग यह समझने में हमेशा असफल रहे कि मजदूर वर्ग केवल अपना हक अपने श्रम का जायज मूल्य माँगते हैं उन्हें पूंजीपतियों के धन-दौलत से परहेज नहीं है। ईमानदार देवीशंकर 'कामगार आधाड़ी' के सपने इस प्रकार लिखते हैं -

"दाल चाहिए भात चाहिए और बच्चों की शिक्षा
है बुनियादी हक की लड़ाई, नहीं मांगते भिक्षा
आज नहीं तो कल तुमको होगा देना हिसाब
पैरों तले रौंद रखे हैं जिन ख्वाबों के ख्वाब!
हमसे जो टकराएगा, मिट्टी में मिल जाएगा!
कामगार आधाड़ी जिंदाबाद! लोकशाही जिंदाबाद!"[2]

इस 'कामगार आधाड़ी' को असफल बनाकर इन्हें एक-दूसरे से लड़ाने का कार्य भी ये धनिक लोग ही करते हैं। उन्हें लगता है इन मूर्ख मजदूरों को आपस में लड़ाकर इनसे छुटकारा पाया जा सकता है। नमिता जब अपने पिता के 'कामगार आधाड़ी' में काम करने के लिए आती है तब पावार उसे यह कहता है कि पहले मजदूर दुनिया के दु:खों से दुविधा से अवगत होना अनिवार्य है एवं वह कहता है कि - "स्वयं के संग होने वाले भेदभावपूर्ण व्यवहार और शोषण के प्रतिवाद में आवाज उठा सकें। उस षड्यंत्र को समझ सकें कि किस चतुराई से उनमें से ही किसी एक को बहला-फुसला, गोद में बैठा,

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 100
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 92

प्रबंधन उनकी संगठनात्मक शक्ति में सेंध लगा, उन्हें एक-दूसरे के विरूद्ध खड़ा कर देता है।"[1] इससे हमें यह पता चलता है कि पूँजीपति अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए कोई भी हथकंडा अपनाने के लिए तत्पर है।

मजदूर आंदोलन के अलावा नमिता की जो दयनीय अवस्था हुई है, अंजना वासवानी तथा संजय कनोई के द्वारा जो शोषण उसका हुआ है वह केवल और केवल वर्ग व्यवस्था की विसंगति के कारण ही हुआ है। निम्न वर्ग की नमिता को नौकरी दिलाने का लोभ दिखाकर उसे बुरी तरह से छला गया है। उसके भोलेपन, सह्रदयता, गरीबी, बेरोजगारी की धज्जियां उड़ाई गई। उसे धनी वर्ग के हाथ अंजना वासवानी ने बेच दिया था। उन धनिक वर्ग को खुश करने के लिए नमिता को बलि चढ़ाया जाता है। नमिता इस छलावा से तब परिचित होती है जब सब कुछ खत्म हो गया और जहाँ से लौट जाना अत्यंत कष्टप्रद है। वह अपनी सहेली हर्षा से संजय कनोई के बारे में कहती है - "ऐसे सह्रदय खरीदारों की कृतज्ञतापन के लिए शब्द हो सकते हैं मेरे पास? भूखा-नंगा मजदूर किसी को दे भी क्या सकता है उनके गणित के मुकाबले ...."[2]

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रभा खेतान ने उच्च वर्ग के ओछेपन का चित्रण किया है। अपार संपत्ति होने के बावजूद भी यह कभी संतोष से नहीं रह पाते हैं। पैसों के बल पर इनका अहं तीव्र होता चलता है फलस्वरूप पारिवारिक विघटन इन उच्च वर्ग में ही देखा जाता है। पति-पत्नी के बीच अनमेल एक व्याधि बन जाता है। इनके लिए अपने घर-परिवार से अर्थ अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इसलिए प्रिया पति नरेन्द्र से कहती है - "तुम्हारे ये दोहरे मापदंड, अपने अहं को आत्मसम्मान की संज्ञा देना और मेरे अहं को अहंकार कहना? तुम कहते हो कि मुझे सब कुछ चाहिए .....घर, परिवार, पैसा, समाज में स्थान.....क्या तुम नहीं चाहते सब कुछ?"[3]

ये धनिक वर्ग के लोग धनवान भले ही हों मगर इनका मन कभी साफ नहीं होता है। प्रिया एक बड़े घर की बहू होने के बावजूद भी उसका पति उससे एक-एक रुपया का हिसाब माँगता है जो प्रिया

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 98

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 543

[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 186

को पसंद नहीं है। इसलिए वह खुद अपने पैर पर खड़े होने के लिए अपना खुद का व्यापार शुरू करती है। फिलिप जब प्रिया से उसके व्यापार करने का कारण पूछता है तब प्रिया कहती है - "सच कहूँ फिलिप, पैसे की कमी थी। अमीरी के आवरण में छिपे गरीब मन का ओछापन झेलते-झेलते मैं थक गई थी। हर चीज के लिए नरेन्द्र से पैसा माँगना और फिर हिसाब देना। रोज की झकझक।"[1] नरेन्द्र हमेशा पैसा के पीछे भागने के कारण कभी पत्नी प्रिया और बेटे के लिए या अपने माता-पिता के लिए समय नहीं निकाल पाता है। पैसा कमाना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन गया था। इसलिए नरेन्द्र और प्रिया का विवाह विच्छेद हो जाता है। समाज में व्याप्त अनेक विसंगतियों का कारण इसी धनाढ्य वर्ग की उच्श्रृंखल जीवन शैली के कारण है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सुरेन्द्र वर्मा ने भी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता से उत्पन्न वर्ग व्यवस्था का विसंगतियों पर चर्चा किया है। मध्यम वर्ग की लड़की जो जीवन में सफल बनने की आकांक्षा रखते हुए जहाँ पहुँचती और वहाँ पहुँचकर उसका जो हश्र होता है, वह केवल वर्ग व्यवस्था के फलस्वरूप है। यशोदा से वर्षा वशिष्ट बनने की यात्रा ही वर्ग भेद पर आधारित है। अगर समाज में आर्थिक असमानता न होती सभी एक जैसा एक स्तर का जीवन निर्वाह करते, तब शायद वर्षा तथा नमिता जैसी अनेक लड़कियों की जिंदगी तहस-नहस होने से बच जाती। मध्यम वर्ग से उच्च वर्ग तक की जो दूरी वर्षा तय करती है, उसे बहुत सी सच्चाइयों से सामना करना पड़ता है। उसने चाहे सफलता के शीर्ष पर पहुँच कर अपना नाम धनिक वर्ग में शामिल करवा लिया हो मगर वह अपनी मध्यमवर्गीय जड़ से कट नहीं पाती है। वह सोचती है - "पिता और दुर्बल हो गये थे। चिंताओं ने अधिक कृश कर दिया था। (नौकरी से अवकाश मिलने में भी देर नहीं थी) भाई भी पहले की तुलना में दायित्वों में सुलगते और मन से बुझे से लगे। मध्यम वर्गीय सपाट, सूनी जिंदगी कैसे तिल-तिल करके जलाती है। उसने सोचा।"[2] आसमान तक पहुँचने के लिए भले ही उसने मध्यमवर्गीय जीवन शैली को पीछे छोड़ दिया हो या मुम्बई के मायानगर के आलीशान बंगले में रहकर अपने धनाढ्य जीवन शैली से मूल्यांकन करके इतराती रहे - "अगर आप समुद्र तट पर या पश्चिम दिशा में रहते हैं, तो आपका सामाजिक

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 164

[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 184

मूल्यांकन ऊँचा होता है। अगर आप पश्चिम रेलवे उपनगरों के पूर्वी भाग में रहते हैं तो आप सम्मान के पात्र नहीं हैं और अगर आप मध्य रेलवे के किसी बस्ती में पाये जाते हैं तो आपकी सरासर बेइज्जती हो सकती है?"[1] मगर वास्तव में यह बात उसे हमेशा चुभती है कि - "मगर बचपन के गहन 'ब्लैक पीरियड' के धब्बे मिट नहीं पाये। वह चाहे कितने ही भव्य बंगले में रहने लगे। 54, सुलतानगंज की त्रासद स्मृतियों और अतृप्त आकांक्षाओं का कोल्ड स्टोरेज उसकी ऐश्वर्यशाली जीवन-शैली पर हमेशा भारी पड़ेगा।"[2]

वर्षा मुम्बई के चित्रनगरी में एक सफल अभिनेत्री बन जाती है मगर इस आपाधापी में अपने घर-परिवार तथा अपने प्रेमी नील को हारकर हताश हो जाती है। जो कुछ उसका अपना था सब कुछ उससे दूर हो गये थे। आलीशान बंगला, गाड़ी, नौकर चाकर से भरा ऐशो आराम का जीवन उसे मन की शांति नहीं दे पाते हैं। यह बात स्वयं वर्षा स्वीकारती है कि - "जिस लम्बे रास्ते पर चलकर मैं आज इस पड़ाव तक पहुँची हूँ वर्षा ने धन्यवाद देते हुए कहा, वह चमक दमक भरा, जटिल और मायावी है। अगर किसी को स्पंदनहीन और यांत्रिक होने से बचना है तो यह जरूरी है कि वह अपने पद-चिह्नों को देख ले और अपनी जड़ों को न भूले।"[3]

अत: बीसवीं सदी के अंतिम दशक में वर्ग-व्यवस्था का विसंगत रूप केवल आर्थिक असमानता पर आधारित है। जहाँ व्यक्ति नहीं पैसा बोलता है। आँखों पर पैसों का ऐनक लगाकर व्यक्ति मनुष्य को देखता है। वर्ग व्यवस्था की इस अराजकता पूर्ण स्थिति गरीब और गरीब धनी और धनिक और मध्यम वर्ग न इधर ना उधर का होकर रह जाता है। आनंद पाटिल मध्य वर्ग की विडम्बना के संदर्भ में यह कहते हैं - "पूंजीवाद मध्यवित्त के लोगों से कहता है कि तुम भी पूंजीपति वर्ग में शामिल हो जाओ और शासन करो लेकिन वह उन्हें उतनी ही सुविधाएं मुहैया करता है जिससे कि मात्र जीवन निर्वाह ही हो सके। बड़ी पूंजी को ही बड़ा मुनाफा मिलता है। मुक्त व्यापार में बड़ी मछली, छोटी

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 345
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 504
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 479

मछली को निगल जाती है।"[1] इस तरह अंतिम दशक का समाज शोषण पर आधारित है ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं होगी।

3.2 वर्ण व्यवस्था का विसंगत रूप

हिंदू समाज में वर्ण व्यवस्था प्राचीन काल से अवस्थापित है। वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज चार वर्णों ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र में विभाजित है। यह कभी भी समाज के लिए हितकारी नहीं था क्योंकि यह सदा मनुष्य को मनुष्य से अलग करने का पक्षधर रहा। डॉ. सुशीला मित्तल ने कहा है - "वर्गों में विभाजित होने के कारण वर्तमान मनुष्य में मानवता के गुणों का विकास नहीं हो पाया है। यदि किसी सीमा तक विकास हुआ भी है तो कुंठित एवं एकांगी है।"[2] प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था कुछ हद तक व्यवस्थित रही। पारम्परिक जीवन शैली, जनसंख्या में कमी तथा अशिक्षा के कारण लोग एक दूसरे की स्थिति को समझते हुए प्रेम भाव से रहते थे। डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा कहते हैं कि - "इस व्यवस्था का आरंभ अच्छा रहा। उस समय एक वर्ण दूसरे वर्ण को प्रेम की दृष्टि से देखता था। सभी अपने कार्य में व्यस्त थे।"[3] जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होने लगा वैसे ही यह व्यवस्था चरमराने लगी। इस व्यवस्था में अन्याय, अत्याचार, पक्षपात, हिनमन्यता आदि प्रबल हुए। मानवीय जीवन मूल्य पद दलित होने लगा। आपस में प्रेम के स्थान पर ईर्ष्या तथा घृणा अवस्थापित होने लगी है। धीरे-धीरे यह व्यवस्था समाज को धराशायी कर रही है। आधुनिक काल में वर्ण व्यवस्था अधिक विकट रूप धारण कर रही है। समाज की समस्त व्यवस्था आज इसी पर आधारित है। राजनीति में यह सबसे प्रभावशाली मोहरा बन गया है। डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा के शब्दों में - "वर्तमान काल में शोषण, अत्याचार, आर्थिक विषमता आदि का मूल कारण वर्ण-वैषम्य है।"[4] समय क्रम में 'वर्ण' 'जाति' में रूपांतरित हो गया। फिर समाज के एकीकरण में यह बाधक बन गया। लोग एक-दूसरे से जाति के आधार पर लड़ने लगे। प्रकाश नारायण नाटाणी कहते हैं कि - "जातिवाद वह संकुचित भावना है

---

[1] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण - आनंद पाटील, पृ.सं. 51
[2] आधुनिक हिंदी कहानी में नारी - डॉ. मित्तल, पृ.सं. 54
[3] आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ - डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा, पृ.सं. 92
[4] आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ - डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा, पृ.सं. 93

जिससे वशीभूत होकर व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र को विशेष महत्व नहीं देकर अपने जाति हितों को सर्वोपरि मानता है, अपनी जाति के स्वार्थों की दृष्टि से सोचता है।"[1]

अंतिम दशक में भी यह समाज पर हावी है जिसे हमारे साहित्यकार अपनी लेखनी के माध्यम से सचेत करते हैं। औद्योगीकरण तथा भूमंडलीकरण के दौर में जाति अधिक नाजुक बन गयी। इसलिए जहाँ इस कलंक को मिटाना चाहिए था लोग इसे अपने स्वार्थपरक विकास के लिए इसे ढाल बना दिया। इस संदर्भ में प्रकाश नारायण नाटाणी का यह कथन संगत प्रतीत होता है - "आज विभिन्न जातियाँ इसी दिशा में प्रयत्नशील हैं, जातीय संगठनों के निर्माण में लगी हुई हैं, अपनी जाति के लोगों से हर कीमत पर सब प्रकार की सुख सुविधाएँ पहुँचा रही हैं, चाहे इससे राष्ट्रीय अहित ही क्यों न हो।"[2] अत: आधुनिक समाज में यह व्यवस्था अत्यंत शोषणकारी साबित हो रही है। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल वर्ण व्यवस्था की विसंगतियों को उजागर करती हैं। उपन्यास का नीच कुल का पात्र पवार कहता है - "शायद मेरे दादाजी के मन में कहीं दबी-ढकी यह लालसा रही हो कि उच्च जातियों जैसे सुंदर नाम तो वे अपने पोते का रख नहीं सकते। उच्च जाति सूचक संबोधन को ही पोते के नाम के रूप में क्यों न रख लें। संभव है मेरे नाम के संग पुछल्ले-सा जुड़ा जाति कलंक 'कांबले' भविष्य में बंदर की पूंछ-सा छटक जाए और मैं मनुष्य मान लिया जाऊँ। वैसे, ऐसे चमत्कार तुम्हारे उत्तर प्रदेश में भी कम नहीं। सवर्णों की लात खाने वाले डोम-चमार कहीं रामदीन हैं, कहीं गुडंयादीन, कहीं मातादीन हैं तो कहीं सेवकदीन। रामदीन के रूप में मैला ढोते हुए भगवान राम कितने मजेदार प्रतीत होते हैं न!"[3] अंतिम दशक में पवार जहाँ एक शिक्षित एवं कामगार आधाड़ी का सशक्त कार्यकर्ता है वह भी इस भेदभावपूर्ण व्यवस्था से मुक्त नहीं हो पाया है। नमिता की माँ जब बेटी की शादी के लिए लड़का ढूँढ़ती है तब नमिता की मौसी कुंती जब पवार से बेटी की शादी के बारे में प्रस्ताव रखती है तब नमिता की माँ कहती है- "ठाकुर-बनिया होता, छोटी! तब भी जी पोढ़ा कर लिया होता जात का ठहरा पवार!

[1] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, पृ.सं. 291

[2] भारत में सामाजिक समस्याएँ - प्रकाश नारायण नाटाणी, पृ.सं. 291

[3] आवाँ - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 368

चमार- चट्टा! सोचना भी पाप है।"[1] बीसवीं सदी के अंतिम दशक में जात-पात पर आधारित समाज में छुआछूत तथा भेदभाव पूर्ण स्थिति सभी वर्ग में दिखाई पड़ती है। यह एक अंतहीन सिलसिला है। उन्हें घृणा एवं तिरस्कार भावना से देखना तथा उन्हें सहज और सम्मानपूर्ण जीवन जीने न देना समाज में मान्य हो गया है। नमिता की माँ उर्मिला अपनी बहन के बेटे से कहती है - "तेरी वो बात सही मुन्नु, लेकिन सोच, छूत ....अछूत....... न जाने कौन जाति बिरादरी का मजबूर मानुस।"[2] वर्ण व्यवस्था नीच जाति लोगों से जीवन भर अपनी मजबूरी, दीनमन्यता, हताशा के साथ जीवन निर्वाह करने के लिए छोड़ दिया है। कभी-कभी न चाहते हुए भी उन्हें यह स्वीकार करना पड़ता है। पवार नमिता से कहता है - "खैर तुम लोग ठहरे वेदपाठी ब्राह्मण! उच्च वर्ग के नीम, बबूल के दातून करने वाले। पिता बताते हैं, गाँव के झाड़-झंखाड़ तक सवर्णों की मिल्कियत थी। हम मैला ढोने वालों के नहाने धोने के लिए थी मेड़ की मिट्टी। दांत पिसने के लिए चूल्हे की राख।"[3] 'पंचनामा' उपन्यास में वीरेन्द्र जैन ने भी वर्ण व्यवस्था की विसंगति के बारे में चर्चा की है। उपन्यास का पात्र पंचम कहता है - "साहूकारों की पुण्यात्मा बिरादरी इस काम को पाप कर्म समझती है, मानती है। सो, साहूकारों को खेती-किसानी की मनाही है। इस पाबंदी को न मानने वाले को बिरादरी बाहर करते देर नहीं लगती। ऐसे परिवार को कोई साथ देने को तैयार नहीं होता। पाप मार्ग पर चलने वाले का हाथ थामना तो पाप करना ही हुआ न!"[4] मुख्य रूप से गाँव में इसका विकृत रूप अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। हिन्दू धर्म की इस कठोर व्यवस्था ने लोगों के दिल दिमाग पर इस तरह कब्जा कर लिया है जिससे मुक्त हो पाना शायद ही कभी संभव हो। वीरेन्द्र जैन उपन्यास के आरंभ में ही कहते हैं - "इस गाँव में एक बिरादरी पुण्यात्माओं की है। इस बिरादरी में उसी आत्मा को जन्म धारण करने का अवसर मिलता है, जिसने पिछले जन्म में अनंत पुण्य किए हों। ऐसा न केवल यह बिरादरी मानती आ रही है, गाँव में रहने वाली अन्य बिरादरियों के जीवधारी भी यही मानते आ रहे हैं। अलबत्ता उन्हें यह बात मनवाई इस पुण्यात्मा बिरादरी ने या

[1] आवाँ - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 431
[2] आवाँ - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 37
[3] आवाँ - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 344
[4] पंचनामा - वीरेन्द्र जै, पृ.सं. 42

उनके हालात ने, यह खोज का विषय हो सकता है।"[1] सदियों से यह व्यवस्था समाज को खोखला बनाती आ रही है। पुण्यात्मा-पापात्मा के भंवर में मनुष्य फँसता जा रहा है। 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सुरेन्द्र वर्मा ने इसका चित्रण किया है। वर्षा वशिष्ट एक सफल अभिनेत्री बनकर शहर में रहने लगती है। मगर उसके रूढ़िवादी पिताजी जिनके अंतर्मन में यह ऊँच-नीच, छुआछूत भावना घर कर गयी है उसे बार-बार यह याद दिलाते रहते हैं। वर्षा की बहन कहती है - "जिज्जी, दद्दा ने मुझसे झुमरी की जाति पूछी है। जब मैंने उन्हें दवा की गोली दी तो झुमरी बेचारी पानी लेकर आ गयी। कई लोग थे। इसलिए उन्होंने गिलास तो ले लिया। दोपहर को झुमरी ने उन्हें चाय दी। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि प्याला वैसा ही अनपिया रखा है। तब भाभी अपने हाथों से चाय बनाकर उन्हें दे आयीं। झुमरी दीदी बेचारी रूआँसी हो गयी......"[2] लेकिन विडम्बना यह है कि शिक्षित तथा सफल होने के बावजूद भी वर्षा के मन में यह बुनियादी बातें जड़ जमाये हुए हैं। वह भी अपने ब्राह्मण होने पर गर्व महसूस करती है। जब उसकी बहन झल्ली दद्दा के झुमरी के नीच जात होकर घर में खाना पकाने का विरोध करने की बात वर्षा को बताती है तब वर्षा पश्चाताप करती है - "वर्षा ने गहरी साँस ली। फिर मन-ही-मन अपनी भर्त्सना की। लबे समय तक महानगरों में रहने और आषाढ़ के पहले मेघ के समान 'लिबरल' कला-क्षेत्रों में घुमड़ने के बाद वह ऐसी बुनियादी बातें भूलने लगी है।"[3] वह अपनी बहन झल्ली से कहती है - "झल्ली यहाँ से पांडेजी को फोन करो। कहना, थोड़े-से गंगा जल का प्रबंध कर दे। फिर दद्दा के सामने अपनी पापी रसोई शुद्ध कर लो। थोड़े-से बर्तन दद्दा के लिए अलग निकाल लो। उनका खाना दोनों जून तुम और हेमलता बनाना। सुबह-शाम जब मुझे समय मिलेगा, मैं हाथ बटाऊँगी।"[4] यह बुनियादी बातें समाज में घर कर गयी हैं। उससे चाहकर भी मुक्त होना संभव नहीं है। कभी न कभी उच्च कुल वाले इसे याद दिलाते रहते हैं। उच्च कुल में जन्म होने के अहंकार के कारण वे हमेशा अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। वर्षा के पिता भी ब्राह्मण होने के अहं का पोषण करते हैं- "वेदपाठी ब्राह्मण के घर में खाने का

---

[1] पंचनामा - वीरेन्द्र जै, पृ.सं. 9
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 497
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 498
[4] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 498

निवास शास्त्रों में वर्जित है।"[1] वर्षा का हर्ष के साथ शादी की बात को लेकर भी वर्षा के पिता नाराज इसलिए थे क्योंकि हर्ष विजातीय था। वर्षा सोचती है - "जातिभेद हिन्दू धर्म का आधार है।" पिता ने कहा था, झल्ली ने प्रेम करने की भूल जरूर की है, पर किया तो ब्राह्मण से है। इसलिए उसका गठबंधन विवाह के आठ प्रकारों में सर्वोच्च 'ब्राह्म' माना जाएगा, जो माता-पिता की सहमति से होता है। पर हर्ष के साथ तुम्हारा परिणय सबसे नीची किस्म का 'पैशाचिक' ही रहेगा।"[2] यहाँ तक वर्षा के पिता जीवन भर वर्षा से असंतुष्ट इसलिए रहे क्योंकि वह ब्राह्मण कुल में पैदा होकर कुल विरोधी कार्य करती है। अभिनेत्री बनना, विजातीय से प्रेम करना, घर में कुत्ता पालना, छोटी जात की नौकरानी के हाथ खाना पकवाना, सुरापान करना आदि इसलिए उन्हें अग्राह्य है क्योंकि यह किसी ब्राह्मण को शोभा नहीं देता है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रभा खेतान ने इस व्यवस्था की विकट सच्चाई का पर्दाफाश किया है। प्रिया अपने घर के नियम-कानून के बारे में बताते हुए कहती है- "मेहतर की सीढ़ी बाथरूम से नीचे अलग जाती थी और उस पर सिर्फ मेहतर ही उतरकर जा सकता है और कोई प्राणी नहीं। मेहतर ग्यारह बजे तक हाँक लगाते हुए आता,"अरे भाई! पानी लाओ।" उसे नल छूने की मनाही थी।"[3] प्रिया की माँ इस बात का कठोर पालन करती है। बड़े घर के होने के बाद भी मन में छोटेपन को गर्व के साथ पोषण करते हैं। मनुष्य को पशु से भी यह हीन मानते हैं। बीसवीं शताब्दी में भले ही लोगों में यह चेतना विकसित हुई कि जात-पात रूपी राक्षस का वध होना जरूरी है मगर समाज में यह व्यवस्था इतनी सशक्त है कि उसे जड़ से निकाल फेंकना असंभव प्रतीत होता है। दलित उत्थान हेतु अनेक कार्य समाज में किए जा रहे हैं उन्हें सशक्त बनाने के लिए हर तरह का प्रयत्न जारी है। परन्तु उन्हें घृणा एवं तिरस्कार भावना से देखना आज भी जारी है। शिक्षित समाज में भी लोग यहाँ पर अशिक्षित सा व्यवहार करते हैं। 'अपनी सलीबें' उपन्यास में नमिता सिंह का सम्पूर्ण उपन्यास इस संवेदनशील व्यवस्था के कारण किस प्रकार लोग पीड़ित, शोषित हो रहे हैं उस पर चर्चा किया है और इस व्यवस्था को पालन करते हुए कैसे दर्दनाक अंत तक पहुँचना होता है उस पर भी चेतना प्रदान करती है। शिक्षित

---

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 494

[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 533

[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 83

तथा आत्मनिर्भर नीलिमा इस रूढ़िवादिता के कारण अपने संपूर्ण जीवन को तहस-नहस कर देती है। जिसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी है। नीलिमा ईशु से प्रेम विवाह करती है मगर जब उसे यह पता चलता है कि ईशु नीच कुल का है तब नीलिमा उसे छोड़कर भाग जाती है और फिर बहुत दिन अलग रहने के पश्चात ईशु से तब वह भी मिलती जब ईशु जीवन के चंद लम्हों का मेहमान होता है और नीलिमा पश्चाताप करती है तब तक ईशु दुनिया से चल बसता है। एक शिक्षित नारी होने के बाबजूद भी नीलिमा के सम्मुख जात-पात की भावना रूपी कोहरा घना बना हुआ होता है। जिसे पार कर जाना नीलिमा के पक्ष में कष्टसाध्य था। ऐसी स्थिति में ईशु का शिक्षित, समझदार, ऊँचे पद पर अवस्थापित तथा भला मानुष होना नीलिमा के लिए कोई मायने नहीं रखते हैं। नीलिमा की माँ कहती है - "तो! इतनी सारी बातें एक तरफ और सिर्फ एक बात कि वह जाति का छोटा आदमी है, एक तरफ! तुमने दोनों पलड़े बराबर कर दिए! बल्कि सारी अच्छाइयाँ खत्म करके तराजू पर सिर्फ उसकी जाति रख दी!"[1] लेकिन सदियों से संजोये गये संस्कार से नीलिमा मुक्त नहीं हो पा रही है। वह अपनी माँ से कहती है - "वह हमारे बराबर की नहीं अम्मा! वह ठाकुर नहीं है लेकिन वह ब्राह्मण भी नहीं है। वह बहुत छोटे लोगों में से है। वह उन लोगों में से है जिनके हाथ का पानी तुम गाँव में शायद आज भी न पी सको।"[2] ईशु भी बचपन में ही इस कठोर व्यवस्था में दबकर, खण्डित होकर अपना मुकाम तय किया था। वर्ण व्यवस्था में तपते-तपते ईशु को यह एहसास हो गया था कि "हमारे समाज में खानों में बँटा हुआ टुकड़ा-टुकड़ा इंसान ही मिलता है। आदमी का स्वरूप, उसकी शक्ल-सूरत, रंग उसका स्वभाव और व्यवहार, सब कुछ उसकी जाति, उसका धर्म और वर्ण ही निर्धारित करते हैं। ये आदमी की जाति उसके दिल और दिमाग, उसकी आत्मा पर प्रेत की तरह हावी हो जाती है। अजीब जादू की छड़ी है यह। आदमी की जाति बदल दो, सारी दुनिया बदल जाती है। वही उसकी शक्ल-सूरत, रंग, व्यवहार सब सहज स्वीकार्य हो जाता है।"[3] ईशु ने अपनी सफलता से अपनी राह खुद चुनी थी और उसने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि नीलिमा जैसी शिक्षित नारी भी अपने अंतर्मन में इस गंदगी को पालती

---

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 218

[2] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 217

[3] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 186

है। वह सोचता है - "जिन अंधेरी खौफनाक गलियों के मुँह वह विभास पत्थरों से बंद कर आया था, नीलिमा उन पत्थरों को हटाकर उसे फिर उन्हीं अंधेरों में धकेलने का प्रयास कर रही है। वहाँ वापस लौटने का अर्थ ईशु के लिए आत्महत्या होता। वह आत्महत्या नहीं कर सकता था। वह उस दुनिया को बहुत पीछे छोड़ आया था जहाँ रोज मरना और रोज जीना मजबूरी होती है। उसने अपने हर कदम के लिए चट्टान तोड़ी थी। सिर्फ इसलिए कि ऐसे माँ-बाप से जन्मा था जिन्हें छू भर लेने से लोग इंसान नहीं रह पाते। ऐसे माँ-बाप उसे इस दुनिया में लाए थे जिनके हिस्से में समाज अपनी जूठन और तलछट फेंकता है।"[1] ईशु यह भी समझता है कि नीलिमा अपने बुनियादी संस्कार से आज भी मुक्त नहीं हो पायी है और न ही यह इतना सहज है। "ईशु समझता था कि नीलिमा का अहम् क्षत-विक्षत हुआ है। उसके अपने संस्कार थे। हजार वर्षों के संस्कारों के गर्वित इतिहास का यूँ अचानक धराशायी हो जाना किसी भूचाल से कम नहीं हो सकता।"[2] नीलिमा को जब ईशु की जात के बारे में पता चलता है उसके सामने ईशु का निश्छल प्रेम तुरन्त धुंधला पड़ गया। ईशु से उसके शरीर से नीलिमा को घृणा होने लगी। यह अत्यंत वेदना पूर्ण है कि आधुनिक नारी जहाँ स्वयं को स्वतंत्र मानती है वह इस रूढ़ी से छुटकारा नहीं पा सकी। नीलिमा ईशु से इस तरह घृणा करने लगी जो वास्तव में मेरे दिल को चोट पहुँचाती है - "देर तक वॉश बेसिन पर खड़ी वह उबकाई भरती रही और झाग थूकती रही। फिर शावर खोल दिया उसने। खुशबूदार साबुन मल-मलकर देर तक नहाती रही अलग करती रही उसे नामालूम वास को जो ईशु के साथ-साथ उसके वजूद से भी जुड़ गई थी। अपने शरीर का एक-एक अंग उसने रगड़-रगड़कर साफ किया और ढेरों पानी बहाया। अपना चेहरा, पलकें, पैर, इस तरह रगड़ने से शायद एक ऊपरी परत निकल जाए और वह पहले की तरह हो जाए - शुद्ध-पवित्र!"[3]

बीसवीं शताब्दती के अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते समाज के नीच तथा दलित वर्ग जहाँ अपने अधिकारों के प्रति जागृत हो रहे थे वहीं दूसरी ओर उन्हें राजनैतिक खेल का सशक्त मोहरा बना दिया गया था। राजनेताओं के लिए वोट बैंक बन गये थे। नमिता सिंह लिखती हैं - "यह मुल्क का

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 185
[2] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 184
[3] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 105

दुर्भाग्य है कि यहाँ से व्यक्ति गायब हो गया है। वर्ग भी निर्णायक नहीं रह पाया। केवल वर्ण ही सर्वोपरि रह गया है जो समाज में लगातार निर्णायक की भूमिका निभा रहा है। ये वर्ण लगातार रंगत बदलता है। एक-दूसरे के साथ मिलता है और अलग हो जाता है। सारे रंग ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ राजनीति और सत्ता की धुरी के साथ चलते चलते बेमेल और बेरंग हो गए हैं।"[1] ईशु जिस जगह पर प्रशासनिक अधिकारी होता है उस जगह सवर्ण और अवर्ण के बीच विवाद का कारण भी राजनीतिक दाँव-पेंच ही होता है। जिसमें ईशु भी खुद फँसा हुआ था। जहाँ एक ओर सुविधासंपन्न व्यापारी थे तो दूसरी ओर चमड़े के व्यापारी थे जो समाज में नीची जात के माने जाते हैं। ये शोषित अवर्ण व्यापारी अपने अधिकारों को पाने के लिए कुछ भी कर गुजरने के लिए तैयार रहते हैं। सवर्ण-अवर्ण की सदियों पुरानी लड़ाई ने इन्हें अधिक कठोर और निर्मम बना दिया है। ईशु कहता है - "दोनों ओर व्यापारी थे। विवादग्रस्त जमीन पर दोनों का दाँव था। थैलियों के मुँह दोनों ओर से खुले थे। एक के पास युगों से संचित प्रतिष्ठा, सम्मान और जातीय गौरव था तो दूसरी ओर धन के बल पर प्रतिष्ठा अर्जित करने का तथा वोट बैंक की राजनीति में अपने महत्वपूर्ण होने का अहसास था।"[2] ईशु जो स्वयं नीच कुल के होते हुए भी बिना फायदा उठाये अपनी खुद के बलबूते पर उच्च पद पर पहुँचता है उसे भी उसके जाने-अनजाने इस स्वार्थी खेल में मोहरा बना दिया गया था - "मुख्यमंत्री की इच्छानुसार उसे हरिजन कल्याण के काम से सम्बद्ध किया गया। उसके लिए अलग से पद सृजित कर उसे यह विशेष जिम्मेदारी सौंपी गई थी क्योंकि उस क्षेत्र में दलित वर्ग के लोग जनसंख्या का खासा बड़ा हिस्सा थे। हरिजन कल्याण के कामों में वहाँ शिकायतें बहुत थीं। साथ ही प्रभावशाली हरिजन नेताओं का हस्तक्षेप भी था, जो वोट बैंकों के अलमबरदार थे।"[3]

'आवां' उपन्यास में राजनीति के इस घिनौने खेल का पर्दाफाश हुआ है। पवार नमिता से कहता है - "सोचो नमिता? क्यों अंटी में नाग पाल रहे हैं अन्ना-साहब!

संकेत उसके सिर के ऊपर से गुजर गया।

---

[1] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 133

[2] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 134

[3] अपनी सलीबें - नमिता सिंह, पृ.सं. 135

समझी नहीं?

यानी मुझे! यह जानते हुए भी कि मैं उनकी अधिकांश नीतियों से असहमत ही नहीं, पूर्णत: उनके विरूद्ध हैं - सहते हैं। दलित वर्ग के मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता हूँ। मुझे बढ़ावा देकर वह दलितोत्थान के क्षेत्र की माला अपने गले में पहन साबित करना चाहते हैं कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर के बाद दलितों को न्याय दिलाने वाले वे एकमात्र मसीहा हैं।"[1] यहाँ तक कि अवर्ण भी इसे भलीभांति समझ गये हैं कि उन्हें समाज में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वे आज इतने सशक्त तथा संगठित हो गये हैं कि उनके साथ और खिलवाड़ नहीं किया जा सकता है। सवर्णों के जैसा उन्हें भी अहं का एहसास होने लगा है। भूमंडलीकरण, शिक्षा, उपभोक्तावादी समाज में वे अपनी अस्मिता के प्रति जागृत होने लगे हैं। अपनी स्थिति किस प्रकार मजबूत किया जा सकता है चाहे वह गलत उपाय में ही क्यों ना हो वे उस पथ को आजमाने लगे हैं। शोषण की प्रक्रिया में तपते-तपते ये कठोर तथा निर्मम बनते जा रहे हैं। इसलिए पवार दलित होकर भी उसके मन में नमिता के प्रति स्वाभाविक प्रेम न होकर एक लालसा होती है कि वह उससे शादी कर ले ताकि उसे राजनीतिक सफलता प्राप्त हो सके। भेवडे नमिता से कहता है- "देखो, स्वयं पवार ने मुझसे स्वीकारा है कि वह तुम्हें .....तुम उसके मन की कमजोरी हो। तुम से ब्याह करना उसका सपना है। उसका मानना है कि जीवन साथी के रूप में ब्राह्मण और दलित का गठबंधन सुन्दर, बुद्धिमति संतानें ही नहीं देगा, राजनीति में भी फलदायी समीकरण सिद्ध होगा। सवर्ण-अवर्ण दोनों के वोट झोली में होंगे।"[2]

आधुनिक समाज में औद्योगीकरण तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण जीवन मूल्य धराशायी हो रहे हैं। फलस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विकृत होती जा रही है। उभय सवर्ण-अवर्ण समस्त मानवीय मूल्यों, नैतिकता आदि की तिलांजलि देकर एक दूसरे के लिए अहित करने लगे हैं। जिसके कारण एक-दूसरे के करीब आने के बजाय दूर होते जा रहे हैं। दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं जो समाज के विकास के पथ को अवरोधित करती है।

---

[1] आवाँ - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 347

[2] आवाँ - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 410

3.3 शिक्षा जगत में विसंगतियाँ

शिक्षा एक स्वस्थ समाज निर्माण करने में बहुत बड़ी भूमिका निर्वाह करती है। शिक्षा मनुष्य के मन से ऊँच-नीच, अंधविश्वास आदि विकृत गुणों का निवारण करने में सहायक होती है। आदिम काल से ही ऋषि और मुनि इसी महत्त उद्देश्य से ही शिक्षा प्रदान करते थे, जिससे समाज का कल्याण, राज्य का कल्याण हो और सबसे मुख्य बात यह है कि शिक्षा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। जब एक व्यक्ति स्वयं शिक्षित हो तब जाके वह स्वस्थ समाज निर्माण में सहायक हो सकता है। जैसे-जैसे प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित होता जाएगा उसका जीवन को देखने का नजरिया भी बदल जाएगा। अत: शिक्षा का मूल्यपरक होना अत्यंत जरूरी है। जो व्यक्ति में नैतिकता, मानवता आदि उच्च जीवन मूल्य का संचार कर सके। उन जीवन मूल्यों को साथ लेकर व्यक्ति एक स्वस्थ तथा सशक्त समाज निर्माण कर सके जहाँ अमीर गरीब सब समान हों। इस समानता को अवसर प्रदान करने के लिए सामाजिक दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आवश्यक है वह शिक्षा के माध्यम से ही संभव है।

यह तो शिक्षा का मुख्य उद्देश्य या लक्ष्य है मगर दु:ख की बात यह है कि शिक्षा आज अपने मूलभूत उद्देश्य से दूर जा रही है। समाज के अन्य क्षेत्र की भांति शिक्षा जगत में भी असमानता दिखाई पड़ती है जिसके कारण शिक्षा का स्तर आज गिरता जा रहा है। जिस शिक्षा का मूल उद्देश्य नैतिकता, मानवता का विकास करना था वह शिक्षा जगत आज अनैतिक तथा अमानवीयता का अड्डा बन गया है। शिक्षा जगत में भी आज भ्रष्टाचार, राजनीति, साम्प्रदायिकता अपना झंडा लहरा रहे हैं। गुरू-शिष्य के संबंध में आज गहरी खाई दिखाई देती है। अनुशासनहीनता, तथा उद्दंडता गुरू एवं शिष्य दोनों के लिए आज सामान्य बात है। अत: शिक्षा के भविष्य के बारे में हम अंदाजा लगा सकते हैं। और यह भी अंदाजा लगा सकते हैं कि ऐसी शिक्षा से समाज किस ओर अग्रसर होगा? शिक्षा जगत में हर जगह चाहे वह एक स्कूल हो या एक बड़ा संस्थान सब जगह एक ही बात नजर आती है। राजनीति, भ्रष्टाचार, यौन शोषण, जात-पात, भाई-भतीजावाद सब शिक्षा संस्थान को भी ग्रस्त कर चुकी है। इन शिक्षा संस्थानों में बड़े-बड़े पदों पर अधिष्ठित व्यक्ति इसका फायदा उठाते हैं। अपने स्वार्थ के लिए वह कुछ भी कर सकते हैं। चाहे देश का भविष्य टूट कर बिखर ही क्यों न जाए।

शिक्षा जगत में व्याप्त विसंगतियों के बारे में हमारे रचनाकार भी दृष्टिनिक्षेप करते हैं। और हमें उनके माध्यम से जयादा जानकारी प्राप्त होती है। उपन्यासकार गिरिराज किशोर का उपन्यास 'यातनाघर' इसी विषय पर आधारित है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि कैसे देश के एक बहुत बड़े संस्थान में राजनीति, भ्रष्टाचार, अपराध आदि अपनी काया का विस्तार किये हैं। अंतर्जातीय ख्याति संपन्न अध्यापक जिनपर देश को नाज़ है, अपने स्वार्थ की खातिर देश को खोखला बना रहे हैं। देश से ज्यादा विदेश की तारीफ करते हैं। गिरिराज किशोर एक ऐसे ख्यातिसंपन्न संस्थान के बारे में बात करते हैं जहाँ पर देश के लिए नहीं विदेश जाने के लिए छात्र गढ़े जाते हैं। जो शिक्षा समाप्त करते ही विदेश उड़ जाते हैं। इस बात से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि कैसे हमारे लोग देश का खाते हैं देश का पीते हैं मगर विदेश का गुण गाते हैं। इससे हमारे देश की क्या उन्नति हो सकती है अंदाजा लगाया जा सकता है। गिरिराज किशोर लिखते हैं - "एक ऐसा शिक्षा संस्थान, जहाँ के पढ़े कभी वापस घर नहीं लौटते। साइबेरिया से आई चिड़ियाँ तो दिन गर्म होने पर हजारों मील की उड़ान भरकर अपने देश लौट भी जाती है, लेकिन इस शिक्षा संस्थान से निकले बच्चे जब उड़ान भरते हैं तो समुद्र पार ही जाते हैं। यहाँ रह भी जाते हैं तो उसी चरागाह के बारे में सोचते रहते हैं, जहाँ उनकी डाल के बाकी पंछी बसेरा करने चले गए।"[1]

शिक्षा जगत में यह व्याप्त विसंगतियों में हर एक व्यक्ति जाने अनजाने चाहे अनचाहे फँसा हुआ है। कुछ सदाचारी, ईमानदार लोग हालांकि शिक्षा जगत को सुधारने की कोशिश में लगे हुए हैं, मगर उनकी क्या हालत हो रही है इस बारे में गिरिराज किशोर ने अपने उपन्यास 'यातनाघर' में स्पष्ट वर्णन किया है। स्वयं लेखक शिक्षा जगत से जुड़े रहने के कारण ऐसा लगता है कि उनके अपने अनुभव से उन्होंने 'यातनाघर' उपन्यास लिखा है, क्योंकि उन्होंने नजदीक से उन्हें जाँचा परखा है। 'यातनाघर' उपन्यास में विष्णु नारायण और संस्थान के निदेशक ऐसे ही पात्र हैं जो बहुत ही ईमानदार हैं और दिल से संस्थान का भला करना चाहते हैं। मगर वहाँ पर उनकी स्थिति अत्यंत भयावह होती है। वह एक ऐसा संस्थान है जहाँ पर अध्यापकों का दबदबा रहता है और अध्यापकगण अपने को संस्थान का

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 16

असली शासक समझते हैं। तभी तो निदेशक विष्णुनारायण से कहते हैं - "ये लोग इस संस्थान के असली शासक हैं.....डायरेक्टर्स तो आते-जाते रहते हैं लेकिन ये लोग स्थायी हैं ......।"[1] उस संस्थान में विष्णु नारायण ने प्रशासनिक अधिकारी के रूप में कार्यभार संभाला था और अध्यापक लोग खास करके जो संस्थान के डीन थे चाहते थे कि वह उनके हिसाब से काम करें। निदेशक उसे संस्थान की स्थिति के बारे में समझाते हुए कहते हैं - "हो सकता है आपको खिलाफत का सामना करना पड़े। लोग आपको परेशान करें, हिकारत की नजर से देखें। उस पर भी आपको जमे रहना है।"[2] संस्थान पूर्ण रूप से राजनीति का शिकार है और विष्णु नारायण जैसे ईमानदार आदमी की हालत दयनीय है। लेखक कहते हैं - "विष्णुनारायण ऐसे पद पर आया था जो प्रशासनिक था और जीभ की तरह दाँतों के बीच रहना उसकी नियति थी। वहाँ के लोगों की नजरों में वह सबसे ज्यादा घृणित पद था। वे लोग स्वच्छंदतावादी थे। ऐसे लोगों को पसंद करते थे जो उनकी स्व्च्छंदता में और चार चाँद लगाएं, घटाए नहीं।"[3] उपरोक्त कथन में 'वे लोग' वही हैं जो संस्थान को खोखला करने में लगे हैं भले ही यह दिखाने का प्रयास करते हों कि वे संस्थान की भलाई चाहते हैं। उच्च शिक्षित होने और विदेश से शिक्षा प्राप्त के कारण उन लोगों का पाँव जमीन में नहीं पड़ता और संस्थान के कर्मचारियों को वे इंसान नहीं समझते हैं। कर्मचारियों की भलाई के बारे में वे लोग कभी नहीं सोचते हैं। बस अपने स्वार्थ के बारे में ही सोचते हैं। इसलिए विष्णुनारायण तो फिर भी प्रशासनिक अधिकारी हैं यहाँ तक निदेशक जो अस्थायी हैं उनकी स्थिति भी भयावह है। सबसे दु:खद बात तो यह है कि उस संस्थान के पूर्व प्रशासनिक अधिकारी की मौत के कारण भी वही लोग थे। पूर्व प्रशासनिक अधिकारी के मरने के बाद भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। निदेशक विष्णुनारायण से कहते हैं - "अगर कोई प्रशासनिक अधिकारी मर भी जाता है तो उनके लिए वह मानवीय स्थिति न होकर प्रशासनिक स्थिति ही होती है। आपको आश्चर्य होगा कि इतने बड़े संस्थान का सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारी मरा और उसके शव के साथ तीन सौ अध्यापकों

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 55
[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 19
[3] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 19

में से केवल दस अध्यापक, बीस-पच्चीस कर्मचारी थे।"[1] इस बात से स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। एक ख्याति संपन्न संस्थान में जो कारनामे होते हैं, 'यातनाघर' उपन्यास पढ़ने से जानकारी प्राप्त होती है। संस्थान के जो वरिष्ठ अध्यापकगण हैं वे अपने को संस्थान का हर्त्ता-कर्ता समझते हैं। निदेशक विष्णुनारायण इन अध्यापकों के बारे में कहते हैं - "ये सब लोग बीस-बीस साल से मशीन के कलपुर्जे और धुरियाँ बने हुए हैं। इनकी कोशिश होगी कि आप मशीन के अन्दर धुरी न होकर ऊपर रखा हुआ ढक्कन बने रहें।"[2] वे अध्यापकगण अपने खिलाफ कुछ भी सहन नहीं कर सकते हैं। हर जगह वे अपनी ताकत दिखाते हैं। अगर कोई उनके खिलाफ और कर्मचारियों के पक्ष में बात करता है और उनकी सहायता करना चाहता है तो उसको इन लोगों का कोपभाजन होना पड़ता है। डॉ. अनंग जो कि एक प्रोफेसर हैं और कर्मचारियों के हक के लिए लड़ते हैं उनको बिना अपनी बात कहने का मौका दिए बर्खास्त कर दिया जाता है। नये प्रशासनिक अधिकारी के पद पर विष्णु नारायण जब उस संस्थान में प्रवेश करता है तब निदेशक उसको संस्थान के बारे में, अध्यापकों के बारे में, वहाँ की राजनीति आदि के बारे में उसका परिचय कराते हैं और डॉ. अनंग के बारे में कहते हैं - "डॉ. अनंग को किस तरह बिना अपनी बात कहने का मौका दिए बर्खास्त कर दिया गया था। सिर्फ इसलिए क्योंकि वे उन दैनिक वेतन कर्मचारियों के साथ थे जो पाँच-पाँच, छह-छह साल काम करने के बाद नियमित नौकरी की माँग कर रहे थे। उन्हें यहाँ के निदेशक 'कुत्ता' कहते थे। जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार के जमाने में हिन्दुस्तानियों को कुत्ता कहा जाता था, उसी प्रकार उत्तर भारत के उन लोगों को यहाँ कुत्ता कहा जाता था।"[3]

दु:ख की बात यह है कि इन शिक्षित वृन्द अशिक्षित या गरीब लोगों को संस्थान का सदस्य नहीं मानते हैं। उनकी नजर में कर्मचारियों की कोई कीमत नहीं होती है। संस्थान के डीन डॉ. देसाई इस संदर्भ में कहते हैं - "वे भूल जाते हैं कि ये सब लोग संस्थान के लिए हैं। संस्थान इनके लिए नहीं। वे

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 22
[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 24
[3] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 37

छात्रों-शिक्षकों के पर्याय कभी नहीं हो सकते। वे केवल सहायक मात्र हैं। उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती है। वह छात्रों के द्वारा होगी फैकल्टी के द्वारा होगी।"[1]

शिक्षा का मूल उद्देश्य है समाज के विकास में सहायक होना और इस उद्देश्य की पूर्ति हमारे शिक्षित लोग या अध्यापकों के कंधों पर है। शिक्षक का काम है वह कच्ची मिट्टी का घड़ा बनाये यानि देश का भविष्य निर्माण करें। छात्रों का चरित्र निर्माण और उनको सत्पथ में ले जाना शिक्षक का कर्तव्य होता है। मगर आज स्थिति बहुत ही दयनीय है। आज खुद शिक्षक देशद्रोही का काम करते हैं। बड़े-बड़े संस्थान में जो छात्र पढ़ते हैं वे अपने देश के विकास के लिए नहीं पढ़ते हैं और शिक्षक भी उन्हें विदेश भेजने के लिए ही तैयार करते हैं। भारत जैसे देश में जहाँ आज भी कई गाँव में बिजली नहीं है, जहाँ कृषि के लिए उन्नत साधन नहीं हैं उस देश के इंजीनियरिंग के छात्र शिक्षा समाप्त करते ही विदेश चले जाते हैं। विडम्बना यह है कि खुद अध्यापक भी यही चाहते हैं। डॉ. देसाई विष्णु नारायण से कहते हैं - "मि. नारायण आप इस मुल्क की हालत नहीं जानते। यहाँ उनकी योग्यता की कीमत कौन चुका सकता है? आपका हाइडल डिपार्टमेंट या पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट या आपके रीजनल इंजीनियरिंग कॉलेज या भुक्खड़ विश्वविद्यालय जहाँ रिसर्च करने की न्यूनतम सुविधाएँ तक नहीं। न सुविधाएँ हैं और न सम्मान .....तो भला वे यहाँ क्यों रहें.....उन्हें क्या मिलेगा?"[2] डॉ. देसाई के इस दिल दहला देने वाली बात सुनकर विष्णु नारायण जो एक ईमानदार एवं देश प्रेमी है वह उनसे कहते हैं - "देश के लिए साइंस टेक्नोलॉजी को मजबूत और विस्तृत आधार बनने की जगह ये बन गए विदेशों के लिए ......।"[3]

विदेश में शिक्षा प्राप्त करने के कारण उनके मन में घमंड भरा हुआ है। वे जिस संस्थान में काम करते हैं उसे श्रेष्ठ मानते हैं और यह भी कहते हैं कि "आपके इस नगर को विदेशों में हमारी वजह से जाना जाता है। जिस विषय में मैंने रिसर्च की थी, उस एरिया में काम करने वाले आज भी वहाँ गौरव के

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 36
[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 37
[3] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 38

साथ अपनी किताबों में मेरे काम का उद्धरण देते हैं।"[1] जब अध्यापकों की सोच ऐसी है तो छात्र के बारे में बात ही क्या करना।

ऐसे बड़े-बड़े संस्थान के अंदर अगर झाँकेंगे तो पता चलेगा किस प्रकार ये स्वच्छंदवादी अध्यापक छात्रों को अपनी सुविधा के लिए व्यवहृत करते हैं।

ऐसा लगता है आज भिक्षा का सारा स्वरूप बाजार की आवश्यकता की पूर्ति करना ही रह गया है। विद्यार्थियों के मन में यह बैठा दिया जाता है कि उन्हें बस शिक्षा समाप्त करके पैसे कमाने हैं और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करना है। लेकिन हमें यह अंदाजा होना चाहिए कि ऐसी व्यवस्था कभी भी भारत की शिक्षा को उसकी जड़ों से जोड़ने की क्षमता प्राप्त नहीं कर पाएगी। 'यातनाघर' उपन्यास में डॉ. देसाई के निम्न कथन से ऐसा लगता मानों विदेश जाना ही आज का उच्च शिक्षित विद्यार्थियों का मकसद है। "बहुत सी बड़ी-बड़ी इंडस्ट्रीज हमारे छात्रों को चौथे साल में ही चुन लेती है - मल्टीनेशनल्स तो खासतौर से, अनेक पब्लिक सेक्टर के लोग भी ले जाते हैं।"[2]

देश के बड़े-बड़े शिक्षा संस्थान तथा विश्वविद्यालय में जो विद्यार्थी पढ़ते हैं उनके माता-पिता यह सोचते रहते हैं कि उनके बच्चे बेहतर नागरिक बनेंगे, लेकिन इसमें कितनी सच्चाई है यह सबको पता है। दुर्भाग्य यह है कि आज भी लगातार ऐसी उपाधियाँ देते जा रहे हैं एवं ऐसे शोध कार्य हो रहे हैं जो न तो उपयोगी कौशल सिखाती हैं न व्यक्तित्व का विकास करती हैं। जो शिक्षा व्यक्तित्व विकास नहीं कर सकता है वह समाज के लिए क्या उपयोगी हो सकता है? यह प्रश्न आज भी निरूत्तरित है। 'यातनाघर' उपन्यास में एक पिता जो खुद एक प्रोफेसर हैं वे भी ऐसी शिक्षा प्रणाली पर चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं - "मुझे लगता है कि हम सोचते हैं हमारे बच्चे इतने बड़े संस्थानों में जाकर बेहतर आदमी बन रहे हैं लेकिन कैसे कहूँ कि यह हमारी खामख्याली है, झूठ है, फरेब है। आप सब विदेशों को निर्यात करने वाली दुकानें लगाकर बैठे हुए इन बच्चों के सौदागर हैं।"[3]

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 38

[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 38

[3] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 112

3.3.1 गुरू और शिष्य संबंध

आज सारा विश्व वैश्वीकरण, निजीकरण तथा उदारीकरण के जाल में फँसने को अपनी नियति मान रहा है और प्रगति के लिए सूचनाएँ, जानकारियाँ, ज्ञान, कौशल तथा बुद्धि के शिखर पर मानव आज पहुँच गया है जिसकी कल्पना शायद उसने कभी किया होगा! शिक्षा ही वह माध्यम है जो मानव को आज यहाँ लाकर खड़ा कर दिया है। मानव खड़ा तो हो गया है मगर अपने पैरों के नीचे की जमीन को कितना सशक्त कर पाया है?

शिक्षा के माध्यम से उसने दुनिया को जीत लिया है, मगर क्या मन को जीत पाया है?

आगे बढ़ने के लिए आधुनिक ज्ञान कौशल अवश्य चाहिए; परंतु यही सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ आवश्यक है। मनुष्य चाहे जितना भी प्रगति कर ले मगर वह अपनी जड़ से, जमीन से टूटता जा रहा है। शिक्षा के माध्यम से उसे जिस मानवता की समझ होनी चाहिए थी, उसमें वह बहुत पीछे रह गया है। स्थिति आज इस प्रकार है कि मानव फेसबुक तथा अन्य सोशल साइट के जरिए अमेरिका में बैठे हुए लोगों से जुड़ा है मगर अपने पड़ोस में कौन रहते हैं उसकी खबर नहीं होती है। आज रिश्ते-नाते सब टूटने लगे हैं, चाहे वह पारिवारिक संबंध हो या सामाजिक। गुरू-शिष्य का जो संबंध ऋषि-मुनि के जमाने से चला आ रहा था, आज वह एक स्वप्न मात्र लगता है। समस्त रिश्तों में से गुरू-शिष्य का संबंध सबसे सम्माननीय संबंध है। मगर आज यह एक विडम्बना है। उभय में आज प्रतिबद्धता, सम्मान एवं स्नेह की कमी दिखाई दे रही है। इस सम्माननीय रिश्ते में आज स्वार्थ की बू आने लगी है और यह स्थिति एकतरफा नहीं है।

गिरिराज किशोर के उपन्यास 'यातनाघर' में गुरू-शिष्य के इस स्वार्थपरक संबंध के बारे में बताया गया है। शिक्षा के व्यवसायीकरण ने आज गुरू-शिष्य के संबंध को औपचारिक बना दिया है। बड़े-बड़े शिक्षा संस्थान में अध्यापक अपने स्वार्थ के लिए विद्यार्थियों का इस्तेमाल करते हैं। विद्यार्थियों को मजबूरन उनकी गुलामी करनी पड़ती है क्योंकि उनका भविष्य उन अध्यापकों के हाथ में है। वह चाहें तो एक क्षण में उसे बिगाड़ भी सकते हैं तथा सुधार भी सकते हैं। अत: विद्यार्थियों को उनके दोष और त्रुटियों को छुपाके रखना पड़ता है। 'यातनाघर' उपन्यास में हालात कुछ इस प्रकार ही

हैं। संस्थान में एक बहुत बड़ी घटना हो जाती है और सबको उसका कारण भी पता होता है मगर सब चुप रहते हैं और उस घटना को खास करके अध्यापकों जो वहाँ के डीन भी हैं द्वारा दबाया जाता है। क्योंकि उस घटना में उन्हीं के बच्चे तथा समाज के स्वनामधन्य व्यक्तियों के बच्चे शामिल थे। इसलिए जब उस घटना की छानबीन शुरू की गई तब उसे दबा दिया गया। बाद में जब विष्णु नारायण जो नये प्रशासनिक अधिकारी के रूप में ज्वायन हुए तो उन्होंने उस घटना के बारे में जानना चाहा तब उन्हें अध्यापकों के इस कारनामे के बारे में मालूम हुआ और एक जरूरी रिपोर्ट भी उसने प्राप्त की जो एक छात्र के पास से मिली। मगर उस छात्र का नाम गुप्त रखने के लिए कहा गया क्योंकि वह लड़का एक शोध छात्र था और वह उस संस्थान में पी-एचडी कर रहा था। अगर उन अध्यापकों को यह मालूम पड़ता तो उस छात्र का भविष्य नष्ट हो जाता। इसलिए रामलखन बाबू जब वह रिपोर्ट विष्णु नारायण को देते हैं तब उसका नाम गुप्त रखते हुए कहते हैं - "सर, किसी पुराने लड़के के पास थी। वह यह नहीं चाहता कि उसका नाम बताया जाए। वह यहाँ पीएच.डी कर रहा है। अगर यहाँ के अध्यापक वर्ग को पता चल गया कि यह रिपोर्ट उसके माध्यम से मिली है तो वह जिंदगी भर पीएच.डी नहीं कर पाएगा। यहीं से नहीं बल्कि किसी भी अन्य संस्था से। क्योंकि यहाँ के लोगों की दादागिरी इस तरह के हर संस्थान में चलती है।"[1] अध्यापक अपने स्वार्थ की खातिर किसी भी विद्यार्थी की जिंदगी तबाह कर सकते हैं। और उस बात का पश्चाताप भी उन्हें नहीं होता है। यह स्थिति आज लगभग समस्त शिक्षा संस्थान में हो रही है जाने अनजाने। आज बहुत कम अध्यापक रह गये जो अपने विद्यार्थियों की भलाई दिल से चाहते हैं।

अध्यापक आज अध्यापन कार्य पर ज्यादा ध्यान न देकर वैयक्तिक तथा प्रशासनिक कार्य में लिप्त रहते हैं। बड़े-बड़े संस्थान में आज यह आम बात है। जो प्रतिबद्धता एवं ध्यान तथा कर्तव्य उनका विद्यार्थियों के प्रति होना चाहिए उनसे वे विमुख हैं। वे चाहते हैं कि विद्यार्थी भी उनके अनुसार ही काम करें और उनके वैयक्तिक तथा अन्य काम में साथ दें। यहाँ तक कि कोई कनिष्ठ अध्यापक भी वरिष्ठ अध्यापक का कोपभाजन होता है। अध्यापक अगर किसी पर कोई एहसान करते हैं चाहे वह विद्यार्थी

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 119

हो या कनिष्ठ अध्यापक सभी को एहसान चुकाने पर मजबूर कर दिया जाता है। और स्थिति न बोलने न निगलने जैसी हो जाती है। इस वजह से आज बहुत ही अप्रितिकर घटना घट रही है। परिणामस्वरूप अधिक मानसिक तनाव किसी की मृत्यु का कारण भी बन जाती है। ऐसी घटनाएँ दिन-ब-दिन बढ़ने लगी हैं। 'यातनाघर' उपन्यास में ऐसी स्थिति पर गिरिराज किशोर दृष्टि डालते हैं। लेखक जिस अंतर्जातीय ख्याति संपन्न शिक्षा संस्थान की बात करते हैं, वहाँ पर भी स्थिति ऐसी बनी हुई है। डॉ. चन्द्रा एक फैकल्टी थे उनकी मौत हो जाती है और उनकी मौत का कारण खुद एक टॉप प्रोफेसर टंडन को माना जाता है, जो स्वार्थ की खातिर डॉ. चन्द्रा को कठपुतली की तरह नचाते थे। बेचारे चन्द्रा उस परिस्थिति से निकलने में असमर्थ थे और केवल मौत ही उन्हें प्रोफेसर टंडन से छुटकारा दिला पायी। आज अध्यापक निजी सुख के लिए किस हद तक गिर सकते हैं, इसका अंदाजा लगाना मुश्किल है। इन सब घटना के कारण समाज में गुरू के प्रति सम्मान, आदर भाव अब घटता जा रहा है। आदर्श गुरू की जिस छवि को आधार मानकर उनपर समाज का भविष्य निर्माण जैसे गुरूत्वपूर्ण कार्य न्यस्त किया गया है, वह कार्य आज दिग्भ्रांत हो गया है। गिरिराज किशोर उपन्यास का नाम 'यातनाघर' इसलिए रखा है क्योंकि एक बहुत बड़ा शिक्षा संस्थान है जहाँ पर बहु अनैतिक कार्य चल रहे हैं और कहीं न कहीं उस अनैतिक कार्य के पीछे उच्च पदों पर अवस्थित अध्यापक ही उत्तरदायी हैं। केवल अपने स्वार्थ एवं अहंकार के कारण वे सभी को छलते आ रहे हैं। उनके कोप से उस संस्थान के निदेशक तथा प्रशासनिक अधिकारी जो ईमानदार हैं वे भी नहीं बच पाते हैं। विष्णु नारायण को वह शिक्षा संस्थान एक यातनाघर जैसा ही लगता है। डॉ. चन्द्रा भी उस यातनाघर में तप तप के समाप्त हो गये। संस्थान के निदेशक विष्णु नारायण से बोलते हैं - "मालूम है चंद्रा की मौत का कारण किसको समझा जा रहा है? .... आर्किटेक्चरल इंजीनियर के टॉप प्रोफेसर टंडन को .... लोग कहते हैं उसने चंद्रा का प्रमोशन पिछले पाँच सालों से रोका हुआ है। हर बार वह उसे एश्योर करता है और हर बार एक्सपर्ट्स से कहकर रिजेक्ट करा देता है। कारण जानते हैं - चंद्रा पेपर्स लिखा-लिखाकर टंडन के नाम से छपवाते रहे। उसे

डर था प्रमोशन हो जाने पर कहीं वह हरी झंडी न दिखा दे। चंद्रा इंटेलीजेंट था..... टंडन ही उसे लाए भी थे।"[1]

सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में एक अध्यापक प्रो. शर्मा ने अपने वैयक्तिक कारण की वजह से छात्र नील का जीवन तबाह कर देते हैं। डॉ. शर्मा जो कभी नील को अपना उत्तराधिकारी मानते थे वे ही उसको जड़ से मिटाने के लिए प्रण कर लिए थे। नील ने भी यह भांप लिया था - "दो महीने में उसे पता चल गया कि वे किस हद तक चले गये हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय को तो छोड़ो, जे.एन.यू., जामिया मिलिया, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, इंडियन काउंसिल ऑफ हिस्टॉरिकल रिसर्च - सबके दरवाजे उसके लिए बंद होते गए।"[2] नील से जरूर बड़ी गलती हो गई थी उनकी भतीजी से प्यार करने की मगर डॉ. शर्मा ने उसकी सजा नील को इस प्रकार दिया कि उसका जीवन तहस-नहस हो जाता है। एक प्रतिभाशाली छात्र जिगोलो (पुरुष वेश्या) बनकर अंत में मृत्यु को प्राप्त करता है। गुरू और शिष्य के आपसी संबंधों से शिक्षा का जो एक आधार होता है वह आज पतनोन्मुखी है। पुरातन युग में गुरू को 'आचार्य' कहा जाता था जिसका अर्थ डॉ. शंकरदयाल शर्मा मानते हैं - "वह व्यक्ति, जो अपने आचरण द्वारा दूसरों को प्रेरित करता है।"[3] अत: हमेशा से गुरू के ऊपर अपने आचरण द्वारा उच्च आदर्श प्रस्तुत करने का एक महत्वपूर्ण दायित्व है। मगर इस महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह अगर डॉ. शर्मा जैसे लोग इस प्रकार करेंगे तो जाहिर है हर शिष्य का भविष्य नील जैसा ही होगा। नील ने सपने में भी यह नहीं सोचा था प्यार करने की सजा उसे इस तरह मिलेगी। "शर्मा ने प्रोफेसर लाहिड़ी से कहा है, मैं दिल्ली से उसकी जड़ें खोदकर मट्ठा डाल दूँगा और देश के किसी विश्वविद्यालय में दुबारा रोपने नहीं दूँगा।"[4] रातों-रात नील का जीवन परिवर्तन हो गया और प्रतिभाशाली छात्र को डॉ. शर्मा से कोप से बचने के लिए अपना कैरियर ही बदलना पड़ा

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 29

[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 11

[3] भारतीयता के आधार - डॉ. शंकरदयाल शर्मा, पृ.सं. 45

[4] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 11

और जिस दिशा में वह अग्रसर होता गया उसे ही पता नहीं था कि उसका अंत उसे अपना प्राण देकर ही करना पड़ेगा। नील खुद यह सोचता था - "अपनी जिंदगी का परिवर्तन कई स्तरों पर त्रासद था।"[1]

गुरू एवं शिष्य का संबंध बहुत ही सुदृढ़ और पवित्र माना जाता है। दोनों में आपसी संबंध के संतुलन में ही शिक्षा अपनी चरम सीमा पर पहुँच पाती है जो समाज के लिए मंगलमय है। अत: गुरू शिष्य का यह संबंध एकतरफा नहीं होता है। ताली कभी एक हाथ से बजायी नहीं जा सकती है। प्राचीन काल की गुरू-शिष्य परम्परा का उल्लंघन करने में दोनों का ही हाथ है। जहाँ गुरू अपने कर्तव्य से विमुख हो रहे हैं वहीं शिष्य भी गुरू के प्रति सम्मान तथा कर्तव्य विमुख हो रहे हैं। अनुशासनहीनता के चरम पर पहुँच गये हैं। दिन-प्रतिदिन यह स्थिति बिगड़ती ही जा रही है।

एक समय था जब गुरू के लिए शिष्य अपना प्राण भी त्याग देता था। गुरू के हर आदेश को जीवन का व्रत मान लेता था। गुरू दक्षिणा के रूप में अपना अंगूठा दान करने के लिए भी कुंठा बोध नहीं करता था। मगर आज स्थिति बदल गयी है। विद्यार्थी अपने गुरू के ऊपर फब्तियाँ कसने में नहीं हिचकते हैं। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से गुरू के प्राण लेने के लिए भी पीछे नहीं हटते हैं। भ्रष्टाचार तथा विसंगतिपूर्ण इस समाज में शिक्षा भी पीछे नहीं रह गयी है। धन उपार्जन की लालसा ने शिक्षा के मूल्य को जड़ से हिला दिया है। डॉ. रवीन्द्रनाथ के शब्दों में - "आज भ्रष्टाचार की जो समस्या विश्व समुदाय के सम्मुख है उसके मूल में शिक्षा का आजीविकापरक स्वरूप है। ज्ञान के साथ-साथ भ्रष्ट ज्ञान का जो विकास होता है उस भ्रष्ट ज्ञान के दमन के लिए शिक्षा को उस मानसिक स्तर के उत्थान के साथ संबद्ध करने की आवश्यकता है जिसमें नैतिकता और चारित्रिक उत्थान भी समाहित हो।"[2] उपरोक्त कथन में डॉ. रवीन्द्रनाथ जिस नैतिकता एवं चारित्रिक उत्थान की बात करते हैं आधुनिक युग के शिष्यों में इसका बहुत ही अभाव है, जिसके कारण वे शिक्षा परिसर तथा बाहर भी मनमानी करते हैं। सूर्यबाला का उपन्यास 'दीक्षांत' में इस प्रकार के उद्दंड छात्रों को दिखाया गया है जिसने अपने अध्यापक का जीना हराम कर रखा है। इस उद्दंडता के कारण अध्यापक डॉ. शर्मा बेचारा किन मनोदशा से गुजरते हैं इसका मार्मिक चित्रण मिलता है। शर्मा सर जिस कॉलेज में अध्यापक हैं

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 12

[2] जीवन प्रणाली की रूपरेखा - डॉ. रवीन्द्रनाथ, पृ.सं. 117

उसी कॉलेज में छात्र उन पर तरह-तरह का कॉमेंट मारते हैं मगर डॉ. शर्मा उनसे कुछ भी नहीं कहते थे। छोटी-छोटी चीजों के लिए डॉ. शर्मा को छात्रों की फब्तियाँ सहनी पड़ती है। शर्मा सर एक दिन एक नीली वाली बुशर्ट पहनकर कॉलेज आ गये थे तो इस मामूली बात पर भी उनको बहुत कुछ सुनना पड़ा था - "ऊपरी मंजिल की रेलिंग से बेहद ऊल-जलूल किस्म की मिली-जुली फब्तियाँ कसती हुई कुछ उद्दंड आवाजें भी खिलखिलाकर छिप गयी थी। उनमें 'रंगा स्यार', 'ब्लू जैकाल' और तरह-तरह के जानवरों की आवाजों की भौंड़ी नकलें भी शामिल थीं।"[1] गुरू को भगवान से भी ऊँचा माना जाता है मगर बहुत ही शर्मनाक बात है कि उस गुरू के लिए 'ब्लू जैकाल', 'रंगा स्यार' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यह समाज के लिए निंदनीय है। कॉलेज में शर्मा सर तथा अन्य अध्यापकों की हालत बदतर होने पर भी वे चुपचाप इसे सहते आ रहे थे, इससे दु:खद स्थिति और क्या हो सकती है, जब एक शिक्षक मजबूर हो जाता है छात्रों की तानाशाही सहने के लिए। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में दंड व्यवस्था का प्रावधान न होने के कारण कभी-कभी अध्यापकों को खून के आँसू पी जाना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा लगता छात्रों को बहुत ज्यादा छूट दे देने से वे उद्दंड हो जाते हैं। शर्मा सर जब अपनी कक्षा में पढ़ाते हुए ब्लैक बोर्ड पर कुछ लिखने जाते हैं - "वे चॉक लेकर ब्लैक बोर्ड की ओर मुड़े कि अचानक 'टकू' एक चोक का टुकड़ा उनके सिर के पिछले भाग पर आ गिरा ...गुस्सा खौला लेकिन पीकर वापस मुड़े और जैसे कुछ न हुआ हो।"[2]

आधुनिक युग में गुरू-शिष्य का संबंध अध्यापक तथा अध्येता तक ही सीमित रह गया है। जिस संबंध में हीनमन्यता, स्वार्थपरता तथा अमानवीयता जैसे घातक गुण अपना प्रभाव विस्तार करता जा रहा है। अब ज्ञान प्राप्त करना अध्येता का उद्देश्य नहीं बल्कि उसे बस परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है। अत: आज गुरू बल एक ट्यूशन मास्टर ही रह गया। दोनों में कोई आत्मीय संबंध नहीं रह गया सब अपने अपने स्वार्थ साधने में तत्पर हैं। धन उपार्जन ही दोनों की प्राथमिकता है। डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा के शब्दों में - "प्राचीन काल में गुरू अपने शिरूयों को शिक्षा अपने आश्रमों में दिया करते थे, परंतु वह शिक्षा आज के स्कूल, कॉलेजों से भी श्रेष्ठ मानी जाती थी। क्योंकि अध्यापक अपने शिष्यों को निपुण

[1] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 4
[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 6

करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते थे। इसके साथ-साथ शिष्य भी अपनी शिक्षा को प्राप्त करने में गुरू के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान रहते थे।"[1] परन्तु वर्तमान समय में न गुरू अपना कर्तव्य को पूरा कर रहे हैं न ही शिष्य उनके प्रति पूर्ण श्रद्धावान हो रहे हैं। आज के समय में गुरू को देखकर शिष्य सीटी मारते हुए निकल जाते हैं। सूर्यबाला का उपन्यास 'दीक्षांत' में इस दशा का एक चित्रण इस प्रकार हुआ है जहाँ शर्मा सर जैसे शांत तथा ज्ञानी शिक्षक को इस तरह के हालात का शिकार बार-बार होना पड़ता है। जब उनका एक छात्र उनसे कहता है - "अभी आता हूँ सर, बंटी है घर में, तब तक उसे पढ़ाइए..... कहते हुए होठों को गोल कर सीटी मारते हुए स्पीड बढ़ा दी थी। जिस बड़प्पन से कहते हुए उसने सर्र से कार की स्पीड बढ़ा दी थी, उससे ऐसा लगता था कि जैसे कोई दसवीं का लड़का नहीं बल्कि किसी कंपनी का सीनियर इग्जीक्यूटिव अपने असिस्टेंट को आवश्यक निर्देश देता निकल गया है।"[2] इससे हम अंदाजा लगा ही सकते हैं कि गुरू-शिष्य के बीच कैसा संबंध रह गया है। इस बिगड़ते रिश्ते के कई कारण हो सकते हैं। बहुत ही कम गुरू-शिष्य इस बिगड़ते रिश्ते से स्वयं को बचा पाते हैं। आज अध्येता अध्यापक को एक तरह से खरीद लेता है। अत: अध्यापक को इसका नखरा उठाना स्वाभाविक बन गया है। पैसे की खातिर अध्यापक भी यह कहने के लिए बाध्य होता है। जैसे शर्मा सर लाचार होकर उनके छात्र के आने के लिए इंतजार करते हैं - "लाचार, छोटे बंटी को पढ़ाने के बाद पूरे पौन घंटे इंतजार करते रहे।"[3] प्राचीन काल से आज का गुरू-शिष्य संबंध जैसे उल्टा हो गया है ऐसा जान पड़ता है। जहाँ शिष्य गुरू के लिए इंतजार किया करते थे, गुरू के आदेश शिरोधार्य होते थे। आज स्थिति बदल गई है। पहले गुरू इतना मजबूर नहीं होते थे बल्कि सच्चा शिष्य गुरू को अपना सर्वस्व मानकर उसकी आज्ञा का पालन करता था। गुरू की स्थिति समाज में हमेशा आदर्श मानी जाती थी। मगर बदलते परिवेश ने गुरू की हालात भी बदलकर रख दिया है। कभी-कभी उनकी स्थिति इतनी विकट हो जाती है कि उन्हें दो वक्त का खाना भी नसीब नहीं हो पाता है। यह स्थिति खासकर विद्यालय तथा कॉलेज के शिक्षकों की होती है। महीनों तक उन्हें बिना वेतन के गुजारा करना पड़ता है। स्थायी नौकरी

---

[1] आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ - डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा, पृ.सं. 98

[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 29

[3] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 29

न होने के कारण भी शिक्षकों की हालत बदतर हो जाती है। इस हालात में वे मजबूर हो जाते हैं। प्रशासन तथा छात्रों के मनमानी को सहने के लिए और मानसिक तनाव उन्हं ऐसे जकड़ लेता है कि कभी-कभी आत्महत्या जैसी स्थिति हो जाती है। तो इस हालात में गुरू शिष्य संबंधों में किस प्रकार की प्रतिबद्धता हो सकती है हम अंदाजा लगा सकते हैं। सूर्यबाला का उपन्यास 'दीक्षांत' में शर्मा सर एक ऐसे ही पात्र हैं जिनकी नौकरी स्थायी न होने के कारण उन्हें प्रशासन तथा छात्रों उभय की तानाशाही को सहना पड़ता था। न चाहते हुए भी उन्हें सब कुछ सहना पड़ता है। इसी लालसा में कि इस साल परमानेंट हो जायंगे। इसलिए छात्र जब कक्षा में फब्तियाँ कसते हुए उनकी अवमानना करते हैं तो वे अपने मन को बस शांत कर देते थे। शिक्षक की यह स्थिति शिक्षा जगत के लिए एक शर्मनाक विषय है जहाँ योगयता संपन्न शिक्षकों को पारिश्रमिक नहीं मिलता है। ऐसी विसंगतिपूर्ण परिस्थिति में गुरू-शिष्य का संबंध की रूप रेखा कैसी होगी हम अंदाजा लगा ही सकते हैं।

3.3.2 शिक्षा का गिरता हुआ स्तर

भारतीय शिक्षा में ज्ञान प्राप्ति या अध्ययन पर इतना बल नहीं दिया जाता है क्योंकि प्राचीन काल से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को संस्कारित करना तथा मानवीय मूल्यों से परिपुष्ट करना ही था। परन्तु परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के इस उद्देश्य को विस्मृत कर दिया गया है। शिक्षा आज केवल किताबी बनकर रह गया है। जो कभी भी समाज के लिए मंगलकारी नहीं है। आधुनिक शिक्षा ने हमारे समाज के लिए किसी भी तरह फलप्रद नहीं है पर आम आदमी इस सच्चाई से वाकिफ नहीं है या जानबूझकर अनजान रह जाना पसंद करते हैं। स्वयं को आधुनिक कहते हुए आज हम शिक्षा के बाधारभूत स्रोत से कटते जा रहे हैं। आधुनिक शिक्षा बस परीक्षाएं तथा प्रमाण पत्र तक ही सीमित रह गया है। फलस्वरूप शिक्षा के स्तर में काफी गिरावट आ गयी है। विडम्बना यह है कि रोजी रोटी के लिए भी जिस शिक्षा की आवश्यकता है जो मुख्य रूप से किताबी है हम उसे भी सही रूप से आत्मसात नहीं करते हैं। जिसके फलस्वरूप आज हालात न घर के न घाट की तरह हो गयी है।

आजादी के इतने सालों बाद भी पश्चिमीकरण से स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं बल्कि दलदल में फँसते जा रहे हैं। शिक्षा प्रणाली में कुछ मौलिकता लाने में आज हम असमर्थ हैं। गौर से

अध्ययन करें तो यह ज्ञात होगा कि भले ही हम अंग्रेजों से अपना देश हासिल कर लिए हैं पर अंग्रेज मनोवृत्ति से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाये। अंग्रेज जिस षड्यंत्र का जाल हमारे लिए तब बुने थे हम आज भी उसी मकड़जाल में फँसे हुए हैं। सबसे अधिक शिक्षा पश्चिमीकरण के चपेट में आ गयी है। इस संदर्भ में विजय बहादुर सिंह समाज विज्ञानी धर्मपाल की पुस्तक 'दि ब्यूटीफुल ट्री' के पृष्ठ 348 पर उद्धृत गाँधी के इस पत्र को उद्धृत करते हैं जो इस प्रकार है - "सौ पचास साल पहले की तुलना में भारत आज कहीं अधिक अनपढ़ है। इसका कारण यह कि अंग्रेजों ने देशी शिक्षा पद्धतियों का उन्मूलन कर शिक्षा व्यवस्था को बदहाली की स्थिति में डाल दिया है। उन्होंने जमीनें खुरच कर जड़ों को नंगा कर डाला और सूखने को छोड़ दिया और वह सुन्दर हरा-भरा शिक्षा का देशी पौधा सुखता चला गया।"[1] इस उद्धरण से हम आज की शिक्षा की स्थिति के बारे में अंदाजा लगा सकते हैं। इस षड्यंत्र के चलते आधुनिक शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण बन गयी है और इस त्रुटिपूर्ण शिक्षा प्रणाली में अध्यापक, अध्येता जो शिक्षा के केन्द्र हैं या शिक्षा की जान हैं वे सत्ता तथा प्रशासन की चपेट में आ गये हैं। फलस्वरूप जाने अनजाने हमारी ज्ञान-विज्ञान की असाधारण और महान उपलब्धियों तथा मूल्यों में आज बिखराव आ गया है।

आधुनिक शिक्षा में आज वह मान, नैतिकता, मौलिकता कुछ नहीं रह गया। बीसवीं सदी में बाजारवाद के चलते आज हर वस्तु बिकाऊ बन गयी है। शिक्षा भी आज एक व्यवसाय बन गयी है। यों कहा जाए तो आज शिक्षा से बड़ा व्यवसाय और कुछ नहीं है। गुरू-शिष्य का पारंपरिक संबंध बाजारवाद के चलते आज अध्यापक-अध्येता तक ही सीमित हो गया है। दोनों ही अपने कर्म के प्रति विमुख दिखाई पड़ रहे हैं। आधुनिक युग में शिक्षा केवल परीक्षा तक सीमित रह गयी। अर्थ-केन्द्रित समाज में शिक्षा बिकाऊ बन गयी है। अत: शिक्षा-प्रक्रिया में बहुत बड़ी खाई दिखाई देने लगी है और उसके स्तर में भी गिरावट आ गयी है। शिक्षा के स्तर में इस गिरावट में हम किसी एक को दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। अभिभावक से आरंभ करके प्रशासन अध्यापक, अध्येता तथा बदलते समय भी इसके उत्तरदायी हैं।

---

[1] आओ खोजे एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 115

देवेश ठाकुर का उपन्यास 'शिखर पुरुष' शिक्षा जगत में व्याप्त अनेक विसंगतियों का पर्दाफाश करता है। आधुनिक युग में सबसे अधिक विसंगति उच्च शिक्षा में दिखाई पड़ती है। देवश ठाकुर ने महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय में व्याप्त उन तमाम भ्रष्टता पर आलोकपात करने का प्रयास किया है। 'शिखर पुरुष' उपन्यास में उच्च शिक्षा विभाग में व्याप्त उन तमाम खोखलेपन, षड्यंत्र, धोखाधड़ी, बेईमानी के बारे में चर्चा किया गया है जिसकी वजह से आधुनिक युग में शिक्षा का मान बहुत गिर गया है।

आज सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षा राजनीति की चपेट में आ गयी है। फलस्वरूप शिक्षा क्षेत्र में उन लोगों का प्रभुत्व रहता है जिनका शिक्षा से कोई वास्ता नहीं है। इस उपन्यास में एक अध्यापक रवि अग्निहोत्री कहते हैं - "आज शिक्षा को भी भ्रष्ट राजनेता ही चला रहे हैं।"[1] इस बात से ही शिक्षा के स्तर के बारे में स्पष्ट पता चल रहा है। इस भ्रष्ट राजनेताओं के हाथ अध्यापक तथा अध्येता एक मोहरा मात्र हैं। कुछ मोहरा ऐसे हैं उन भ्रष्ट राजनेताओं के साथ शामिल होते हैं और जो उनके साथ शामिल नहीं होते हैं, उनकी हालात कहने लायक नहीं होती है। वे कहीं का नहीं रह जाते। हालात यह है कि जब शिक्षा को लेकर ऐसा जघन्य खेल खेला जा रहा है तो शिक्षा अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट हो जा रही है। अत: शिक्षा में आज वह गुणवत्ता नहीं रह गई है। देवेश ठाकुर ने डॉ. रवि अग्निहोत्री के माध्यम से शिक्षा में आयी इस गिरावट का असली कारण कुछ ऐसा बताया - "इस कुत्ती व्यवस्था में ईमानदार आदमी की जरूरत ही कहाँ रह गयी है! यहाँ तो चापलूस और तिकड़मी लोग चाहिए जो खाये, खिलाये और खाने-पीने दे।"[2] आधुनिक युग में यही है शिक्षा व्यवस्था की असलियत। इस भ्रष्ट व्यवस्था में सब सत्ता हथियाने के फिराक में रहते हैं। किसी को अध्यक्ष पद चाहिए तो किसी को कुलपति का पद। इस चक्कर में अध्यापक अपने असली मकसद से दूर होते जा रहे हैं और साथ ही साथ उनकी नैतिकता में भी स्खलन होता है। डॉ. रवि अग्निहोत्री कहते हैं - "पूरे देश के विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग कुत्ता-खसोट का केन्द्र बनकर रह गया है। हड्डी है अध्यक्ष पद। डॉ. चौबे को अपने मंत्री ससुर की कृपा से पद्मश्री मिल गयी। यह तो तुमने पढ़ ही लिया है। अब वे

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 40
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 42

विभागाध्यक्ष के पद को हथियाने की जोड़-तोड़ में लगे हैं।"[1] इस पद हिथयाने की होड़ में बहकर यह अपने मूलभूत कर्तव्य से विमुख दिखाई पड़ते हैं। यही शिक्षा के स्तर में गिरावट का मुख्य कारण है। आज शिक्षा बस रोजी-रोटी तक सीमित रह गयी है। जहाँ बस जैसे-तैसे करके परीक्षा में पास कर डिग्री हासिल कर लिया जाए वह भी बेईमानी से। आज शिक्षा भी दलालों के हाथों बिक रही है। डॉ. शीतांशु जो एक ईमानदार अध्यापक इस विसंगति पर चिंता प्रकट करते हुए सोचते हैं - "कि क्या यह वही कॉलेज है, वही स्टाफ रूम है जहाँ कभी राजनीति, साहित्य और शिक्षा जैसे विषयों पर अध्यापक गंभीर चर्चा किया करते थे। अब तो यह शेयर मार्केट, कोचिंग क्लासेस, टयूशनों और एडमीशंस की दलाली का 'सब ऑफिस' बन गया है।"[2] इससे हम आधुनिक युग में शिक्षा के स्तर के बारे में अंदाजा लगा सकते हैं। 'डोनेशन' देकर बच्चों का अच्छे स्कूलों तथा अच्छे विभाग में दाखिला दिलाया जाता है। और तो और घूस दिलवाकर उन्हें परीक्षाएँ भी पास करा दिया जाता है। यह है हमारे समाज की विडम्बना। आज यह एक बहुत बड़ा व्यवसाय बन गया है और शिक्षा संस्थान में बड़े-बड़े पदों पर बैठे लोग इसमें शामिल हैं। डॉ. शितांशु सोचते हैं - "उनके एक मित्र ने अगस्त के महीने में नगद दस हजार रु. का डोनेशन देकर अपने बेटे को साइंस में दाखिला दिलवाया था और डोनेशन की रसीद भी उन्हें नहीं दी गयी थी। नकद डोनेशन के नाम पर प्रिंसिपल और मैनेजमेंट हर साल लाखों बने रहे हैं जिसका कोई हिसाब कहीं नहीं लिखा जाता।"[3] जब कोई घूस देकर अपने बच्चों को दाखिला दिलाता है उस बच्चे का भविष्य अंधकार में लीन हो जाता है और ऐसे छात्र अगर ऐसी शिक्षा प्राप्ति करेंगे तो समाज का क्या हाल होगा यह सोचने की बात है। देश के तमाम कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों में इसी व्यवसाय मनोवृत्ति के कारण शिक्षा का मान तथा स्तर दिन ब दिन गिरता जा रहा है। देवेश ठाकुर का उपन्याय 'शिखर पुरुष' में इसका खुलासा होता है - "आपके कॉलेज में भी, जो महानगर की नाक समझा जाता है, डोनेशन चल रहा है पिछले साल से। वह भी कैश। वह भी बिना रसीद के। वह भी टेबिल के नीचे। वह भी पंद्रह से पच्चीस हजार तक। आप देख लेना, शहर के अनेक प्रिंसिपलों के

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 40
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 66
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 66

फ्लैट और बंगले बन जाएंगे दो तीन सालों में ही ......।"[1] शिक्षा से हमेशा यह अपेक्षा की जाती है इससे समाज में कुछ परिवर्तन हो। समाज का कल्याण हो मगर आज शिक्षा की स्थिति ऐसी है। श्यामाचरण दुबे कहते हैं - "आर्थिक और राजनैतिक शक्तियाँ जो शिक्षा प्रणाली का समर्थन नियंत्रण करती हैं उससे यह अपेक्षा करती हैं कि वह एक विशेष ढंग से कार्य करे और कुछ विशेष परिणाम प्रस्तुत करे। शिक्षा एक महंगा सौदा है और उसका खर्च वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है।"[2] पर क्या असलियत में प्रशासन शिक्षा के पक्ष में समाज के भविष्य के पक्ष में कार्य कर रहा है? यह प्रश्न सदैव अनुत्तरित ही रहेंगे। शिक्षा क्षेत्र में प्रशासक केवल घुसपैठिया है। इसने बस अपना नियंत्रण जमाया हुआ है, पर उसका उद्देश्य लोकोन्मुखी नहीं है या समाज कल्याण नहीं है। हमेशा देश के उन मासूम भविष्य के बारे में भुला दिया जाता है और सत्ता के खेल में इन्हें बलि चढ़ा दिया जाता है। 'शिखर पुरुष' उपन्यास के एक अध्यापक भरत कुमार स्वामी का कहना है - "कुत्तापन चल रहा है। जब प्रशासकों और मंत्रियों को शिक्षा का क,ख,ग, भी मालूम नहीं, तब यही सब तो होगा। सब धान बाइस पसेरी। योग्यता को कोई नहीं पूछता। दिमाग से कोई काम नहीं लेता।"[3] जाहिर है जब ऐसे लोग शिक्षा-व्यवस्था में अड्डा जमाये बैठे हैं तो शिक्षा के स्तर में गिरावट आयेगी ही। पैसे के बल पर बिना योग्यता वाले अध्यापक तथा अध्येता अगर शिक्षा रूपी पवित्र नाव में पांव रख रहे हैं तो मेरा यह मानना है कि इस नाव को डूबने के लिए ज्यादा देर नहीं लगेगी। शिक्षा का सरोकार आज इस वजह से समाज से टूटता जा रहा है। ना उसमें प्रासंगिकता है न कोई मौलिकता न आम आदमी की भलाई। कुछ ईमानदार अध्यापक तथा अध्येता के भरोसे शिक्षा की गाड़ी पटरी पर चल रही है।

3.3.3 शिक्षक की योग्यता तथा उनका चुनाव

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में हमारा समाज एक नयी चाल में ढल रहा है। ज्ञान, विज्ञान, सूचना-प्रौद्योगिकी आदि हर क्षेत्र सफलता के चरम पर पहुँच रही है। प्रगति, विकास, ज्ञान आदि सकारात्मक विचार तथा शब्दों के साथ हम अतीत को भूलते जा रहे हैं परन्तु अंदर ही अंदर हम

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 68
[2] शिक्षा और समाज - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 15
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 126

खोखले बनते जा रहे हैं। सफलता के अग्र तक पहुँचते-पहुँचते हम मानवीय संवेदना को पद दलित कर रहे हैं। लोग विदेश में बैठे लोगों के साथ क्षणों में संपर्क स्थापित कर रहे हैं मगर अपने घर-परिवार तथा पड़ोसियों से कटते जा रहे हैं। मूल्यों का लगातार ह्रास हो रहा था। इस संवेदनशील हालात में शिक्षा की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण बन जाता है। क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही समाज को बदला जा सकता है। अब समय आ गया है कि शिक्षा को बस परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त करने तक सीमित नहीं करना चाहिए। उसे अब हर बच्चे को इंसान बनाना होगा। और यह उत्तरदायित्व अध्यापक, जिसे भगवान से भी बड़ा माना गया है का है। मगर क्या अब तक शिक्षा भी इस षड्यंत्र पूर्ण माहौल से स्वयं को बचा पायी है? क्या अध्यापक अपने मानवीय मूल्यों, नैतिकता तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को ईमानदारी से निभा पा रहे हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूंढने से निराशा ही हाथ लगेगी। बदलते समय तथा बाजारवाद के चलते शिक्षा क्षेत्र भी पथ भ्रष्ट हो गयी है। प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत कहते हैं - "धीरे-धीरे अध्यापकों और समाज का पारस्परिक संबंध कम हो गया है। स्कूल या समुदाय का रिश्ता परस्परता का नहीं रह गया है।"[1] यह है शिक्षा की विडम्बना। शिक्षा पर जिस उत्तरदायित्व निभाने का भार था वह उसमें असफल हो रहा है। अध्यापक अपने स्वार्थ पूर्ति में लिप्त हैं। भौतिक उपलब्धियों के पीछे भागते हुए वे भी अपने कर्तव्य से विमुख दिखाई पड़ रहे हैं। अध्यापक में आज व्यावसायिक मनोवृत्ति उत्पन्न हो रही है। शिक्षा को माध्यम बनाकर अध्यापक प्रशासन की छत्रछाया में दुकान लगाये बैठे हुए हैं, जिस दुकान में मासूम बच्चों का भविष्य नीलाम हो रहा है। 'शिक्षण' एक व्रत होता है जिसे बहुत ही एकाग्रता, कर्तव्यपरायणता तथा ईमानदारी के साथ पाला जाता है। क्योंकि कहा जाता है कि माता-पिता हमें जन्म देते हैं मगर आगे बढ़ने की, व्यक्तित्व विकास की तथा जीवन दृष्टि हमें शिक्षा से ही प्राप्त होता है। शिक्षक की छवि हमेशा छात्र के लिए तथा समाज के लिए आदर्श मानी जाती है। परन्तु आज स्थिति बदल गई है। बदलते वक्त में बेरोजगारी, भूखमरी आदि अनेक ऐसे कारण हैं जिसके फलस्वरूप शिक्षक की योग्यता तथा उनके चुनाव में ईमानदारी नहीं होती है। बेरोजगारी को मैं एक कारण समझती हूँ जो शिक्षक के चुनाव में बाधा डालती है क्योंकि आज भारत वर्ष में जनसंख्या

---

[1] शैषिक परिवर्तन का यथार्थ - प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत, पृ.सं. 83

तेजी से बढ़ रही है। फलस्वरूप बहुत शिक्षित लोग लाखों की तादाद में बेरोजगार हो रहे हैं और कभी-कभी उन्हें शिक्षा में रुचि न होने के बावजूद भी शिक्षण को रोजी रोटी का माध्यम बनाना पड़ता है। पर वे शिक्षा के साथ न्याय नहीं कर पाते हैं। ऐसे अनेक कारण हैं जो शिक्षक की गुणवत्ता तथा चुनाव में उत्तरदायी हैं। पर सबसे जो महत्वपूर्ण कारण है वह है अर्थ। आधुनिक समाज में अर्थ प्राप्ति एक दिवास्वप्न है। हर कोई इसे किसी भी उपाय से पा लेना चाहता है। अध्यापक के लिए भी यह लागू होता है। फलस्वरूप आज अध्यापक की गुणवत्ता, नैतिकता, योग्यता पर प्रश्न चिह्न लग गया है।

देवेश ठाकुर का उपन्याय 'शिखर पुरुष' में शिक्षा की इस विसंगति के बारे में दर्शाया गया है। कैसे अयोग्य शिक्षक शिक्षा में अपने को महाजनी समझ रहे हैं और किस तरह से उन अयोग्य शिक्षकों का महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में चुनाव हो रहा है। इस संदर्भ में अंतिम दशक के अन्य उपन्यासों में भी चर्चा हुई है। 'शिखर पुरुष' उपन्यास के डॉ. शीतांशु एक ऐसे ही भ्रष्ट तथा अयोग्य अध्यापक डॉ. छज्जू प्रसाद चौबे के बारे में बोलते हैं - "क्या होगा इस देश का, इसकी शिक्षा-व्यवस्था का। वे सोचने लगे। डॉ. छज्जू प्रसाद चौबे को वे अच्छी तरह जानते थे। एकदम घटिया अध्यापक और उससे भी ज्यादा घटिया व्यक्ति। इंसान तो उसे कहा ही नहीं जा सकता। सस्ती चाटुकारिता, ओछे किस्म के दंद-फंद और चरम पर पहुँची हुई लिप्सा। क्या ऐसे ही व्यक्तियों को अब सम्मानित किया जाएगा!"[1] आज ऐसे ही लोग शिक्षा व्यवस्था में अपनी जड़ फैलाते जा रहे हैं। इस पवित्र व्यवस्था को भ्रष्ट कर रहे हैं। छज्जू प्रसाद जैसे अध्यापक छात्रों (देश के भविष्य) को क्या ईमानदारी, परोपकार, मानवीयता जैसे परम मूल्यों का ज्ञान देंगे जो खुद इन मूल्यों से अज्ञान हैं। ऐसे लोग आज शिक्षा व्यवस्था में आ रहे हैं जिनका पढ़ाई से दूर-दूर का रिश्ता नहीं होता है। पर पैसे की खातिर इसे अपना पेशा बना लेते हैं। साथ-साथ अपना दूसरा व्यवसाय भी चलाते रहते हैं। इस मनोवृत्ति से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि शिक्षा की क्या हालत होगी, समाज की क्या हालत होगी। क्या ऐसे लोगों को शिक्षक के रूप में चुना जाना चाहिए जो शिक्षा को भी केवल अन्य व्यवसाय की तरह मानते हैं? देवेश ठाकुर ऐसे अध्यापकों के बारे में बताते हैं - "टीचरी करते हुए किसी ने चक्कियाँ डाल रखीं थीं। कोई

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 37

कोयले का व्यापारी था, किसी की दूध की दुकान थी। लेक्चरर हुए तो भी साइड बिजनेस चलता रहा।"[1] कई हद तक मुझे ऐसा लगता है कि अध्यापकों को ऐसा नहीं करना चाहिए पर मुझे लगता है कि अध्यापक ऐसा करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। समाज, प्रशासन उन्हें ऐसा करने पर मजबूर कर देते हैं। महाविद्यालयों की हालात फिर भी ठीक है, मगर अनेक विद्यालयों में शिक्षकों को वेतन सही समय पर नहीं मिलता है और वे उपाय शून्य होकर दूसरा व्यवसाय करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। अत: शिक्षा में सुधार लाने के लिए अध्यापकों की हालात पर भी ध्यान देना चाहिए। आज अध्यापक छात्र तथा अध्यापन से ज्यादा स्वयं को दूसरे कार्य तथा प्रशासन के साथ जोड़ना श्रेयस्कर समझते हैं। फलत: अध्यापन से उनका ध्यान हटता रहा है। शिक्षक अपनी असली योग्यता अध्यापन में न दिखाकर दूसरे कार्य में लिप्त रहते हैं। गिरिराज किशोर का 'यातना घर' उपन्यास पूर्ण रूप से ऐसे ही अध्यापकों पर आधारित है। 'यातना घर' उपन्यास में ऐसे ही जाने माने अध्यापक जो देश तथा विदेश में अपने को श्रेष्ठ मानते हैं और जिन्हें गर्व है अपनी डिग्रियों पर गिरिराज किशोर ने करारा व्यंग्य किया है। पर असलियत में वे सब सत्ता ऐंठने के चक्कर में रहते हैं। अध्यापन से ज्यादा प्रशासनिक कार्य में वे लोग जयादा दिलचस्पी लेते हैं। और संस्थान के असली प्रशासनिक अधिकारी को अपने काबू में रखना चाहते हैं। उसके काम में हमेशा दखल देते हैं और हर वक्त उसे नीचा दिखाते रहते हैं। तभी प्रशासनिक अधिकारी विष्णु नारायण कहते हैं - "लगता है, आपकी रिसर्च का क्षेत्र आजकल प्रशासन ही है? यानी? आपका मूल्यवान समय जहाँ लगना चाहिए, वहाँ न लगकर इसी में जाया हो रहा है।"[2] आज विडम्बना यह है कि हमारे देश के बड़े-बड़े विद्वान भी अपने कर्तव्य से विमुख हो रहे हैं। योग्यता होने के बावजूद भी ये लोग उसे सही दिशा में नियोजन नहीं करते हैं। अत: अनेक ऐसे संस्थान हैं जो अपने को अंतर्राष्ट्रीय दर्जे का मानते हैं। वहाँ पर पढ़े हुए छात्र 'व्यक्ति' तो बन जाते हैं पर 'इंसान' नहीं बन पाते हैं। अध्यापक में केवल योग्यता होना ही काफी नहीं उसे कैसे बच्चों के हित में लगाया जाए ताकि दोनों का जीवन सफल हो उस पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 24

[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 38

बाजारवाद के इस संकटपूर्ण समय में शिक्षा भी बाजार में बिकने वाली एक वस्तु बन गयी है। और व्यवसायों के लिए शिक्षा एक बहुत बड़ा औजार है जिसके माध्यम से अर्थ बटोरा जा सके। अर्थ केन्द्रित समाज में माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चे भी जैसे-तैसे डिग्री प्राप्त करके पैसा ही कमाने लगे। तो इस भौतिक उपलब्ध्यिों की होड़ के चलते अभिभावक भी ऐसे शिक्षकों को चुनने के लिए नहीं हिचकते हैं जो अच्छी रकम पर उनके बच्चों को अव्वल दर्जे पर पहुँचायें। इसलिए शिक्षक की चिंतनशीलता में कमी आ गई है। वे आज कक्षा में ध्यान लगाकर अध्यापन नहीं करते हैं पर कक्षा के बाद ट्यूशन पढ़ाकर अपनी योग्यता की नीलामी करते हैं। आज ऐसे शिक्षक हैं जिनका विचार कुछ इस प्रकार है - "माई डियर ......यह ड्यूटी थी - कर्तव्य, नैतिकता, निष्ठा और अनुशासन आदि सब सिर्फ साहित्य और शब्द कोशों के महत्व के हैं। इन शब्दों के अर्थ तोता रटत करवा दिया करिए, बस ....पढ़ने-पढ़ाने का महत्व अब सिर्फ इतना रह गया है कि हम आप जैसों को गुजारे के लिए एक नौकरी मिल जाती है और छात्र-छात्राओं को एक शगल।"[1]

3.3.4 विद्यार्थी तथा गुरू की अनुशासनहीनता एवं उद्दंडता

शिक्षा की गुणवत्ता ही उसकी सामाजिक स्वीकार्यता की नींव डालती है। यही समाज को एक भविष्य दृष्टि प्रदान करता है। जीवन की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए सर्वसम्मत और सर्वमान्य मार्ग शिक्षा की ज्योति से ही सर्वाधिक प्रकाशित होता है। सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा समाज को तैयार करती है। यह सब तो किताबी बातें हैं। वास्तव में शिक्षा अपनी गुणवत्ता की कसौटी पर खरी उतर पायी है? समाज को सुधारने का जो दायित्व उसने लिया था क्या शिक्षा निभा पाई है? आज शिक्षा से संबंधित कई यक्ष-प्रश्न हमारे सम्मुख प्रकट हैं और धीरे-धीरे हम उन उत्तरों से दूर होते जा रहे हैं। आज हम आदि मानव से आधुनिक तथा सभ्य मानव बन गये हैं। विकास के चरम पर पहुँच रहे हैं। इस दौड़ में भाग लेते-लेते हम नैतिकता, मानवीयता, आदर्श जैसे महत्त जीवन मूल्यों की दौड़ में पीछे रह गये हैं। शिक्षा से जिन उत्तरदायित्वों को निभाने की आशा की जाती रही वह जाने-अनजाने उसमें असफल रही है। सामाजिक परिवर्तन के कारण शिक्षा में भी परिवर्तन होने लगे। चाहे वह शिक्षा की गुणवत्ता की

---

[1] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 24

बात हो या शिक्षा में भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता हो या गुरू-शिष्य संबंध हो या उनकी अराजकता हो सब में आज प्रश्न चिह्न लग गये हैं। हम मानते हैं कि परिवर्तन अवश्यंभावी है और सामाजिक परिवर्तन एक निरंतर प्रक्रिया है उसी प्रकार शैक्षिक परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है। मगर यह परिवर्तन सकारात्मक कम मगर नकारात्मक ज्यादा होने लगे हैं। जो समाज के लिए हानिकारक हैं।

सृष्टि के आरंभ से ही गुरू को उच्च स्थान प्राप्त है। जिन पर समाज के भविष्य निर्माण जैसा गुरूत्वपूर्ण कार्य न्यस्त है। गुरू-शिष्य संबंध एक आदर्श संबंध है। परन्तु आज शिक्षा के व्यवसायीकरण, तकनीकी विकास तथा अन्य कई कारण से गुरू-शिष्य में वह सौहार्दपूर्ण संबंध नहीं रहा है। इसके लिए किसी एक पर दोषारोपण करना सही नहीं होगा। जिसके चलते शिक्षा क्षेत्र में आज गुरू तथा शिष्य उभय की अनुशासनहीनता तथा उद्दंडता सर चढ़ के बोलने लगी है। आत्मीय संबंधों की प्रगाढ़ता, जो अध्यापक तथा विद्यार्थी तथा संस्था के बीच सदा से निर्धारित रहे हैं, लगभग भुला दिए गए हैं।

शिक्षा परिसरों का अपना अनुशासन होता है। ऐसा कहा जाता है कि बिना अनुशासन के कोई व्यक्ति कभी सफल नहीं बन पाता है। हर क्षेत्र के अपने अनुशासन होते हैं जिसके आधार पर ही हर कार्य किया जाता है। मगर शिक्षा परिसर में अनुशासन को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। क्योंकि उनपर देश का भविष्य गढ़ने का उत्तरदायित्व न्यस्त है। दोनों अध्यापक तथा विद्यार्थी दोनों को अनुशासन का पालन करना पड़ता है। एक अध्यापक को हमेशा अनुशासन पर ध्यान देना पड़ता है। अगर वे स्वयं इसका खंडन करेंगे तो कभी अच्छे विद्यार्थी नहीं बन पाएंगे और जब अच्छे विद्यार्थी नहीं बनेंगे तो समाज की क्या हालत होगी हम अंदाजा लगा सकते हैं।

आज जब समाज में मूल्य शून्यता का राज चलने लगा है कोई भी क्षेत्र इस चपेट से स्वयं को नहीं बचा पाता है। शिक्षा क्षेत्र की स्थिति भी अत्यंत भयावह है। शिक्षा में आज न तो अनुशासन है और ना ही दायित्व पालन के लिए कोई चिंतित है। अब ऐसा समय आ पहुँचा है जहाँ शिक्षा व्यक्तित्व विकास का माध्यम न होकर कैरियर की सुरक्षा कवच बन चुकी है। और जीवन शैली को ऐसी यांत्रिकता के कारण शिक्षा भी भूल भुलैया जैसी स्थिति में है। न अध्यापक न अध्येता कोई भी अपने

कर्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक नहीं करता है। अत: शिक्षा परिसर में अनुशासनहीनता की व्याप्ति दिखाई पड़ती है। डॉ. विजयबहादुर सिंह कहते हैं - "शिक्षा-परिसरों में शिक्षकों की उपस्थिति उन हरे-भरे वृक्षों की तरह मानी जानी चाहिए जिनकी छाया के नीचे विद्यार्थी अपनी समस्त जिज्ञासाएँ लिए उपस्थित हों। आज तो स्थिति बदतर है।"[1] मगर आज विडम्बना यह है कि न शिक्षक वृक्ष है और न ही विद्यार्थी उनकी छाया में रहना चाहते हैं। सब अपनी अपनी मनमानी करते रहते हैं। दोनों का मकसद यह होता है कि कैसे परीक्षा में बस पास हो जाएं। कोई भी अनुशासन को ध्यान में नहीं रखता है। सूर्यबाला का उपन्यास 'दीक्षांत' में शिक्षा जगत की ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति पर आलोकपात किया गया है। जिसमें सूर्यबाला ने ऐसे अनुशासनहीन उद्दंड छात्रों का चित्रण किया है जिनका मकसद बस परीक्षा में पास होना है। मानवीयता, जीवन मूल्य, अनुशासन आदि नैतिक गुणों के बारे में वे अनभिज्ञ हैं। इसके पीछे एक बहुत बड़ा षड्यंत्र रचा जा रहा है। आज ऐसा लग रहा है शिक्षा जैसे समाज के लिए न होकर बाजार के लिए अपनी भूमिका निभा रही है। 'दीक्षांत' उपन्यास में एक उद्दंड छात्र शर्मा सर से "धृष्ट मुस्कान और आँखों में मक्कारी भरी विनम्रता ओढ़कर बोला था, ठीक सामने आकर, सर! मैं पूछना चाहता था कि मैं पास तो हो जाऊंगा न! लहजा सुनकर उनके शब्दों में अनायास कड़वाहट भर आयी थी, क्यों? पूछने की क्या जरूरत है? जैसे उत्तर तुमने लिखे हैं। उससे तुम्हें क्या लगता है?
सर लगने की क्या बात है। आप चाहें तो पास करना आपके लिए क्या मुश्किल है, सर!"[2]

उपरोक्त कथन से हम शिक्षा-परिसर में छात्रों में अनुशासनहीनता का अंदाजा लगा सकते हैं। शिक्षा-परिसर अब पाखंडपूर्ण हो गया है। शासकीय तंत्र के तले बुरी तरह कुचल डाली गई है। अब उसमें मानव मूल्य, नैतिकता, बौद्धिकता के लिए स्थान नहीं रह गया है। जिसका शिकार छात्र तथा अध्यापक होते हैं। बच्चे कच्चे मिट्टी का पात्र होते हैं उनको हम जैसा गढ़ेंगे वे वैसा ही बनेंगे। सही गलत क्या है उन्हें शिक्षा-परिसर में सिखाया जाता है। सामाजिक मर्यादा तथा अनुशासन के बारे में विद्यार्थी को शिक्षा-परिसर में सिखाया जाता है मगर जहाँ शिक्षा-प्रणाली स्वयं त्रुटिपूर्ण हो वह किसको क्या शिक्षा प्रदान करेगी। शर्मा सर जैसे अध्यापक का हाथ जैसे बंधा हुआ हो। शर्मा सर सही अर्थ में

---

[1] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 53

[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 63

एक सुयोग्य शिक्षक का सभी गुण वहन करते हैं। मगर विडम्बना यह है कि वे उस कॉलेज में अस्थायी शिक्षक हैं, जिस वजह से वे छात्रों की अनुशासनहीनता तथा उद्दंडता को खून के आँसू पीकर सह जाते हैं। आज स्थिति यह है कि कल के भारत का भविष्य कहे जाने वालों का भविष्य संदेहों और आपदाओं की छाया के नीचे आ चुका है। ऐसे अनुशासनहीन छात्र कल जाकर कैसा समाज निर्माण कर पाएंगे? शिक्षा के व्यवसायीकरण के कारण शिक्षा का स्तर बहुत गिरता जा रहा है। इस वजह से शिक्षा-परिसर दूषित हो रहा है। शिक्षा आज ज्ञानात्मक कम और सूचनात्मक ज्यादा बन गयी है। जाहिर है कि इसका असर छात्र तथा शिक्षक पर पड़ेगा। शिक्षक के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाता है वह आज के छात्र को नहीं पता है। एक छात्र शर्मा सर से कहता है - "इतना गरम होने की क्या बात है सर, बरुआ उनके गुस्से से पूर्ण अलिप्त एक-एक शब्द उद्दंडता से चबा-चबाकर बोल रहा था, मैं तो इसलिए आया था आपके पास कि कॉलेज में आपको भी रहना है, मुझे भी। शायद यह समझकर आप थोड़ी रियायत बरत दें, आप नहीं चाहते तो न सही......।"[1] एक समय था जब छात्र अपने गुरू से आँख मिलाकर बात करने का साहस नहीं करता था, मगर आज अपने शिक्षक को धमकी देने लगे हैं। ऐसे उद्दंड छात्र शिक्षक के अस्तित्व को हिलाकर रख दिये हैं। समाज किस भयंकर दिशा में अग्रसर हो रहा है सूर्यबाला ने इसका मार्मिक चित्रण किया है। ऐसी अनुशासनहीनता से त्रस्त शर्मा सर जैसे सरल तथा ज्ञानी शिक्षक की बहुत ही दर्दनाक दशा होती है। मानसिक पीड़ा के कारण वे एक साधारण जीवन जीने में असफल पाये जाते हैं। खुद सूर्यबाला लिखती हैं - "शर्मा सर बड़े श्रम तथा अध्यवसाय से अर्जित ज्ञान और संस्कार को पूरी निष्ठा और लगन से नयी पीढ़ी को सौंपना चाहते थे। लेकिन समाज के बहुत तेजी से विरूप होते जा रहे ढांचे ने कुछ भी न करने दिया उन्हें। शांत और सुखद ढंग से जीने की मोहलत तक नहीं दी।"[2] विसंगतिपूर्ण समाज खासकर शिक्षा-परिसर से उन्हें केवल हताशा ही प्राप्त हुई और शर्मा सर का एक दु:खद अंत हुआ जो समाज के लिए निंदनीय है। आज मनुष्य की योग्यता बस कागजी डिग्रियाँ तक सीमित रह गयी है। वह बौद्धिकता के बारे में, मानव हित के बारे में बिल्कुल नहीं सोचता है। यही कारण है कि समाज में 'बरुआ' जैसे छात्र लाखों में पैदा हो रहे हैं। सही अर्थ में देखा

---

[1] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 64

[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं.

जाए तो कितना शिक्षित हो रहे हैं हम? आज की शिक्षा प्रणाली कुछ और शिक्षा को महत्व प्रदान करती है जो बस बेहतर ढंग से पेट भरने की कला सिखाती है। मगर अतृप्त आदमी का लालची पेट कभी भरता नहीं है। स्वार्थपरक मनोवृत्ति के कारण व्यक्ति बस स्वयं के बारे में ही सोचता है जो समाज के हित में नहीं है। आज शायद ही कोई शिक्षा अनुष्ठान होगा जो विद्यार्थी को अनुशासन, उच्च जीवन मूल्य, मानवीयता के बारे में प्रायोगिक शिक्षा देता होगा। किताबी बातें तो सब करते हैं मगर आचरण में कितने उतार पाते हैं? यह आज की विडम्बना है।

आधुनिक शिक्षा सत्ता के अनुदान पर निर्भर करती है। अत: जाहिर है शासन तंत्र का एक छात्र शासन शिक्षा क्षेत्र में चलता है। शिक्षा भी आधुनिक युग में लाचार है। वह भी जघन्य षड्यंत्र का शिकार है। अत: सत्ता के अनुशासन पर आश्रित शिक्षा का अनुशासन कैसा होगा यह विचारणीय है। 'यातनाघर' उपन्यास में गिरिराज किशोर ने देश की त्रुटिपूर्ण शिक्षा तथा उसके लिए उत्तरदायी राजनैतिक कारण के बारे में एक बहुत ही करारा व्यंग्य किया है। जवाहरलाल नेहरू कैसे शिक्षा को महत्व नहीं देते थे जिसके चलते शिक्षा आज पिछड़ गयी है अपने मकसद से एक और राजनीतिज्ञों के विकट खेल ने इस क्षेत्र में काया विस्तार किया है। गिरिराज किशोर कहते हैं - "उनके लिए शिक्षा हमेशा अंतिम प्राथमिकता रही। वरना यह कैसे होता कि देश की अगली पंक्ति के नेता शिक्षा मंत्री बनें और शिक्षा पिछड़ी की पिछड़ी पड़ी रह जाए। अगर पौवा न हो तो यह आपकी शिक्षा किसी के लिए एक गिलास पानी का प्रबंध नहीं कर सकती। जिनके लिए करती भी है उनमें से अधिकतर के लिए पहले से ही होता है। उसी का नतीजा है कि देश में शिक्षा के क्षेत्र में एक से एक बड़े जमींदार दखल जमाए हैं।"[1] अत: ऐसी त्रुटिपूर्ण शिक्षा व्यवस्था के चलते हर नैतिक मूल्यबोध पर प्रश्न चिह्न लग गया है।

शासन-तंत्र के तले दबी हुई शिक्षा क्षेत्र में अध्यापक भी एक कठपुतली मात्र बन गये हैं। विजय बहादुर सिंह कहते हैं - "जिस शिक्षक समाज को सामाजिक स्वप्नों और आदर्शों का नेतृत्व करता था,

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 45

वह अंधे अनुगामियों के समूह में बदल चुका है।"[1] आज अध्यापक का वह गुरूदायित्व नहीं रह गया जो प्राचीन काल में गुरूओं का था। आधुनिक काल में गुरू का अस्तित्व खंडन हो गया है।

आधुनिक काल में शिक्षण कार्य मात्र व्यवसायिक बनकर रह गया है। शिक्षा अनुष्ठानों की स्थापना तथा अध्यापकों की नियुक्तियाँ शासन तंत्र के हाथ चली गयी हैं फलस्वरूप आज शिक्षा केवल प्रशासकीय कार्य बन गयी है। अध्यापक को जहाँ पर शिक्षण को प्राथमिकता देनी चाहिए वहाँ वे उस अनुशासन को तोड़ते दिखाई पड़ते हैं। आज अध्यापक प्रशासकीय कार्य में स्वयं को लिप्त रखते हैं और सत्ता प्राप्ति के पागल होते हैं। गिरिराज किशोर के उपन्यास 'यातनाघर' में कुछ ऐसे ही अनुशासनहीन अध्यापकों के बारे में चर्चा हुई है। जहाँ एक अध्यापक डॉ. देसाई प्रशासनिक अधिकारी से कहते हैं - "आपको दो काम करने होंगे। एक तो फैकल्टी को खुश रखना होगा यानी उन्हें अपना पूरा सहयोग देना होगा - वे खुश रहेंगे तो आपका काम-नाम भी चलता रहेगा। दूसरे ये सब जो अपने को मजदूरों का खैरख्वाह बताते हैं उनसे अपने को दूर रखना होगा। क्योंकि फैकल्टी यह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि जिनकी वजह से इस खुबसूरत संस्थान को इतना ज्यादा नुकसान पहुँचा, आज उसके समर्थक बन जाएँ।"[2] गिरिराज किशोर देश के जिस स्वनामधन्य शिक्षा अनुष्ठान की बात करते हैं जो हमारे देश के समस्त शिक्षा अनुष्ठान की सच्चाई को सामने रख देता है। आधुनिक शिक्षा प्रणली के चलते आज अध्यापक भी कर्तव्यविमुख होने लगे हैं। सत्ता के खेल में मग्न होकर वे लक्ष्यच्यूत हो रहे हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में अनुशासन, मूल्यबोध, नैतिकता आदि के बारे में बात ना करें तो अच्छा है। जो खुद अनुशासन में नहीं रहते वे विद्यार्थी को क्या अनुशासन सिखाएंगे। प्रशासकीय कार्य में लिप्त रहकर वे आज संस्थान के मालिक बन बैठे हैं। और तरह-तरह के अनुशासनविहीन कार्य में लिप्त रहते हैं। एक अध्यापक से ऐसी उम्मीद नहीं होती है। 'यातनाघर' में वहाँ के निदेशक जो ईमानदार आदमी हैं वे इन अध्यापकों के कारनामों से त्रस्त होकर कहते हैं - "ये लोग मालिक हैं और मैं उनका नौकर। मुझे यह भी अधिकार नहीं कि मैं इनसे पूछ सकूँ कि आप अनुसंधान के क्षेत्र में क्या कर रहे हैं?

[1] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 59
[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 39

अपने को ज्ञानी समझने वाले व्यक्ति से उसके ज्ञान के बारे में पूछना क्या गुनाह है?"[1] उपरोक्त कथन पर गौर किया जाए तो हमें ज्ञात होगा कि किस प्रकार अध्यापक की मनमानी तथा अनुशासनहीनता के प्रभाव से संपूर्ण संस्थान मलिन हो रहा है। शिक्षा जगत की दुविधा यह है कि आज जो अध्यापक बन रहे हैं वे कोई भी जीवन मूल्य, नैतिकता, मानवीयता आदि सगुण लेकर शिक्षा क्षेत्र में नहीं प्रवेश करते हैं। मुझे लगता है शायद अध्यापक जब अपने कर्म क्षेत्र (शिक्षा) में प्रवेश करते हैं बस यह ठान लेते हैं जैसे बस आधिपत्य जमाना है। छात्र को नीचा दिखाना है, सत्ता प्राप्त करना है, उच्च पद पर अधिष्ठित होना है। जाहिर है इस दौड़ में भागते अनेक अनुशासनहीन कार्य करते रहते हैं। प्रशासकीय कार्य में लिप्त रहकर कक्षा में समय पर नहीं आते हैं या समय से पहले चले जाते हैं। बच्चों को बस नोट देकर अपना कोर्स खत्म कर देते हैं। या तो अपने ही पढ़ाये हुए हिस्सा से परीक्षा संपन्न कर देते हैं ऐसे ही अनेक अनुशासनहीन कार्य अध्यापक करते रहते हैं। इन सबका चित्रण उपन्यास में हो न हो मगर व्यावहारिक जीवन में यही सच्चाई है। एक अनुसंधानकर्ता होने के नाते और विश्वविद्यालय के छात्र होने के नाते मैं खुद इस बात से सहमत हूँ। गिरिराज किशोर के उपन्यास 'यातनाघर' अगर देखा जाए तो अध्यापकों की अनुशासनहीनता का उन्होंने बहुत ही सटीक चित्रण किया है। खुद एक अध्यापक होने के नाते उन्होंने इन सब चीजों को अच्छी तरह से जाँचा परखा है। 'यातनाघर' उपन्यास में विदेश में शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटे अध्यापकों के अनुशासनहीन कार्य पर आलोकपात किया गया है जो कि भारत के लोग जो उस शिक्षा संस्थान में है उन्हें वे हमेशा नीचा दिखाते रहते हैं। उस शिक्षा अनुष्ठान के ईमानदार निदेशक भी इन धूर्त अध्यापकों से नहीं बच पाते हैं। एक अध्यापक डॉ. नवांश निदेशक के विपक्ष में कहते हैं - "बाद में इससे भी निबटना है - इस घाट पर हर एक पानी नहीं पी सकता, यह गीदड़ शेर का नकली चेहरा लगाकर पानी पीने आ गया है। अपनी शक्ति चारों तरफ खर्च करने की जरूरत नहीं। यह तो एक नगण्य मक्खी की तरह है - किसी भी वक्त रास्ता दिखाया जा सकता है।"[2] उपरोक्त कथन एक अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिसंपन्न अध्यापक का है यह जानकर कुछ क्षण हम भौंचक्का रह जाते हैं। अगर अध्यापकों के इस प्रकार के व्यवहार चलते रहे तो हम अंदाजा नहीं लगा

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 73

[2] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 99

सकते हैं कि देश के भविष्य का क्या होगा। शिक्षा जगत के लिए इससे शर्मनाक बात और क्या हो सकती है। छात्रों के भविष्य के बारे में यह लोग कभी नहीं सोचते हैं। जीवन मूल्य के विनाश में इन अध्यापकों का बहुत बड़ा हाथ है। मूल्यपरक जीवन जीने की जो आशा मानव देख रहा है और देश के भविष्य निर्माण में जिसका महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है वह आज ऐसे अनुशासनहीन अध्यापकों के कारण मूल्य भ्रष्टता से दु:खी और अपमानित हो रहा है। ऐसे अध्यापकों को देखकर अभिभावक तथा समाज को हताशा होने लगी है। 'यातनाघर' उपन्यास में प्रशासनिक अधिकारी विष्णु नारायण ऐसे अध्यापक हैं जो समस्त प्रशासकीय कर्मचारियों को नाक में दम करके रखा है उनके बारे में कहते हैं - "मैं समझता था, राजनीतिज्ञों में ही राजनीति होती है। लेकिन यहाँ तो बुद्धिजीवियों की भी एक अपनी राजनीति है - उस मुख्य राजनीति से भी कहीं ज्यादा लुकी-छिपी और नुकीली।"[1] अर्थात ये बुद्धिजीवी आज अपने मूल उद्देश्य से विच्युत हो रहे हैं और समाज के लिए एक मनुष्यता विरोधी तथा लोकघाती भूमिका निभा रहे हैं। वर्तमान समय की यह माँग है ऐसे लोकघाती तथा समाज विरोधी बुद्धिजीवियों को सबक सिखाना। आज जिस अध्यापक वर्ग का निर्माण हो रहा है वे किसी रूप से न शिक्षा को न विद्यार्थी को अपना मानते हैं। शिक्षा उनके लिए विलासी बनने के लिए, विदेश जाने के लिए तथा स्वार्थी होने के लिए एक जरिया मात्र है। मगर उन बुद्धिजीवियों को एक पल के लिए यह सोचना चाहिए क्या वे अपने विद्यार्थी के साथ अपने पेशा तथा देश के साथ न्याय कर रहे हैं? शिक्षा के केन्द्र में जिस आचार्य कुल को होना चाहिए जो अपने छात्रों के प्रति स्नेहशील हो तथा शिक्षा के राष्ट्रीय चरित्र की अपेक्षित मर्यादाओं के प्रति स्वयं को उत्तरदायी मानता हो। क्या आज के अध्यापक वर्ग इसके बारे में थोड़ा सा भी सोचते हैं? इस पर बुनियादी और क्रांतिकारी बहस की शुरूआत बहुत जरूरी है। विजय बहादुर सिंह कहते हैं - "राज्य का वेतनभोगी अध्यापक राज्य के हितों की दलाली तो बखूबी कर सकता है, किन्तु ऐसा आचार्य समूह कभी भी वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता, जो आज तक कौटिल्य (चाणक्य) या सान्दीपनि जैसे आचार्यों को प्राप्त है।"[2]

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 102

[2] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 68

इस तरह से आज समस्त अध्यापक वर्ग के व्यक्तित्व तथा सत्कर्म पर प्रश्न चिह्न लग गया है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि सत्य का साथ दे और ईमानदारी, सदाचार के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह करे। आम आदमी के लिए भले ही महत्व नहीं रखता, परन्तु एक अध्यापक के लिए यह अत्यंत जरूरी है क्योंकि समाज निर्माण का गुरू दायित्व उनके कंधे पर न्यस्त है। पर आज विडम्बना यह है कि अध्यापक स्वयं ना तो ईमानदार है और ना ही सदाचारी। धन का परदा उनकी आँखों पर चढ़ गया है। आधुनिक युग में उनके लिए 'माफिया' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। जिस धरती पर गुरू को भगवान से ऊँचा दर्जा दिया जाता था उस धरती पर आज वे माफिया बन बैठे हैं। 'यातनाघर' उपन्यास में रामलखन बाबू तथा विष्णु प्रभाकर के बीच जो बातचीत होती है उससे पता चलता है कि संस्थान के माफिया ग्रुप अध्यापकगण ही हैं। अध्यापकों के अनुशासनहीनता तथा उद्दंडता के कारण ही शिक्षा का मान घटता जा रहा है।

"रिपोर्ट है कहाँ सर! माफिया ग्रुप ने दी ही कहाँ?"

"माफिया ग्रुप - क्या मतलब?"

वह जो ग्रुप है - सबेरे आपके पास आया था - उसी को लोग माफिया ग्रुप कहते हैं। जिससे नाराज हो जाता है उसे सीट पर से हटाने का हर हथकंडा अपनाता है।"[1] गिरिराज किशोर का 'यातनाघर' उपन्यास ऐसे अध्यापकों का कच्चा चिट्ठा खोलता है।

'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में ऐसे अध्यापक के बारे में चित्रण किया गया है जो व्यक्तिगत कारणों की वजह से एक शोधार्थी का जीवन तहस-नहस कर देते हैं। यह भी शिक्षक की अनुशासनहीनता ही कहलायेगी। एक शिक्षक को कोई हक नहीं है कि छात्र की जिंदगी के साथ खिलवाड़ करे। उनके लिए अपनी घृणा और हिंसा परोसे। प्रोफेसर शर्मा के कारण नील का दर्दनाक अंत होता है। अध्यापक हमेशा अपने छात्रों के गलतियाँ सुधारते हैं उन्हें जीवन में आगे बढ़ने के लिए उत्साहित करते रहते हैं। विद्यार्थी के साथ उनका संबंध सदा स्वार्थ रहित होता है। छात्रों के जीवन को क्या स्वरूप प्रदान किया जाना चाहिए इसका वास्तविक बोध अभिभावक से ज्यादा अध्यापक को

---

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 117

होता है। लेकिन वर्तमान काल में स्थिति इसके विपरीत है। छात्र जीवन के स्वरूप निर्माण की तो दूर की बात है आज अध्यापक छात्र के जीवन तबाह करने पर तुले हुए हैं। प्रो. शर्मा ने नील के साथ ऐसा ही किया। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए अपनी मान इज्जत बचाने के लिए वे एक छात्र को मौत के द्वार तक ले जाते हैं। नील का दोस्त गौतम ऐसे उद्दंड अध्यापक प्रो. शर्मा के कारनामे के बारे में कहता है - "फिर शर्मा कदम-कदम पर रूकावट डालेगा। मान लो, सात-आठ साल में खून के आंसू बहाते हुए पी-एचडी. हो भी गए तो नौकरी कौन देगा? यह रास्ता या तो तुम्हें आत्महत्या तक ले जाएगा या पागलखाने तक!"[1]

उपरोक्त कथन से पता चलता है कि कैसे प्रो. शर्मा (एक अध्यापक) की अनुशासनहीनता के कारण नील जिसका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल था उसे नर्क में डाल दिया।

3.3.5 शिक्षा जगत में पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद

शिक्षा को व्यक्तित्व निर्माण का मार्ग समझा जाता है और वे उज्ज्वल व्यक्तित्व के अधिकारी ही आगे चलकर एक स्वस्थ तथा संपूर्ण समाज गठन करते हैं। कहा जाता है कि शिक्षा-परिसर में आने से पहले बच्चा मात्र एक मिट्टी का पिंड होता है पर जैसे ही वह इस परिसर में कदम रखता है वह दिन-ब-दिन एक सुन्दर घड़ा बनता जाता है। शिक्षा परिसर में आकर न केवल छात्र बल्कि शिक्षक भी मार्जित हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा संस्था में हमेशा नैतिकता तथा चरित्र निर्माण पर जोर दिया गया है। छात्र पर शिक्षक का ही प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। अभिभावक भी निश्चित होकर साँस लेते हैं कि उनके बच्चे सुसंस्कृत तथा ज्ञानी लोगों के हाथों में है। जिनकी छत्रछाया में पल्लवित होकर उनके बच्चे अच्छे नागरिक बनेंगे। परन्तु आधुनिक शिक्षा इन सबके विपरीत प्रतीत होती है। शिक्षा परिसर में आज हर तरह की अराजकता दृश्यमान है। दु:ख की बात यह है कि शिक्षा जगत को जहाँ निरपेक्ष दृष्टि अपनानी चाहिए अंतिम दशक में वह मात्र एक सरकारी विभाग बनकर रह गया है, जिसमें राजनीति घुसपैठ कर गयी है। इस तरह शिक्षा अपने मुख्य उद्देश्य से च्युत होती जा रही है। राजनैतिक हस्तक्षेप शिक्षा परिसर को दूषित करता है। विजय बहादुर सिंह कहते हैं - "हमारी शिक्षा बीमार है। शासकीय तंत्र

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 11

के तले बुरी तरह रौंद और कुचल डाली गई है। स्वायत्तता सिर्फ काग़जी वहम है और डिग्रियाँ वे स्वर्ण पालिशें, जिनसें रट्टू तोतों की चोंच चमक रही हैं। तरह-तरह के शासकीय-अशासकीय, पब्लिक-गैर पब्लिक, उत्कृष्टता-अनुत्कृष्टता (सही मायनों में निकृष्टता) के पाखंडपूर्ण विद्या-परिसरों में पैसे और राज-बल का खेल जारी है।"[1] शिक्षा जगत आज एक व्यवसाय केन्द्र बन गया है जहाँ शिक्षा के नाम पर सब कुछ बिक रहा है। शिक्षा परिसर भी माफियाओं से घिरा हुआ है ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं है। अध्यापक तथा शिक्षा के अधिकारी सारे इन माफियाओं के कब्जे में है और चाहे-अनचाहे इनके इशारों पर नाचने के लिए बाध्य हो रहे हैं। अंतिम दशक में इन्हीं शिक्षा-माफियाओं ने शिक्षा-परिसर तथा अकादमिक अनुशासनों को अपने पक्ष में तोड़ा-मरोड़ा है। फलस्वरूप शिक्षा जगत में पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद उभरने लगा है। ये लोग अपनी झोली भरने तथा अपने नाते-रिश्तेदारों की झोली भरने के लिए शिक्षा जगत को भ्रष्ट कर रहे हैं। अंतिम दशक के उपन्यास में भी इस चीज का जिक्र हुआ है। 'शिखर पुरुष' उपन्यास में देवेश ठाकुर ने शिक्षा जगत में व्याप्त पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद के ऊपर से परदा उठाने का प्रयास किया है। राजनीति के भयानक खेल के कारण शिक्षा परिसर किस प्रकार जर्जर हो गया है 'शिखर पुरुष' उपन्यास में इसका खुलासा हुआ है। स्वयं एक अध्यापक डॉ. गंजू प्रसाद अपने ही विश्वविद्यालय में किस प्रकार चापलूसी के कारण अध्यापक ने शिक्षा परिसर में हेर-फेर करके अध्यापक बन जाते हैं उस पर बोलते हैं - "इस विश्वविद्यालय में सब चलता है। अपने-अपने रिश्तेदारों के लिए यहाँ नये विभाग खोल दिये जाते हैं। नये पीठ स्थापित कर दिये जाते हैं। क्या नहीं होता यहाँ।"[2] शिक्षा क्षेत्र में इस प्रकार की स्थिति अंतिम दशक में चिंताजनक थी और आज स्थिति और भी बदतर है। अर्थ केन्द्रित समाज में शिक्षा को आज बेहतरीन व्यवसाय मान लिया गया है। अत: जो मुख्य उद्देश्य है उससे विस्मृत होकर शिक्षा के अधिकारी तथा प्रशासन केवल व्यक्तिगत विकास पर जोर देने लगे हैं। अध्यापक बनने के लिए आज मारामारी तथा उच्च स्तर पर हेराफेरी तथा राजनैतिक हथकंडे अपनाये जा रहे हैं। दु:खद बात यह है कि झूठ तथा फरेब के बल पर उन छद्म अध्यापकों को आज पुरस्कार भी मिलने लगे हैं। डॉ. ओछेलाल कहते हैं - "कहाँ नहीं होता डॉक्टर

---

[1] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 54

[2] शिखर पुरुष -- देवेश ठाकुर, पृ.सं. 15

साब? मध्य भारत विश्वविद्यालय में पिछले साल डॉ. छज्जू प्रसाद को अध्यक्ष पद मिल गया और पद्मश्री भी।"[1]

अंतिम दशक में शिक्षा क्षेत्र राजनीति का अड्डा बन गया था। जिन अध्यापकों का जीवन का लक्ष्य विद्यार्थियों के जीवन मूल्य, व्यवहार कुशल तथा सच्चा नागरिक बनाना होना चाहिए था वे उन पवित्र पेशे की अवमानना करने लगे थे। उनके नैतिक आचरण में बहुत फर्क आ गया था। आदिम काल से शिक्षकों पर जो उत्तरदायित्व न्यस्त था, वे आधुनिक काल में धराशायी होने लगे हैं। शिक्षकों से अपेक्षा रहती है कि वे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर समस्त शिक्षा संबंधित कार्य करें। परन्तु शिक्षा क्षेत्र में राजनीति के हस्तक्षेप के कारण अब यहाँ अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न होने लगी हैं। फलस्वरूप शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी है। डॉ. सीतांशु जो एक ईमानदार अध्यापक हैं वे अपने कॉलेज में आये हुए परिवर्तन के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं - "शोलापुरकर के प्रिंसिपल होते ही कॉलेज का माहौल बदलने लगा। पहले जहाँ प्रिंसिपल के ऑफिस में जाते प्राध्यापकों तक को संकोच होता था, वहाँ अब चापलूस अध्यापकों, बिल्डरों तथा तथाकथित समाजसेवियों की मजलिस जमने लगी। दिन भर चाय-पानी चलता। सुरती मली जाती और कॉलेज की महिला अध्यापकों पर सस्ते किस्म के रिमार्क कसे जाते। जातिवाद भी चलने लगा। नयी नियुक्तियों में प्रिंसिपल शोलापुरकर अपने खुशामदियों को मानने लगे। और धीरे-धीरे कॉलेज में ऐसे अध्यापकों की जमात खड़ी हो गयी जिनका पढ़ने-पढ़ाने के साथ-साथ अध्यापकों का भी नैतिक आचरण गिरने लगा था।"[2] विशेष करके शिक्षक नियुक्ति तथा विद्यार्थियों के दाखिला के लिए ही सबसे अधिक पक्षपात किया जाता है। ऐसे ऐसे लोग शिक्षक बन जाते हैं जिनके सर्टिफिकेट जाली होते हैं और वे अज्ञानी भी होते हैं। उच्च शिक्षा क्षेत्र में यह बहुत मात्रा में हो रहे हैं। देवेश ठाकुर एक ऐसे ही विश्वविद्यालय के बारे में हमें बता रहे हैं जहाँ इस प्रकार के कार्य हो रहे हैं। एक पी.टी. इंस्ट्रक्टर रामचरण 'अधीर' विश्वविद्यालय में लेक्चरर बन जाता है केवल उसकी ऊँची पहुँच के कारण। सब जानते हैं कि वह इस पद के लिए योग्य नहीं है, मगर नौकरी उसे मिल जाती है। और जो योग्य प्रार्थी हैं वे बस हाथ-पैर मारते रह जाते हैं पर कुछ नहीं होता है। देवेश

---

[1] शिखर पुरुष -- देवेश ठाकुर, पृ.सं. 15

[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 63

ठाकुर कहते हैं - "यद्यपि लेक्चररशिप के अन्य प्रार्थियों ने 'विश्वविद्यालय' और 'अधीर' जी को कोर्ट घसीटना चाहा था। उन्होंने यहाँ तक प्रचार किया कि 'अधीर' जी के अनेक सर्टिफिकेट जाली हैं और वे किसी भी प्रकार से लेक्चरर का पद पाने योग्य नहीं हैं। इन प्रत्याशियों ने उस विश्वविद्यालय तक से संपर्क किया जहाँ से 'अधीर' जी ने बी.ए. और एम.ए. की परीक्षा पास की थी लेकिन परिणाम शून्य ही रहा।"[1] और इसी पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद के कारण ही शिक्षा की गुणवत्ता प्रभावित होने लगी है। अत: अंतिम दशक में शिक्षा-क्षेत्र भी अराजकता के चरम पर था।

उच्च शिक्षा में जिस प्रकार का अनाचार हो रहा हे उसका यथार्थ चित्रण देवेश ठाकुर ने 'शिखर-पुरुष' में किया है। शोध निर्देशक किस प्रकार अपने शोधार्थियों की निम्न स्तर की थीसिस को भी पारित कर देते हैं। 'शिखर पुरुष' उपन्यास में पहाड़ी विश्वविद्यालय के स्वयं अध्यक्ष डॉ. संकल्पनाथ के बारे में कहा जाता है कि उनके शोध छात्र छुट्टन सिंह को उन्होंने पक्षपात तथा घपला करके डिग्री दिला दी है। बाह्य परीक्षक जब वाइवा लेने के लिए पहुँचता है तब वाइवा विभाग में लिये जाने के बदले स्वयं अपने घर में रख लिया जाता है। एक पत्रकार आनंद डॉ. शितांशु से इस बारे में कहते हैं - "संकल्प जी का एक किस्सा तो मेरे फादर भी सुनाते थे। तब डॉ. संकल्प जी नए-नए अध्यक्ष बने थे। एक वाइवा के लिए फादर को बुलाया गया। उन्हें अपने घर ही ठहराया। रात को बढ़िया होटल में डिनर दिया। और सुबह नाश्ते पर कैंडीडेट को भी अपने घर पर बुला लिया। संकल्प जी फादर से बोले - अब यूनिवर्सिटी कहाँ जाएंगे। यही पर नाश्ता करते-करते वाइवा ले लीजिए।"[2]

डॉ. संकल्प जी ऐसे शोधार्थी का पक्ष ले रहे थे जिसे अपने शोध का शीर्षक भी मालूम नहीं होता है। बिना निर्देशक से थीसिस जाँच करवाये उसने थीसिस जमा भी कर दी और अंत में डिग्री भी ले ली। यह स्थिति अत्यंत शोचनीय है। आनंद अपने पिता के उस अनुभव का किस्सा सुनाते हुए कहता है - "फादर ने छुट्टन सिंह से पूछा - तुम्हारे शोध का शीर्षक क्या है? छुट्टन सिंह चुप रहा।

"तुमने कभी अपने निर्देशक महोदय को थीसिस दिखाई?"

जी नहीं।

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 94

[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 145

'तुमने थीसिस खुद लिखी?'
'सर' मैं तो गाँव में अपनी जमीन देखता रहा। बड़े भैया यहाँ डॉक्टर संकल्प जी के ही विभाग में हैं। उन्होंने क्या किया, मुझे कुछ नहीं मालूम। ...पूरी थीसिस भी उन्होने ही लिखी है।"[1]

इस उपन्यास को पढ़ने के बाद मैं खुद भौंचक्का रह गई। मन में कई प्रश्न आने लगे कि शिक्षा का कोई मूल्य ही नहीं बचा है क्या? विश्वविद्यालय में अंतिम दशक से लेकर आज तक यह स्थिति बनी हुई है। और इस प्रकार के अनेक छुट्टन सिंह को डिग्रियाँ मिलती है। दु:ख की बात यह है कि इतना सब कुछ होने के बावजूद भी फादर को मजबूरन डिग्री देनी ही पड़ी। अगर वह ऐसा नहीं करते या वाइवा रद्द कर देते तो शायद उनकी हत्या भी कर दी जाती।

सूर्यबाला के 'दीक्षांत' उपन्यास में भी शिक्षा जगत में व्याप्त पक्षपात तथा भाई-भतीजावाद पर प्रकाश डाला गया है। एक ईमानदार अध्यापक शर्मा सर किस प्रकार शिक्षा क्षेत्र की विसंगतियों के कारण व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार प्रताड़ित होते हैं कि आत्महत्या जैसे जघन्य पाप करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। शर्मा सर जिस कॉलेज में अस्थाई शिक्षक के रूप में कार्य कर रहे थे, उस कॉलेज में हर तरह के विसंगत कार्य हो रहे थे। प्रशासक से आरंभ कर विद्यार्थियों तक सभी के कार्यकलाप चिंताजनक थे। उद्दंड छात्र को भी कुछ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनके परिवार से विद्यालय को डोनेशन मिलते हैं। अत: उनकी उद्दंडता और अनुशासनहीनता के प्रति प्रशासक तथा अध्यापक सभी आँखें मूँदे हुए रहते हैं। शर्मा सर जब बरूआ नामक एक उद्दंड तथा अनुशासनहीन छात्र को दंडित करने के बारे में कहते हैं तब एक अध्यापक डिसूजा उनसे कहते हैं - "बरूआ परिवार से विद्यालय के हजारों के डोनेशन और जाने कितनी ऊपरी सहायता मिलती है। फांस तो संस्थाओं के लिए हमारे-तुम्हारे जैसे निकम्मे जीव होते हैं, जिससे उनका कोई स्वार्थ नहीं सधता, आजकल हर संस्था सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक पोल्ट्री-फार्म के नाम पर सोने के अंडे देने वाली मुर्गियों का एक खासा कलेक्शन करना चाहती है, बस ......"[2] यहाँ पर हम शिक्षा जगत में भाई-भतीजावाद की घिनौनी हरकत को हृदयंगम कर सकते हैं और साथ ही उसके प्रभाव शिक्षा को किस दलदल में झोंकता है उससे भी

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 145
[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 69

अवगत होते हैं। नंद भारद्वाज कहते हैं - "शिक्षा के समग्र विकास से न केवल देश में व्याप्त तनावपूर्ण स्थिति दूर होगी, अपितु हमारी सांस्कृतिक विरासत सुरक्षित रहेगी, हमारा सांस्कृतिक विकास होगा, हमारे संवैधानिक लक्ष्य पूरे होंगे और हमारी सार्वभौम मानवीय दृष्टि पुष्ट होगी।"[1] लेकिन जब मैं इन उपन्यासां को पढ़ती हूँ, तब मन में यह सवाल उठता है कि अंतिम दशक हो या वर्तमान समय, जिस प्रकार पक्षपात, भाई भतीजावाद तथा जातिवाद को शिक्षा क्षेत्र में बढ़ावा मिल रहा है, इस स्थिति में हम हमारे सांस्कृतिक विरासत को किस प्रकार सुरक्षित रख पाएंगे? जिस प्रकार शिक्षा का व्यवसायीकरण हो रहा है, आज प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा पर्यन्त का मुख्य उद्देश्य केवल ग्रांट तथा डोनेशन हथियाना रह गया है जिससे केवल व्यक्तिगत विकास ही हो पाये। और इस व्यक्तिगत विकास के लिए लोग कुछ भी करने के लिए तैयार रहते हैं। येन-केन-प्रकारेण पैसे ऐंठना शिक्षा प्रशासकों के मुख्य उद्देश्य बन गये हैं। खासकर इसके लिए राजनैतिक हथकंडे अपनाये जाने लगे हैं क्योंकि यह स्वयं को समाज का रखवाला मानते हैं और अपने रूतवे पर उन्हें असीम गर्व तथा भरोसा होता है। 'दीक्षांत' उपन्यास के पात्र राजदान जो कॉलेज के प्रिंसिपल हैं वे कहते हैं - "तुम्हें मालूम है न, दो साल पहले उस अकाउंट वाले घपले की वजह से ग्रांट आधी कर दी गयी थी। अब इस बार मिड टर्म के बाद आये नये एम.एल.ए. ने बड़े दोस्ताने ढंग से चेयरमैन को कृतार्थ किया है। सारे कागजात दुरूस्त करवा देने का पूरा आश्वासन। रूकी हुई ग्रांट की भगीरथ धारा फिर से विद्यालय को आप्लावित करेगी। शर्त सिर्फ एक बेहद छोटी सी अभी-अभी एम.ए. करके आये उनके भांजे को फिलहाल कॉलेज में व्याख्याता का कार्यभार सौंप दिया जाए।"[2] इस कथन से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि हमारी शिक्षा व्यवस्था किस प्रकार जर्जर हो चुकी है। उपभोक्तावाद के उद्भावन अंतिम दशक की देन है अत: भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी इससे भारी रूप से प्रभावित होना स्वाभाविक है। जैसे-तैसे अर्थ अर्जन करना और अपना स्वार्थ साधना ही अंतिम दशक में लक्ष्य बन गया था। अत: स्वयं शिक्षक जिनका धर्म है कि पूर्वाग्रह से मुक्त होकर निरपेक्ष रहकर शिक्षादान करें वे खुद ही पक्षपात को प्रश्रय देने लगे थे। एक छात्र शर्मा सर से कहता है - "पढ़ाई करने, न करने का कोई फायदा नहीं, जो-जो

---

[1] संस्कृति, जनसंचार और बाजार - नंद भारद्वाज, पृ.सं. 34

[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 91

लड़के सर से ट्यूशन लेते हैं, उन्हें बिना पढ़े भी अच्छे नंबर मिल जाते हैं ....और फर्स्ट तो उनसे ट्यूशन लेने वाले ही आएंगे।"[1] स्वयं कॉलेज के प्रिंसिपल पक्षपात कर रहे थे। जो विद्यार्थी उनसे ट्यूशन लेते हैं, वे उन्हें अच्छे नंबर देते थे और बाकियों को कम। एक विद्यार्थी विनय जो एक मेधावी छात्र है, प्रिंसिपल उसका नंबर काट देते थे और देवेश जो उनसे ट्यूशन लेता था उसे ज्यादा नंबर देते थे। इससे जब विनय रूआंसा हो आया तब उससे अन्य विद्यार्थी बोलते हैं - "अपनी और देवेश की कॉपी अगल-बगल रखकर प्रिंसिपल से पूछ न! मैं तो यही सोचकर आया था कि आप से कहूँगा। देवेश को ज्यादा नंबर दें तो भी मुझे शिकायत नहीं लेकिन मेरे नंबर काटते क्यों हैं? गणित और अंग्रेजी वाले सर इतना खुला पक्षपात क्यों करते हैं ....., विनय की आँखें एकदम डबडबा आयी जिन्हें उसने जल्दी से शर्ट की बांहों से पोंछ डाला .....।"[2] इससे हम शिक्षा के भविष्य के बारे में सोच सकते हैं और किस प्रकार यह हमारे समाज को दिशा दिखलाएगा यह भी विचारणीय है।

3.3.6 शिक्षा जगत में जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता

अंतिम दशक में सूचना प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण तथा पाश्चात्यकरण में वशीभूत होकर स्वयं को आधुनिक मानने लगे थे और पारम्परिक जीवन मूल्यों को पीछे ढकेलते जा रहे थे। मगर जहाँ तक मैं समझती हूँ यह आधुनिकीकरण मात्र एक ढोंग था। और ऐसा लगता है जहाँ तक व्यक्तिगत स्वार्थ हासिल करने की बात होती है तब आधुनिकीकरण का आसरा लिया जाता है, अन्यथा मन से कर्म से लोगों में तथा समाज में जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता जैसी व्याधि कूट-कूट कर भरी हुई है। बल्कि यूँ कहा जा सकता है कि अंतिम दशक में इन सबों का राजनीतिकरण कर दिया गया था जिससे स्थिति पहले से भी बदतर होने लगी थी। राष्ट्रीय एकता में फूट पड़ने लगी थी, परन्तु सबसे दु:खद बात यह है कि जिस शिक्षा पर समाज को बहुत भरोसा था कि वह इस फूट को तथा इस दरार को मिटाकर राष्ट्रीय एकता का स्थापन करेगा वह इसमें असफल रहा। वहाँ पर भी जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता सर चढ़कर बोलने लगा था। और आज भी वही स्थिति बनी हुई है। इसका कारण बुद्धिजीवियों ने विदेशी शिक्षा तथा शिक्षा के पाश्चात्यकरण को मानते हैं। शिक्षा का पाश्चात्यकरण हमेशा से यही चाहा कि

[1] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 39

[2] दीक्षांत - सूर्यबाला, पृ.सं. 39

राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचाये। पर हम आधुनिकता के होड़ में इसे समझने में असफल रहे और दरार बढ़ती गई। शिक्षा का असल उद्देश्य केवल धन प्राप्ति तथा व्यक्तिगत विकास तक सीमित रह गया है। सत्येन्द्र त्रिपाठी का कहना है - "शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता में अपना योगदान भी होना चाहिए। राष्ट्रीय एकता का संबंध हमारे सामाजिक व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोण से है। जिसके स्वस्थ विकास में हमारे विश्वविद्यालय सर्वथा असफल रहे हैं। उच्च शिक्षा के विदेशी प्रतिमान के कारण हमारे शिक्षार्थी भारत के वृहतर वर्ग से सामंजस्य न बैठाकर स्वयं अपना ही एक विशिष्ट बंद वर्ग बना लेते हैं।"[1] फलस्वरूप शिक्षार्थी भारतीय जीवन मूल्य तथा राष्ट्रीय एकता को समझ नहीं पाते हैं और न समझने के लिए इच्छुक होते हैं। इस प्रकार शिक्षा जगत में जातिवाद का भी जड़ मजबूत है। वहाँ पर भी यह घिनौनी राजनीति चलती है फलत: सामाजिक विसंगति की जो खाई है वह दिन-ब-दिन बढ़ती चली जा रही है। समय-समय पर हमारे साहित्यकार हमें अपनी लेखनी के माध्यम से इन सबके प्रति जागरूक करने का प्रयास करते रहते हैं। मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यास 'चाक' में शिक्षा जगत में व्याप्त घिनौने जातिवाद का रूप उजागर करती है। 'चाक' उपन्यास में लेखिका ने अलीगढ़ जिले के एक गाँव अतरपुर की कहानी को कथानक के रूप में लिया है जहाँ पर तमाम विसंगतियों का पर्दाफाश हुआ है और सबसे चिंताजनक विषय यह है कि शिक्षा जगत या शिक्षा के प्रति लोगों का जो रवैया है। यहाँ के स्कूल में शिक्षक को जातिवाद का शिकार होना पड़ता है। स्कूल एक सरकारी संगठन होने के बावजूद गाँव के लोग उसमें हस्तक्षेप करते हैं। बल्कि ऐसा करने में अतयुक्ति नहीं है कि स्कूल राजनीति का एक अड्डा बन गया था। जहाँ पर जातिवाद, छुआछूत के नाम पर शिक्षकों को परेशान किया जाता है और उन्हें अपने हिसाब से कार्य करने नहीं दिया जा रहा है। बार-बार उन्हें उनकी नीच जाति की दुहाई देकर अपमानित किया जाता है। और यहाँ तक कि उनका स्कूल से तबादला भी कर दिया जाता था। अतरपुर गाँव के पहले अध्यापक नेंकसेराम का भी यही हाल हुआ था। सारंग कहती है - "तो फत्ते सिंह ने नेंकसेराम का बिस्तर बँधवा ही दिया। छोटी जाति होकर अड़-जिद करता है, कभी-कभी धान सिंह का कहना नहीं मानता। हुकुमा को उल्टी-सीधी तो नहीं सुनाता, पर खा जाने वाली निगाहों से

[1] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 472

देखता है। हाजिरीवाला रजिस्टर छिपा देता है। बताओ फिर थान सिंह की गैर हाजिरी में उसकी दस्तखत कैसे करे हुकुमा?"[1] नेंकसेराम छोटी जाति के होने के कारण उन्हें न छात्र और न ही गाँव वाले कोई इज्जत देते थे। नेंकसेराम ईमानदार होने के बावजूद उन्हें हर तरह से दु:ख सहना पड़ता था उनकी हालात के बारे में सारंग कहती है - "जिसकी औकात इतनी कि जाति से खटिक, इज्जत इतनी कि लड़के-बच्चे उसे अध्यापक नहीं, अपने साथी सा मानते थे और चिढ़ा-बिराकर भागते थे - नेंकसे खटिक। तैने घर-घर माँगी भीख। फिर भी देता हमको सीख ....."[2] और इस जातिवाद को बढ़ावा देने के लिए सरकार का बहुत बड़ा हाथ है। जब देश का शासन तंत्र इस घिनौना कार्य को हवा देने लगेंगे तब नेंकसेराम जैसा पढ़ा-लिखा अध्यापक भी जातिवाद की मार से लहूलुहान होने से कैसे बच पाएंगे? ऐसा नहीं है कि अंतिम दशक में गाँव में कोई सुधार या विकास नहीं हुआ था, बल्कि तब गाँव का भी शहरीकरण होने लगा था। गाँव के लोग भी पाश्चात्यकरण से प्रभावित हो रहे थे। परन्तु जब जाति तथा सम्प्रदाय की बात आती है तब अपने को पुरातनपंथी कहने लगते हैं। और तब सत्ताधीन व्यक्ति हिंसक होने में कुंठाबोध नहीं करते हैं। नेंकसेराम का तबादला इसी जातिवाद के चलते कर दिया जाता है, मगर कारण दूसरा दिया जाता है। सारंग जब अपने पति रंजीत से नेंकसेराम की खता पूछती है तब रंजीत कहता है - "खता होती तो खता बताए कोई। साली सरकार भी अंधी है, मास्टरों के सिर के बाल प्रधानों की मुट्ठी में पकड़ा दिए हैं। वे मनमानी गढ़ लेते हैं। स्कूल के कल्याण के लिए तबादले होते हैं? ज्यादातर प्रधान अपनी हुकुम उदूली से खफा होकर दरख्वास्त ठाँस आते हैं सरकारी दफ्तर में। आरोप है कि अफीम खाकर आता है स्कूल में।"[3] इस कथन से हमें ज्ञात होता है कि शिक्षा जगत भी जातिवाद से मुक्त नहीं है और खुद सरकार इसे बढ़ावा दे रही है। कितने ही ऐसे नेंकसेराम आये दिन इस कुत्सित व्यवस्था से लहूलुहान हो रहे हैं। नेंकसेराम के बाद भी अतरपुर गाँव में जो अध्यापक आते हैं वह भी इसका शिकार होते हैं क्योंकि संयोग से वह भी छोटी जाति के होते हैं। स्कूल में विद्यार्थी भी शिक्षक को जाति से पहचानते हैं इससे और दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है? शेर अली जो उस स्कूल

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 121

[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 122

[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 122

का छात्र है कहता है - "नए मास्साब को सुनाकर हुकमा कह रहा था पहला मास्टर खटीक था, यह कुम्हार आ गया। हो गया कल्याण।"[1] जो नये शिक्षक श्रीधर आये उन्हें भी जातिवाद की दुहाई देकर बहुत परेशान किया गया। दु:ख की बात यह है कि जब कोई छोटी जाति का शिक्षक न्याय के लिए लड़ता है ईमानदारी से तब उसे जातिवाद के आधार पर ही मात दिया जाता है। क्योंकि सत्ता पर जो बैठता है वह भ्रष्ट होता है। अत: छोटी जाति का कोई उसकी सत्ता को ललकारने लगता है तब उससे यह बर्दाश्त नहीं होता है और वह उसके भूत-भविष्य के बारे में पता लगाता है और अगर वह व्यक्ति नीच कुल का होता है तब सत्ताधीन के लिए यह एक बहुत बड़ा औजार होता है उसे परास्त करने के लिए। श्रीधर को भी यह सब सहना पड़ा था। विद्या ग्रहण तथा प्रदान के पूरे कार्यकाल में उसे बार-बार यह जताया जाता है कि वह नीच जाति का है और फिर उसे बदनाम करने के हर हथकंडे अपनाये जाते हैं। शिक्षा जगत के बड़े अफसर अपनी भ्रष्टचारिता को छुपाने के लिए श्रीधर को जाति के आधार पर नीचा दिखाते हैं। श्रीधर जब स्कूलों में हो रहे अन्याय के विरोध में लड़ते हैं तब उन्हें दबाया जाता है। श्रीधर कहते हैं - "पास-कराई की रकम बढ़ती चली जा रही है, गरीब और छोटी जाति के बालकों को इसीलिए फेल किया जाता है।"[2] शिक्षा व्यवस्था में इस प्रकार जाति के आधार पर शोषण हमेशा समाज में विद्यमान रहा है। मगर अंतिम दशक में इसे राजनैतिक बल मिल जाने के कारण स्थिति दर्दनाक बन गई है। अध्यापक श्रीधर भी इसका शिकार हमेशा से होते आ रहे हैं। वे कहते हैं - "विद्या की पोटली में एक गाँठ ठोस पड़ी रह गई - हीनता। कोई पूछता, तुम कौन? कहाँ से?

श्रीप्रसाद वार्ष्णेय का बेटा हूँ।

हा हा हा हा! तो फिर वार्ष्णेय क्यों नहीं लिखा।

प्रजापतियों को तो दलितों में ....अच्छा-अच्छा,

नौकरी मिलने की सहूलियत!

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 123

[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 168

उस अज्ञानी का अज्ञान सुधारते हुए कहते श्रीधर, श्रीमानजी, कुम्हारों को सरकार ने अनुसूचित जाति में शुमार नहीं किया।"[1] कहा जाता है कि शिक्षा सभी को समान दृष्टि से देखती है और बच्चों में राष्ट्रीय एकता को उजागर करती है ताकि समाज में हर प्रकार की असमानता को मिटाया जा सके। मगर बीसवीं सदी में यह केवल किताबी बात लगने लगी थी।

अत: इस संदर्भ में सत्येनद्र त्रिपाठी का यह कथन सार्थक लगता है कि - "किसी भी शिक्षण संस्था में भावात्मक एकता नहीं है। जातिवाद, भाषावाद, प्रदेशवाद तथा सम्प्रदायवाद का शिविर प्रत्येक शिक्षण संस्था में पड़ा हुआ है।"[2] महानगरों के विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों में भी जातिवाद के कारण अनेक विसंगति उत्पन्न हो रही हैं। स्वार्थ हासिल करने के लिए शिक्षा व्यवस्था के शिखर पुरुष कहे जाने वाले अध्यापक भी इस नीच हथकंडे को अपनाने में पश्चाताप नहीं करते हैं। चाहे उनमें ज्ञान हो या न हो मगर अपने उच्च जाति के अहं के कारण अपने को सर्वदा श्रेष्ठ मानते हैं। 'शिखर पुरुष' उपन्यास में इस प्रकार के अध्यापकों के बारे में वर्णन किया गया है। अध्यापक डॉ. मिसिर जी ऐसा ही अध्यापक हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि - "वैसे भी डॉ. मिसिर ब्राह्मणवाद, तिकड़मबाजी और दबाव के बल पर गाँधी नगर विद्यापीठ में विभागाध्यक्ष बनकर प्रतिष्ठित हो गये थे।"[3] डॉ. मिसिर के व्यवहार से भी ब्राह्मणवाद की बू आ रही थी। अपने शिष्यों का भी वे अत्यंत सूक्ष्म और चालाकी से शोषण करते थे मगर बेचारे छात्र इन सबों से अज्ञात थे या यह भी कहा जा सकता है कि इनके तलवे चाटने के अलावा दूसरा कोई चारा ही नहीं था क्योंकि ये सब सत्ताधारी हैं। अध्यापक मिसिर जी अपने शिष्य रामजनक का जातिवाद के आधार पर शोषण कर रहे थे, मगर रामजनक इसे नहीं समझ पाया था और वह इसे बस डॉ. मिसिर का उपकार का ऋण समझकर निष्ठा से निभा रहा था। रामजनक के बारे में कहा जाता है - "वे डॉ. मिसिर के लिए टॉयलेट में लोटा रखने से लेकर सोने से पहले उनके पैर दबाने तक का काम पूरी निष्ठा से करते थे।"[4] परन्तु वास्तव में यह गुरू-शिष्य का सम्पर्क नहीं होता है। यहाँ पर ब्राह्मणवाद का वर्चस्व नजर आता है। अत: दु:ख की बात यह है कि

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 170
[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 473
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 55
[4] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 55

शिक्षा जगत में जहाँ छात्रों में प्रेम, सहानुभूति, एकता जैसे गुण विकसित करना अध्यापकों का कर्तव्य है वे लोग ही जातिवाद, छुआछूत जैसी बीमारी से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

जातिवाद की तरह साम्प्रदायिकता भी शिक्षा जगत में अपनी जड़ मजबूत किए हुए हैं। सत्येयन्द्र त्रिपाठी का कहना है - "प्राचीन काल में धार्मिक अलगाव की विशेषता जहाँ केवल धार्मिक कार्यों तथा जीवन तक ही सीमित थी, वहीं आज साम्प्रदायिकता जीवन के हर क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुकी है।"[1] अंतिम दशक में भी यह स्थिति शुरू हो गई थी। साम्प्रदायिकता को एक राजनैतिक कारोबार कहा जा सकता है। खास करके बीसवीं शताब्दी में साम्प्रदायिकता को ढाल बनाकर देश में दंगे करके वोट हथियाये जाते थे। सत्येन्द्र त्रिपाठी कहते हैं - "विभिन्न समुदायों की साम्प्रदायिकता में कोई विशेष अंतर नहीं है। साम्प्रदायिकता का प्रमुख उद्देश्य समाजवादी क्रांति या परिवर्तन को रोकना है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख आदि सभी लोग इस प्रकार के परिवर्तनों में अपना अहित सोचकर ही साम्प्रदायिकता को अपनाते हैं।"[2] देखा जाए तो स्वतंत्रता के बाद साम्प्रदायिक तनावों में बढ़ोत्तरी हुई है, मगर दिन-ब-दिन यह स्थिति विकट होती चली जा रही है। जनसंख्या में वृद्धि तथा राष्ट्रीय एकता में कमी के फलस्वरूप विभिन्न समुदायों में संतुलन नहीं बन पा रहा है तथा बहुसंख्यक समुदाय एवं अल्पसंख्यक समुदाय के बीच हिंसा, तनाव की स्थिति पैदा होती है। दोनों समुदायों के बीच विश्वास तथा सद्भावना लोप हो जाता है। साम्प्रदायिक दंगा इन परिस्थितियों का ही नतीजा है। सत्येन्द्र त्रिपाठी का इस संदर्भ में कहना है - "अब दंगे धर्मों की उच्चता या नीचता के लिए ही नहीं होते, अपितु एक समुदाय द्वारा दूसरे की देश भक्ति पर अविश्वास के कारण होते हैं। प्राय: बहुसंख्यकों के अधिकांश लोग यह विश्वास कर बैठते हैं कि यदि वे आक्रामक रूख नहीं अपनाते तो अल्पसंख्यक लोग उन्हें अपने आक्रमण का शिकार बना लेंगे।"[3] अत: उपरोक्त कथन के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि बीसवीं शताब्दी में भी यही कारण काफी था विभिन्न क्षेत्र में साम्प्रदायिकता जड़ मजबूत होने के लिए। शिक्षा क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह पाया है। परन्तु दु:खद बात यह है कि सदियों से शिक्षा से यह उम्मीद की जाती है कि

---

[1] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 465
[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 467
[3] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 468

वह समाज में एकता स्थापित करे तथा सभी धर्म, जाति, पूर्वाग्रह से ऊपर उठकर लोगों में या देश के भविष्य में साम्प्रदायिक सद्भावना भरे एवं राष्ट्रीय एकता की भावना भी उनमें जागृत करे। परन्तु यह कार्य संपन्न करने में हमारी शिक्षा असफल है। साम्प्रदायिकता की जड़ जो हमारे मन के अंदर घर कर गयी है उससे मुक्त होना शिक्षक तथा शिक्षार्थी के लिए भी कष्टप्रद है। अत: इसका प्रभाव हमें शिक्षा जगत में अनेक बार देखने को मिलता है, जो समाज पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। शिक्षा जगत की इस साम्प्रदायिकता का चित्रण हमारे साहित्य में झलकता है। गीतांजलि श्री के उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में शिक्षा जगत में व्याप्त साम्प्रदायिकता का विकट तथा असली रूप का सार्थक चित्रण हुआ है। शिक्षा जगत में जिस प्रकार शिक्षक तथा विद्यार्थी इस रोग से ग्रसित हैं और इसका समाज पर, शिक्षा पर जिस प्रकार नकारात्मक प्रभाव पड़ता है इसका जो मार्मिक चित्रण गीतांजलि श्री ने किया है शायद ही किसी दूसरे उपन्यासकार ने किया है। अध्यापक हनीफ जैदी तथा अध्यापक शरद जिस विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं वहाँ पर भयंकर रूप से साम्प्रदायिकता घर कर गयी है। अध्यापक और विद्यार्थी में हिन्दू-मुसलमान भेदभाव भर गया है। समाज में जो अवस्था है वह विश्वविद्यालय तक भी पहुँच जाती है। और पूर्वाग्रह तथा रूढ़ियों से ग्रस्त ये पढ़े-लिखे कहे जाने वाले लोग शिक्षा जगत को एवं शिक्षा के उद्देश्य को पथभ्रष्ट करने में पीछे नहीं हटते हैं। डॉ. हनीफ एक विख्यात अध्यापक होने के बावजूद साम्प्रदायिकता का शिकार होते हैं। अल्पसंख्यक वर्ग के अंतर्गत होने के कारण उन्हें हिन्दुओं के कोप का शिकार होना पड़ा है। छात्र भी इनके खिलाफ हो जाते हैं। धार्मिक भावना को लेकर जो गलतफहमी समाज में व्याप्त है उसे शिक्षा भी दूर नहीं कर पाती है और विद्यार्थियों के मन में यह विकट रूप धारण कर लिया है और इसे वे व्यवहार में प्रयोग करते हैं। एक छात्र बहस करता है - "कश्मीर में देखिए, क्या हश्र हो रहा है? एक खालिस बाल ठाकरे के अंदाज में बोला। हम यहाँ सेक्युलरिज्म, सेक्युलरिज्म की दुहाई दे रहे हैं, वहाँ कितनी निर्ममता से औरत-बच्चों, किसी को भी उड़ाया जा रहा है। साँप पाल रहे हैं हम ....."[1] यह कथन एक विश्वविद्यालय का छात्र का है जिसके मन में साम्प्रदायिक भावना घर कर गयी है। इस कथन से अवगत होने के पश्चात सत्येन्द्र त्रिपाठी के

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 135

इस कथन में वास्तविकता परिलक्षित होती है कि - "आज की शिक्षा जब जातीयता तथा साम्प्रदायिकता की भावना को प्रोत्साहन देती है तो राष्ट्रीय एकता की कल्पना इन विश्वविद्यालयों से करना दुराशा मात्र है।"[1] डॉ. हनीफ के लिए छात्र के मन में घृणा भाव भरा हुआ था, जिसे डॉ. हनीफ दिल से निरपेक्ष रूप से चाहकर भी मिटा नहीं पाये। राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए जो सराहनीय कार्य डॉ. हनीफ ने करना चाहा, उन्हें देशद्रोही करार दे दिया गया। विभागाध्यक्ष डॉ. नन्दन के साथ अन्य अध्यापक भी इस साम्प्रदायिक कट्टरता से ग्रस्त थे। हनीफ को विभाग का हेड इसलिए नहीं बनने दिया जाता है क्योंकि वे एक मुसलमान हैं। जब उनकी बारी हेड बनने की आती है तब अन्य टीचर इसे टालने लगे। वे लोग भी नहीं चाहते हैं कि एक मुसलमान हेड बने और नये कानून जारी करे। अत: अन्य टीचर शरद के हनीफ के हेड बनने के लिए इच्छा प्रकाश करने पर बोल उठे - "कि एक दो बरस के लिए नये कानून न लागू हों, जो बागडोर संभाले हैं, वही सबसे बेहतर संभाले रख सकता है, तब शरद डर गया।"[2] वास्तव में हमारी शिक्षा जगत की यही सच्चाई है। परम्परा से चली आ रही धार्मिक कट्टरता के कारण हम कोई भी फैसला निरपेक्ष एवं दृढ़ता तथा नि:स्वार्थ भाव से नहीं ले पाते हैं। कोई व्यक्ति कितना भी शिक्षित क्यों न हो, अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए ही कार्य करता है। सत्येन्द्र त्रिपाठी सही कहते हैं - "वर्तमान परिस्थितियों में लोगों का चरित्र इतना गिर चुका है कि हम धार्मिक अथवा व्यक्तिगत लाभों की तुलना में राष्ट्रीय हित की इतनी अधिक उपेक्षा करते हैं कि छोटे से छोटे अवसर से लाभ उठाकर अपनी जेब भारी कर लेना चाहते हैं, भले ही हमारे इस कार्य से जनसाधारण को कितना ही कष्ट क्यों न सहना पड़े।"[3] विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापकों को यह लगता था कि हनीफ एक मुसलमान है। बाहर जो दंगे छिड़े हैं कहीं न कहीं हनीफ उसमें शामिल है। यहाँ पर हनीफ को इंसान के रूप में नहीं केवल मुसलमान के रूप में देखा जाता है। भले ही ये अध्यापक लोग कितने भी कहें कि हमारे मन में साम्प्रदायिक भावना नहीं है, मगर असलियत में सबके मन में यह भावना कूट-कूट कर भरी हुई होती है और इनकी इस नीच भावना के कारण बेचारे डॉ. हनीफ का जीना दूभर हो जाता है।

---

[1] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 472

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 157

[3] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 471

शरद अपने तथा इन टीचरों की मनोदशा के बारे में यह सोचता है कि - "हम सब यही जानते थे कि इन बातों का हमारे शहर में छिड़े हिन्दू-मुसलमान फसाद से कोई मतलब नहीं था कि डिपार्टमेंट में वैसी भावनाएँ कहाँ थीं? मगर हमारे चेहरे म्लान हो गए थे, क्योंकि हमारे हाथ से एक लड़ाई फिसल गई थी। दोनों सूरतों में हमारी हार थी - हनीफ हेड बने या न बने। दोनों सूरतों में हनीफ, हनीफ नहीं, एक 'प्रतीक' रह गया था। और इसका शहर में छिड़े दंगों से मतलब था।"[1] इस कथन से शिक्षा जगत में व्याप्त साम्प्रदायिकता का साफ पर्दाफाश हो रहा है। जबकि हनीफ का उद्देश्य साम्प्रदायिक सद्भावना जागृत करना था हनीफ खुद कहते हैं - "हाँ, मैं मुसलमान हूँ, और मैं वह सब कह रहा हूँ जो शरद ने कहा। मैं सुधार की माँग कर रहा हूँ। मुसलमानों में भी, और में भी, सारे धर्मों के कट्टर तत्वों को बढ़ने देने के खिलाफ बोल रहा हूँ। जिन हिन्दुओं ने और जिन मुसलमानों ने मज़हब को इतना घिनौना बना दिया है, उन दोनों के खिलाफ बोल रहा हूँ ......"[2] परन्तु डॉ. हनीफ को हिंदू-मुसलमान दोनों देशद्रोही मानते थे। सबसे दु:ख तथा चिंताजनक बात यह है कि उनके डिपार्टमेंट में अध्यापकगण भी उन्हें नहीं समझ पा रहे थे। अत: उनपर एक तरह से मानसिक अत्याचार किया जा रहा था। एक अध्यापिका उर्मिला डॉ. हनीफ पर कटाक्ष करते हुए कहती हैं - "हम हिंदुओं के सेंटीमेंट्स को कब तक अनदेखा करेंगे? मुसलमान तो करते ही हैं, हम भी कर रहे हैं। एक मुसलमान बता दीजिए जो हिंदू हित की बात करता हो। और हमारे जग प्रसिद्ध तरक्की पसंद मुसलमान भी अपने ही हितों की माँग करते हैं।"[3] शिक्षा जगत में अगर खुद शिक्षक साम्प्रदायिकता से मुक्त नहीं हुए हैं तब यह विद्यार्थियों को क्या शिक्षा प्रदान करेंगे यह हम खुद ही सोच सकते हैं। और ऐसी हालात में अगर कोई अध्यापक जैसे डॉ. हनीफ जो दिल से साम्प्रदायिक सद्भावना फैलाना चाहते हैं, शिक्षा के सही अर्थ को सफल करना चाहते हैं तब उनके खिलाफ सारा विश्वविद्यालय तथा सारा समाज हो जाता है। सब उनके शत्रु बन जाते हैं। उन्हें साधारण जीवन जीने नहीं दिया जाता है। लोग कहते हैं - "हनीफ ने खुद अपने घमंड और जुझारूपन के कारण इस सरंजाम को आमंत्रण दिया है कि वह क्लास में भी राजनीति करने लगे थे, हिंदू धर्म के

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 157

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 239

[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 243

खिलाफ लेक्चर दे रहे थे, छात्रों को हम उच्च शिक्षा पाने उनके पास भेजते हैं कि दंगा-फसाद सीखने?"[1] राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाने वाले डॉ. हनीफ को देशद्रोही कहा जाता है। विश्वविद्यालय के छात्र सब उनके खिलाफ विद्रोह कर उठते हैं। धार्मिक कट्टरता से पूर्ण यह छात्र हनीफ को पत्थर तक मारने से नहीं चूकते। यहाँ तक कि ये बदमिजाज छात्र उनके घर जाकर उनकी पत्नी श्रुति तथा दद्दु को मारते हैं। विद्यार्थी अपने गुरू को कहते हैं - "कहाँ है वह हरामी का पिल्ला? मोटरबाइक के शोर के ऊपर चिल्लाहट आती है। निकालो उसे बाहर हमारा टीचर कहलाने वाला।"[2] ये अभद्र, असभ्य छात्र डॉ. हनीफ के घर में घुसकर चेतावनी देने लगते हैं कि - "उसे नंगा करके, मुँह काला करके, गधे पर उल्टा बिठाकर पूरे शहर में घुमाएँगे।"[3] इस उपन्यास को पढ़ने के पश्चात सतयेन्द्र त्रिपाठी का यह कथन सच लगता है - 'उधर देश में विभिन्न विघटनकारी तथा साम्प्रदायिक तत्वों को खुलकर खेलने का अवसर मिला है परन्तु हमारे विश्वविद्यालयों, उनके कुलपतियों, अध्यापकों एवं छात्र संघों ने शायद ही उसके विरूद्ध कभी आवाज उठायी हो।"[4] असलियत में स्थिति उल्टी है। साम्प्रदायिकता के विरूद्ध आवाज उठाने के बदले ये लोग राष्ट्रीय एकता के विरूद्ध आवाज उठा रहे हैं। 'चाक' उपन्यास में भी मैत्रेयी पुष्पा ने शिक्षा जगत में व्याप्त इस साम्प्रदायिकता पर दृष्टि डाली है। अतरपुर गाँव के विद्यालय भी जातिवाद तथा सम्प्रदायवाद से त्रस्त थे। एक मुसलमान शिक्षक को अपने बच्चों को पढ़ाने के समय मारने का भी स्वातंत्र्य नहीं है। इसे सम्प्रदायवाद समझने लगते हैं। फिर इसका बदला लेने के लिए गाँव वाले कुछ भी कर गुजरते हैं। श्रीधर कहता है - "मौलवी साहब ने धुंधी के लड़के को मारा था एक बार, बदले में पिटने वाले लड़के के बड़े भाई ने मौलवी साहब की दाढ़ तोड़कर बदला पूरा किया था।"[5] यह है शिक्षा जगत की विसंगतपूर्ण स्थिति और जब तक शिक्षा जगत से यह साम्प्रदायिकता जड़ से नहीं मिटती है तब तक राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भावना बस किताबी बातें जैसे प्रतीत होती रहेंगी।

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 279
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 348
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 349
[4] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 473
[5] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 169

3.3.7 सुरापान तथा विविध विसंगत मनोरंजन

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में शिक्षा जगत में भारी परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक शिक्षा के नाम से शिक्षा के ध्येय को मूल्यहीन बना दिया गया है। सदियों से मूल्यों का संरक्षण का भार शिक्षा पर है, परंतु अंतिम दशक में शिक्षा जगत में मूल्यों का जिस प्रकार विघटन हुआ है उससे केवल निराशा ही प्राप्त हुई है। विजय बहादुर सिंह कहते हैं - "मूल्यों की खोज एवं रचना का काम यों तो समाज करता है पर उसका संरक्षण और विकास समाज के भीतर संस्कृति और विद्या के प्रतीक और प्रतिनिधि बने वे संस्थान किया करते हैं जिन्हें आधुनिक शब्दावली में विद्यालय, विश्वविद्यालय आदि कहा जाता है। यह दु:खद सत्य पहले ही स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि आधुनिक कहे जाने वाले अधिकांश विश्वविद्यालयों की भूमिका और उपस्थिति अब औपचारिक रह गई है।"[1] शिक्षा प्रांगण में विभिन्न मादक द्रव्य का प्रयोग आज आम बात हो गयी है। पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करते हुए हमारे विद्यार्थी आज विभिन्न विसंगत मनोरंजन जैसे म्यूजिकल नाईट, नाच, रेगिंग जैसे अवैध कार्य में नियोजित हो रहे हैं। जिसका समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। विजय बहादुर सिंह भी इस पश्चिमीकरण से क्षोभ प्रकाश करते हैं - "आज जो सबसे कठिन प्रश्न है वह यह है कि हम अपने यहाँ के मेधावी और प्रखर लोगों का मानसिक और सामाजिक पश्चिमीकरण कैसे रोंके?"[2] मनोरंजन के नाम पर अशोभनीय क्रियाकलाप में अध्यापक तथा विद्यार्थी लिप्त हो रहे हैं और बहु अनैतिक कार्य में संलग्न होकर दिशा भ्रष्ट हो रहे हैं और समाज को भी दिशा भ्रष्ट कर रहे हैं।

अंतिम दशक में बाजारवाद के दौर में शिक्षा बिकाऊ होती चली गयी, फलस्वरूप शिक्षा क्षेत्र में विभिन्न विसंगत स्थिति उत्पन्न होने लगी। विजय बहादुर सिंह का मानना है कि - "जैसे-जैसे शिक्षा एक हॉट-केक की तरह बिकाऊ हुई, उसको बेचने और खरीदने वाले लोग भी बेहद चुस्त-दुरुस्त और चालाक होते गये। मजा यह कि वह जगह-जगह एक दुकान के तौर पर सजी और जरूरी माल की तरह बिकती चली गई।"[3]

---

[1] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 120
[2] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 122
[3] आओ खोजें एक गुरू - विजय बहादुर सिंह, पृ.सं. 128

'यातनाघर' उपन्यास में गिरिराज किशोर ने शिक्षा जगत में व्याप्त विभिन्न विसंगत मनोरंजन का पर्दाफाश किया है जो समाज के भविष्य को अंधकार तथा अमानुषता के हवाले करते जा रहे हैं। 'यातनाघर' उपन्यास में एक ऐसे पिता हैं जिन्होंने अपना नाम गुप्त रखते हुए संस्थान के निदेशक को एक पत्र लिखा था जिनकी बेटी उस शिक्षानुष्ठान में एक छात्रा थी। वह व्यक्ति संस्थान के छात्र यूनियन के द्वारा आयोजित हुए 'म्यूजिकल नाइट' में जिस प्रकार की अमानवीय, अशोभनीय तथा अश्लील घटना हुई थी उस पर एक शिकायतनामा निदेशक के पास भेजा था। उन्होंने निदेशक को लिखा था - "कल बाईस सितम्बर को छात्र यूनियन की 'म्यूजिकल नाइट' का आयोजन हुआ, लोगों का कहना है कि हमेशा यह आयोजन पंडाल में किया जाता था, लेकिन इस बार एक छात्रावास के क्वाड्रेंगिल में किया गया। छात्रावास में इस तरह का आयोजन करना परम्परा और नियम दोनों के विरूद्ध है।"[1] इससे पता चलता है कि बड़े-बड़े शिक्षा संस्थान में किस प्रकार असामाजिक कार्य हो रहे हैं। संस्थान के अधिकारी भी इसे अनदेखा कर रहे थे। उस लड़की के पिता ने इस पर क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं - "यह एक ऐसी घटना है जिसके कलंक को धोया नहीं जा सकता। मुझे आश्चर्य है कि इस संस्थान के अधिकारी सोते कैसे रहे। यह म्यूजिकल नाइट कोई साधारण म्यूजिकल नाइट नहीं थी। 'वेस्टर्न म्यूजिक और डांस' की रात थी।"[2] इस संदर्भ में पवन कुमार गुप्ता कहते हैं - "इस 'पढ़े-लिखे' वर्ग में एक धारणा अजीब रूप से घर कर लेती है कि उसके घर-परिवार, स्थानीय समाज, संस्कृति, परिवेश, बोली-भाषा, यहाँ तक कि उसके अपने देश में भी, कुछ जानने-समझने लायक है नहीं; यहाँ तो रूढ़ियों, अंधविश्वासों और पिछड़ेपन के अलावा अब कुछ बचा नहीं है।"[3]

आधुनिक समाज में बड़े-बड़े शिक्षानुष्ठान में ऐसे विसंगत मनोरंजन आम बात बने हुए हैं। अधिक छूट के कारण विद्यार्थी अपने आपे में नहीं रहते। समाज के भविष्य अश्लीलता के चरम पर अवस्थापित हो रहे हैं। पाश्चात्य संगीत, पाश्चात्य नृत्य के ताल में यह छात्र-छात्रा मदमस्त होकर अश्लीलता पर उतर आते हैं। लड़की के पिता ने जो महसूस किया अथवा देखा उससे उन्हें बहुत दु:ख

[1] यातना घर - गिरिराजा किशोर, पृ.सं. 110
[2] यातना घर - गिरिराजा किशोर, पृ.सं. 110
[3] शिक्षा, सभ्यता और आधुनिकता - संपा. पवन कुमार गुप्ता, पृ.सं. 67

पहुँचा। बेटी के पिता होने के बावजूद भी उन्हें उस सांस्कृतिक कार्यक्रम से दूर रखा गया परन्तु वे सब कुछ सुन रहे थे जो कुछ उस रात घटा था। साथ-साथ वे कुछ देखने में असमर्थ इसलिए थे क्योंकि वहाँ की बिजली गुल कर दी गई थी। वे कहते हैं - "कुछ लड़के लड़कियों को जबरदस्ती पकड़ रहे हैं। उस समय मेरा सारा आधुनिक बोध मिट्टी में मिल गया। बेटी का सवाल था ना!"[1] एक बेटी के पिता होने के नाते उस गुमनाम व्यक्ति को यह देखकर धक्का सा लगता है। उन्होंने अपनी आँखों देखी कुछ इस प्रकार बयान किया है - "थोड़ा आगे जाकर मैंने देखा कि उन भागती हुई लड़कियों की एड़ियों पर उन लड़कों ने अपने बूटों से ठोकर मारी और वे गिर गईं। फिर क्या हुआ - अगर आप देख सकते तो देखते - आप लोग तो तब अपने बँगलों में गहरी नींद में सो रहे होंगे। मैं जब तक वहाँ पहुँचा लड़कियों के कपड़े फट चुके थे ....."[2] उस अभागे पिता के पत्र को बल्कि यह बोलकर नजरअंदाज कर दिया गया कि शिक्षा केन्द्र को बदनाम करने के लिए यह पत्र लिखा गया है। इस तरह से इसमें राजनीति का हथकंडा अपनाया गया और उच्च अधिकारी बस जवाब-तलब करते रह गये मगर अपराधियों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की गयी। आज समाज को शिक्षा का यही योगदान है, यह जानकर अंतर्मन वेदना से भर उठता है।

यहाँ पर श्यामाचरण दुबे का कथन सत्य प्रतीत होता है - "जिन देशों ने प्रगति की माप-तौल उपभोग की गणित से की है वे भी अपनी कई सामाजिक प्रवृत्तियों से चिंतत हैं। पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों की संवादहीनता और स्त्री-शक्ति की अभिव्यक्ति से सामाजिक संरचना के संतुलन को गड़बड़ा दिया है। मर्यादाएँ टूट रही हैं; सामाजिक सरोकार क्षीण हो रहा है।"[3] शिखर पुरुष उपन्यास में एक अध्यापक रामजनक दूसरे अध्यापक मिसिर जी की चाटुकारिता तथा चापलूसी करते हैं क्योंकि इससे इनकी स्वार्थ प्राप्ति होती है। अध्यापक के नाम पर कलंक तथा ये मूल्यहीन अध्यापक सुरापान करते हैं। पश्चिमीकरण को यह लोग इस प्रकार बढ़ावा देने लगे हैं कि स्थिति चिंताजनक बन गई है। उपभोक्तावाद के आधार पर नैतिक मूल्य, सामाजिकता, सांस्कृतिकता आदि धराशायी होने लगी है।

---

[1] यातना घर - गिरिराजा किशोर, पृ.सं. 111
[2] यातना घर - गिरिराजा किशोर, पृ.सं. 111
[3] संक्रमण की पीड़ा - श्यामाचरण दुबे, भूमिका से

जीवन यापन प्रणाली में इतना बदलाव आने लगा है कि अध्यापकों का अपने कर्तव्य तथा आदर्श से पथ भ्रष्ट होना भी स्वाभाविक है। अध्यापक रामजनक दूसरे अध्यापक मिसिरजी तथा अन्य अध्यापक सुरापान करने के आदी हैं। मिसिरजी के कहने पर "रामजनक चट से उठे और आलमारी से एक रम की बोतल निकालकर मिसिर जी के आगे रख दी। फिर बोले - डॉक्टर साब, पानी से लेंगे या थम्स अप मँगवाऊँ!"[1] इसका जवाब अध्यापक मिसिर जी देते हैं - "थम्स अप मँगवा लो यार। गांधी नगर में तो पानी से पीते रहते हैं।"[2] यह कथन दो अध्यापकों का है यह पढ़ते हुए धक्का लगना स्वाभाविक है और तो और जब दारू का नशा उन पर चढ़ जाता है तब वे जिस प्रकार व्यवहार करते हैं, किसी अध्यापक से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है। सुरापान करके वे अपना लाज, सरम, नैतिकता, मनुष्यता सब कुछ बिसर जाते हैं। अध्यापक मिसिर जी के इस कथन पर ध्यान दीजिए - "अभी दो ही पैग पीये थे लेकिन मिसिर जी सरूर में आ चुके थे। बोले - "और तुम्हारे शीतांशु का क्या हाल है? इस बार भी एप्लाई कर रहा है क्या?"[3] और रामजनक को टोकते हुए पुन: मिसिर जी कहते हैं - "करेंगे क्या। करेगा कहो। उस साले को इतनी इज्जत देते हो हमारे सामने। नंबर एक का बदतमीज और बदमिजाज है। छोटे-बड़े का ख्याल नहीं रखता। स्साला सरदार जी यूनिवर्सिटी में हमसे भिड़ने चला था। दिमाग ठीक कर दिया हमने ....."[4] एक शिक्षक होकर भी मिसिर जी बार-बार अश्लील शब्दों का प्रयोग करते थे। सुरापान करने के कारण वे अनाप-शनाप बकने लगे थे और शीतांशु जो असलियत में एक ईमानदार एवं आदर्श अध्यापक मिसिर जी उनके विपक्ष में बोलने लगे थे। समय इतना भयंकर आ गया है कि गुरू-शिष्य एक साथ बैठकर सुरापान कर रहे हैं। रामजनक ने भी अध्यापक मिसिर जी के अंडर पी.एचडी. किया है। आज गुरू-शिष्य संबंध प्राचीन दायरे से निकलकर आधुनिकता के नाम पर विसंगत धरातल पर पहुँच गया है। पहले गुरू दक्षिणा के रूप में एकलव्य अपना अंगूठा काट डालता है परन्तु अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते शिष्य गुरू के लिए सुरापान तथा अन्य विसंगत मनोरंजन मुहैया करने लगा है। यह स्थिति अत्यंत पीड़ाजनक है। और जो शिष्य यह नहीं करता है उसे गुरू का

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 56
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 56
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 56
[4] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 57

कोपभाजन होना पड़ता है। ना उसको कहीं नौकरी मिलती है और न ही इज्जत मिलती है। अंतिम दशक में गुरू-शिष्य संबंध की यह घिनौनी परम्परा आगे भी चलती जा रही है। 'शिखर पुरुष' में इसका अत्यंत सार्थक चित्रण हुआ है। रामजनक का छात्र जंग बहादुर भी गुरू का पथ अनुसरण करता है। तभी तो रामजनक का वह सबसे प्रिय छात्र बन पाया था। अंतिम दशक में शिष्य गुरू दक्षिणा में दारू देता है। यह पढ़ते ही मन में खलबली सी मच जाती है। जंग बहादुर नौकरी पाने के लिए मिसिर जी को अपने गुरू रामजनक के सामने ही दारू का बोतल देता है और यह दोनों ही अध्यापकों के लिए गौरवपूर्ण बात होती है। जब मिसिर जी उसको नौकरी दिलाने के लिए आश्वासन देते हैं तब जंग बहादुर गदगद होकर बोलता है- "आपकी बड़ी कृपा होगी। मेरा जीवन बन जायेगा। कहते हुए जंग बहादुर ने अपना ब्रीफकेश खोला और उसमें से सोलन व्हिस्की की दो बोतलें निकालकर मिसिरजी के चरणों के पास रख दीं।"[1] मिसिरजी इसे देखकर अत्यंत खुश होकर लार टपकाते हुए बोले - "तुम सचमुच रामजनक के प्रिय शिष्य बनने लायक हो।"[2] इससे हम स्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं कि हमारा समाज किस ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसा लगता है मानो धीरे-धीरे शिक्षक एवं शिष्य तथा संपूर्ण शिक्षा जगत के अस्तित्व एवं अस्मिता दोनों पर ग्रहण लग जायेगा। 'शिखर पुरुष' उपन्यास में देवेश ठाकुर ने पुरुष अध्यापक का महिला अध्यापक के प्रति खराब व्यवहार का भी पर्दाफाश किया है और महिला अध्यापक के ऊपर फब्तियाँ कसना भी पुरुष अध्यापकों का मनोरंजन का माध्यम था। एक अध्यापिका अपने कॉलेज के प्रिंसिपल शोलापुरकर के अभद्र व्यवहार के बारे में कहती हैं - "मैंने उनकी ओर देखा। वे मुझे अजीब सी नजरों से देख रहे थे। कुछ देर बाद जब मैं बाहर निकलने लगी तो वे भी मेरे पीछे हो लिये। और धीरे से मेरे हिप्स को थपथपा दिया।"[3] अगर इस प्रकार के विसंगत कार्य में शिक्षक लिप्त होंगे तब विद्यार्थियों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? श्यामाचरण दुबे कहते हैं - "ऋषि-मुनि और ज्ञानी व्यक्ति समाज में विशिष्ट स्थान रखते थे, पर उनका सम्मान केवल उनके बुद्धि वैभव के कारण नहीं था।

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 59
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 59
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 64

उनकी चारित्रिक विशेषताओं और आध्यात्मिक बल की ओर भी समाज आकृष्ट होता था।"[1] और हमेशा से इन ऋषि-मुनियों के समकक्ष शिक्षक को समझा इसलिए जाता है कि शिक्षक में भी ज्ञान के साथ-साथ चारित्रिक विशेषताएँ होती है। मगर 'शिखर पुरुष' पढ़ने के बाद मेरा यह भ्रम टूटने लगा है। परिवर्तन के बहाव में समाज ध्वसंमुखी होने लगा है ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं है। शिक्षानुष्ठान के विशिष्ट पद पर आसीन होने के बावजूद भी अध्यापक विभिन्न विसंगत मनोरंजन से मुक्त नहीं हो पाते हैं। उन्हें अपनी पद प्रतिष्ठा का बहुत घमंड होता है और अपनी रूतबा का वे गलत इस्तेमाल करते हैं। एक विश्वविद्यालय का उपकुलपति डॉ. मुलगाँवकर भी ऐसे ही आदमी थे। एक पत्रकार आनंद डॉ. शीतांशु से इनकी नशाखोरी तथा चारित्रिक विसंगति के बारे में कहता है - "बंगले पर पहुँचा तो देखा, मुलगाँवकर साहब नशे में घुत्त पड़े हैं। बगल में एक युवती बैठी है। पास ही तिपाई पर एक जन्मपत्री खुली रखी है और कोई पंडित जी एक कागज के टुकड़े पर नक्षत्रों की लाभ-हानि का हिसाब लगा रहे हैं।"[2] इतने उच्च पद पर होते हुए भी इनमें अनेक चारित्रिक विसंगतियाँ होती हैं। विवाहित होते हुए भी पर स्त्री के साथ संबंध रखते हैं। आनंद का दोस्ता बोलता है - "कोई दिन नहीं जाता जिस दिन पत्नी की डाँट या मार नहीं खाते। फिर भी मिस डिसूजा को नहीं छोड़ पाते। जब भी पत्नी बाहर जाती है, डिसूजा इनके पास, इनके घर में चले जाते हैं।"[3] अत: यह अध्यापक किस प्रकार का मार्गदर्शन युवा पीढ़ी को करेंगे जिनका न कोई आदर्श है न ही नैतिकता! यह आधुनिक युग में शिक्षा जगत की असलियत है। यह भले ही यह शिक्षा जगत की अंदरूनी बात हो मगर देवेश ठाकुर ने अपने लेखन के माध्यम से इसका पर्दाफाश करने का प्रयास किया है। यह हालात किसी एक विश्वविद्यालय या महाविद्यालय की नहीं बहुत से शिक्षानुष्ठान में यही स्थिति है। डॉ. शीतांशु एक अन्य अध्यापक डॉ. संकल्पनाथ के बारे में भी यही स्थिति बयान करते हैं - "पहाड़ी विश्वविद्यालय के डॉ. संकल्पनाथ की भी तो कुछ ऐसी ही कहानी है। शराब-कबाबी तो वह था ही। एक दिन नशे में अपने ही विभाग की एक महिला प्राध्यापक से छेड़खानी करने लगा। महिला ने कुछ बुरा-भला कह दिया तो दाँतो से उसकी

---

[1] समय और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 165
[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 143
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 144

नाक काट ली।"[1] शिक्षा व्यवस्था में जड़ सदृश शिक्षक की अगर जीवन शैली यह है तो संपूर्ण पेड़ की स्थिति के बारे में और वह पेड़ समाज को किस प्रकार छाँव प्रदान करेगा हमें सोचना चाहिए। ऐसे लोग अपने चारित्रिक विसंगतियों के कारण कभी दबते नहीं बल्कि सीना तान कर डटे रहते हैं। और संगोष्ठियों में भी सुरापान करके जाते हैं। डॉ. गुलगाँवकर ऐसे ही एक अध्यापक हैं - "बैठक में डॉ. मुलगाँवकर भी उपस्थित थे। अपने विश्वविद्यालय में समस्त उपेक्षा और अपमान के बाद भी वे राज्य की बीसियों शिक्षण-संस्थाओं के संरक्षक, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और मानद सदस्य थे। राजकीय क्षेत्रों में उनकी पहुँच का लोहा सभी मानते थे। वे अभी भी चढ़ाये हुए थे और उनकी अधखुली आँखें बार-बार महिला सदस्यों की ओर निहार लेती थीं।"[2] शिक्षा व्यवस्था की यह दु:खद स्थिति है कि शिक्षा जिस उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्ध है डॉ. मुलगाँवकर तथा डॉ. संकल्पनाथ जैसे अध्यापक के कारण वह धराशायी हो न जाये!

3.3.8 शिक्षा जगत में यौन शोषण

शिक्षक एवं शिष्य के संपर्क आज पहले जैसे पवित्र नहीं है। शिक्षा का आधुनिकीकरण तथा व्यावसायीकरण तथा समाज में हुए अनेक परिवर्तनों के कारण शिक्षा जगत का मूलभूत लक्ष्य समाप्त हो गया है।

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रभा खेतान ने शिक्षा जगत की विसंगतियों पर दृष्टि डाले हैं। उपन्यास की नायिका प्रिया का अपने कॉलेज के प्रोफेसर मुखर्जी के साथ यौन संबंध स्थापित होता है। प्रो. मुखर्जी प्रिया के प्रति आकर्षित हो जाते हैं और प्रिया भी खुद को उस आकर्षण से बचा नहीं पाती है और समर्पित हो जाती है। वह उस संबंध को स्वीकार करते हुए कहती है - "मेरी आँखें नीची थीं, साँस की गति तेज। उसने कमर में हाथ डालकर अपनी ओर खींचा। मैं लतर-सी झुक आई और फिर जो होना था, वही हुआ। देह ने अपना धर्म निभाया। कानों में उसके शब्द थे शहद से घुलते हुए - "मैं तुमसे प्यार करता हूँ ...केवल तुमसे।"[3] दोनों को इस संबंध में कोई ग्लानि महसूस नहीं हुई। प्रिया खुद कहती

---

[1] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 145

[2] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 165

[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 104

है - "उस दिन न मुझे कोई ग्लानि महसूस हुई और न ही जुगुप्सा। पुरुष का स्पर्श इतना मादक होता है, इतना सुखद!"[1]

यहाँ घृणित स्थिति यह है कि प्रो. मुखर्जी प्रिया को धोखा देते हैं और दूसरी जगह शादी कर लेते हैं। मुखर्जी ने अपनी यौन तृप्ति के लिए प्रिया को फँसाया था। प्रो. मुखर्जी कहते हैं - "मूर्ख लड़की! मैंने कब कहा था कि मैं तुमसे शादी करूँगा? हम दोनों ने मौज की। बस, बात खतम। और सुनो, फिर कभी यहाँ मत आना। मैं अब शादी शुदा इंसान हूँ।"[2] इससे हम अंदाजा लगा सकते हैं कि आज की स्थिति क्या है। गुरू जो सदैव पूजनीय होता है, वह कैसे कुकर्म में लिप्त हुआ दिखाई पड़ता है तथा शिष्या भी योन सुख के लिए एवं उससे विवाह करने की आशा में समर्पित हो जाती है।

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 104

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 105

चतुर्थ अध्याय

परिवार और सामाजिक विसंगतियाँ

4.1 पारिवारिक विघटन

  4.1.1 संयुक्त परिवार का विघटन

4.2 एकल परिवार

4.3 पारिवारिक संबंधों में विसंगतियाँ

  4.3.1 पिता-पुत्र संबंध

  4.3.2 पिता-पुत्री संबंध

  4.3.3 माता-पुत्र संबंध

  4.3.4 माता-पुत्री संबंध

  4.3.5 भाई-भाई संबंध

4.4 वृद्ध समस्या

4.5 परिवार में यौन शोषण

4.6 विवाहेत्तर संबंध

4.7 विवाह विच्छेद के बढ़ते स्तर

4.8 पति और पत्नी के बदलते प्रतिमान

चतुर्थ अध्याय

परिवार और सामाजिक विसंगतियाँ

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में आधुनिकता के मोह में अनेक उपलब्धियाँ हमें प्राप्त हुई हैं यह कुछ हद तक सत्य तो है मगर इसके अलावा जो अप्रिय सत्य है वह यह कि हम अनेक स्तर पर विघटित हुए हैं। या ऐसा कहा जा सकता है कि भौतिक सुख-सुविधा प्राप्त करने के लिए हमें अपने नैतिक मूल्य तथा अपने अंतर्मन को बली चढ़ाना पड़ा। मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण संस्था 'परिवार' अंतिम दशक में सबसे अधिक विघटित हो रही है। क्षमा गोस्वामी इस संदर्भ में लिखती हैं - "यूरोप में उन्नीसवीं सदी में, पुन: बीसवीं सदी के आने तक, पूरे विश्व और भारत में औद्योगिक क्रांति और नगरों के विकास और परिप्रेक्ष्य में विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा वैश्वीकरण ने मानवीय संबंधों को उथल-पुथल कर दिया है। इसी का परिणाम है कि मानव जीवन की सबसे महत्वपूर्ण संस्था 'परिवार' भी 'अर्थ' के अधीनस्थ होती गयी। फलस्वरूप 'परिवार' में अनेक परिवर्तन प्रकट हुए।"[1] अत: पारिवारिक संबंधों में बिखराव की स्थिति उत्पन्न हुई। 'अर्थ' संबंधों में तिक्तता भरने के लिए उत्तरदायी है। इस हालात में परिवार में अनेक विसंगतियाँ दृश्यमान होती हैं। जिस 'परिवार' का मूलाधार स्नेह, प्रेम, प्रतिबद्धता, धैर्य, स्वार्थहीनता होते हैं, इन सबका स्थान ईर्ष्या, अधर्म, स्वार्थपरता, घृणा, द्वेष आदि ले लेते हैं। इन समस्त विसंगतियों के कारण परिवार विघटन के कगार पर पहुँचता है।

4.1 पारिवारिक विघटन

परिवार समाज की प्राथमिक संस्थाओं में सबसे महत्वपूर्ण तथा प्राचीन संस्था है। एक संगठन के रूप में परिवार आदिकाल से समाज की आधारशिला बना हुआ है। परिवार में एक छत के नीचे समस्त सदस्य प्रेम तथा आत्मीय संबंध के साथ जीवन निर्वाह करते हैं। जिसमें रक्त संबंध, भौतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक संबंध शामिल हैं। परिवार की परिभाषा देते हुए पाश्चात्य विद्वान ग्रीन ने लिखा

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. vii

है - "परिवार और उसकी संरचना का अर्थ अधिकारों, कर्तव्यों तथा निवास की व्यवस्था के औपचारिक व्यवस्थापन से तथा आयु, लिंग एवं संबंधों की स्थिति को परिभाषित करने से है।"[1]

परिवार की महत्ता को स्वीकार करते हुए हम यह मानते हैं कि बिना परिवार के किसी भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। अत: समाज की प्राथमिक इकाई परिवार है। पाश्चात्य विद्वान बर्गेस तथा लाक ने परिवार को कुछ इस तरह से परिभाषित किया है - "परिवार व्यक्तियों का वह समूह है जो विवाह, रक्त संबंधों तथा अधिग्रहण के संबंधों पर आधारित एक गृहस्थी का निर्माण करता है और इसमें हर सदस्य का एक दूसरे के साथ व्यक्तिगत सम्प्रेषण तथा अंतर्क्रिया होती है और यह अंतर्क्रिया माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहन की सामाजिक क्रियाओं से संपन्न होती है तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण तथा संरक्षण करती है।"[2] इन परिभाषाओं से हमें यह ज्ञात होता है कि परिवार एक सामूहिक संगठन है और यहाँ पर सब एक दूसरे के साथ प्रेम भाव से रहते हैं। लेकिन जब इन संबंधों में तनाव की स्थिति आ जाता है और एक दूसरे के मन में घृणा तथा अविश्वास उत्पन्न हो जाते हैं तब परिवार में विघटन की स्थिति पैदा होती है। और इसी विघटन के कारण ही आज समाज भी विघटित होने लगा है। संयुक्त परिवार की प्रथा आज टूटने लगी है। परिवार में एकमत्य तथा वफादारी कम होने लगे हैं तथा पुराने पारिवारिक संबंध टूटने लगे हैं जिससे परिवार में अलगाव की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। पारिवारिक विघटन को स्पष्ट तथा सरल रूप से समझने के लिए पाश्चात्य विद्वान न्यूमेयर ने कुछ इस तरह से परिभाषित किया है - "पारिवारिक विघटन पूर्ववर्ती संबंधों का नाश, पारिवारिक चेतना का नष्ट होना या अलगाव की प्रवृत्ति का विकास, एकमत्य या निष्ठा का भंग होना है।"[3]

4.1.1 संयुक्त परिवार का विघटन

वर्तमान समय में संयुक्त परिवार का विघटन एक जटिल समस्या है। जब समाज की आधारशिला यानी परिवार में दरार पैदा होने लगे तो समाज का क्या होगा? परिवार की संरचना तथा

---

[1] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 204

[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 205

[3] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 206

प्रकार्य दोनों में ही व्यापक परिवर्तन हुए हैं। औद्योगिक विकास, नागरीकरण, यातायात एवं संचार के साधन का विकास तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति का प्रभाव आदि कई कारणों से परिवार के आंतरिक तथा वाह्य दोनों ही ढाँचों पर परिवर्तन का व्यापक प्रभाव पड़ा है। अत: परिवार में स्वामीभक्ति, सहानुभूमि, परोपकार, सहयोग तथा सद्भाव की विशेषताएँ प्राय: समाप्त हो रही हैं। उसके स्थान पर परिवार में ईर्ष्या, द्वेष, आक्रोश, हिंसा, अहं आदि जागृत हो रहे हैं। फलस्वरूप परिवार के साथ-साथ मानवीय संबंधों में विघटन दिखाई दे रहा है।

परिवार कुशल व्यक्तित्व और उन्नतिशील सामाजिक जीवन का आधार स्तम्भ है। परिवार में ही वह परिवेश मिलता है जिसमें एक व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक, सांस्कृतिक तथा भावात्मक विकास संभव हो पाता है। परिवार से प्राप्त जीवन मूल्यों के साथ ही वह समाज में तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होता है। अत: परिवार के बहुत ही महत्वपूर्ण दायित्व होते हैं। परिवार को सुचारू रूप से कार्यान्वित करने के लिए अर्थ बहुत जरूरी है। ध्यान देने की जरूरत है कि भले ही अर्थ परिवार के लिए जरूरी है मगर धनार्जन ही केवल परिवार का सर्वोपरि कार्य नहीं है। मगर आज समस्त रिश्ते धन के मापदंड पर ही नापे तौले जाने लगे हैं। बीसवीं सदी का समय एक ऐसा ही विसंगतिपूर्ण काल है जहाँ धन ही परिवार में भेद करने में मुख्य भूमिका निर्वाह करता है। इसलिए पारिवारिक विघटन इस सदी में आम बात बन गई है।

गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आंगनों वाला घर' पारिवारिक विघटन पर आधारित एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में तीन पीढ़ी में बिखरते, टूटते परिवार का चित्र प्रस्तुत किया गया है। गोविन्द मिश्र ने बहुत ही सार्थक तथा सजीव रूप में प्रथम पीढ़ी से लेकर तृतीय पीढ़ी तक कैसे एक परिवार का सांस्कृतिक, सामाजिक तथा भावात्मक विघटन हुआ है उसका चित्रण किया है। प्रथम पीढ़ी के जोगेश्वरी, शांतिदेवी, नइकी चाची, तवायफ कमला बाई, राधेलाल, सन्नी तथा मोहन जहाँ भारतीय सांस्कृतिक परंपरा के परिवाहक हैं वहीं दूसरे तथा तीसरी पीढ़ी के रम्मो, बंटू, बिट्टो, छोटू आदि पात्र नई उभरती व्यक्ति केन्द्रित, स्वार्थी, भौतिक सुख-सुविधा में ही जीने की आकांक्षी संस्कृति के शिकार हैं। एक समय था जब उस परिवार में जोगेश्वरी विधवा होते हुए भी सभी को एक सूत्र में

बाँधने में समर्थ थी। "पूरे घर का चूल्हा एक था जिसमें कोई सौ लोगों का तो खाना रोज बनता ही था। बेलने और सेंकने के लिए दो-दौ औरतों की पारी बंधी थी। दूसरे कामों के लिए भी ड्यूटी बँधी हुई थी। कामों के कम-बढ़ होने को लेकर औरतों के थोड़े-बहुत तनाव चलते रहते थे, लेकिन वे बहुत तूल नहीं पकड़ पाते थे। इसलिए भी कि जोगेश्वरी एक कुशल बैंक मैनेजर की तरह औरतों की ड्यूटियाँ बदलती रहती - जो एक हफ्ते रोटी सेंकने के काम पर तो अगले हफ्ते सब्जी काटने पर।"[1]

संयुक्त परिवार जो आज के समय में उपलब्ध होना असंभव है, गोविन्द मिश्र उस संयुक्त परिवार का सुन्दर चित्र उपस्थित करने में सक्षम हुए हैं। एक समय था जब संयुक्त परिवार में पलते बच्चों को अपने माँ-बाप का पता नहीं रहता था और वे बड़े हो जाते थे। "माँ-बाप को अपने बच्चे जरूर मालूम थे लेकिन बच्चों को बड़े होने तक यह पता न चलता कि उनके माँ-बाप कौन हैं।"[2] जिस परिवार में सब एक छत के नीचे प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सेवा भाव के साथ सामाजिक-धार्मिक अवसर, तीज-त्योहार पालन करते हँसते खेलते जीवन निर्वाह करते थे। वही परिवार धीरे-धीरे प्राथमिकता के बदल जाने तथा अनगिनत कारणों से विघटित होने लगे हैं। संबंधों में तिक्तता आने लगी है। अर्थकेन्द्रित समाज में जब परिवार में एक कमाऊ व्यक्ति हो और बाकी सब खाने वाले हों तो ऐसी हालत में परिवार का भरण-पोषण में व्याघात उत्पन्न होता है और वहीं से ही समस्त कलह प्रारंभ हो जाते हैं। जोगेश्वरी के परिवार के साथ भी यही होने लगा था। जोगेश्वरी का देवर सन्नी बिना काम धंधा के घर में पड़ा रहता था। मगर जोगेश्वरी जो घर की मुखिया है, उससे कोई शिकायत सन्नी से नहीं थी मगर घर के बाकी सदस्यों को इससे ऐतराज था। सन्नी से चिढ़कर बाँके कहता है - "मुफ्त का खाता है, पड़ा रहता है। खटता कोई और है, मजा कोई और लूटता है।"[3] अत: परिवार में धीरे-धीरे अनेक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि जो उस संगठन पर चोट पहुँचाते हैं। डॉ. प्रमोद कुमार अग्रवाल लेनिन के संयुक्त परिवार संबंधी सिद्धांत का उद्धरण करते हुए लिखते हैं - "प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 10
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 10
[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 60

अनुसार अर्जन करें एवं आवश्यकता के अनुसार उपभोग करें।"[1] जाहिर है कि जब संयुक्त परिवार में इस सिद्धांत का खंडन हो तब परिवार-जन में मन मालिन्य होने प्रारंभ हो जाते हैं और एक बार फूट पड़ना आरंभ हो जाए तब उस परिवार को विघटन होने से बचाना असंभव होता है। यह मान्य है कि पारिवारिक जीवन में भावना तथा भावनात्मक संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं। अत: परिवार में जो लोग इन भावनात्मक संबंधों से संतुष्ट नहीं होते, वे प्राय: पारिवारिक उत्तरदायित्व से भाग खड़े होते हैं और परिवार से संबंध लगभग तोड़ लेते हैं। सन्नी भी ऐसा ही था। उसे परिवार के उत्तरदायित्व निभाने में जरा भी रुचि नहीं थी। वह बस अपने संगीत में खोया रहता था जिससे बाकी सदस्य उस पर नाराज होते थे। जोगेश्वरी में घर को बाँध के रखने में जो त्याग तथा धर्म भावना थी वह उसके बच्चों में नहीं थी। नतीजा घर बँटवारे के कगार पर आ खड़ा हुआ। ऊपर से बड़े भाई राधे लाल के बीमार पड़ जाने से घर की स्थिति और भी दयनीय बन पड़ी है। बाँके कहता है - "इधर बीमारी का खर्च भी घर उठाए, पता नहीं ये कितना घिसटेंगे, घर इसी में कंगाल हो जाए। कभी बाँके यह भी सोचते कि मुंशी जी के रहते बँटवारा हो जाए तो झगड़ा-झंझट कम होगा।"[2] परिवर्तन के दौड़ में भागते-भागते आज परिवार के समस्त कार्य-व्यवहार और अनुभव, धन अथवा अधिक से अधिक कैरियर तथा रहन-सहन के स्तर की प्रतिद्वंद्विता से जुड़ चुके हैं। बदलती शिक्षा व्यवस्था भी कई हद तक पारिवारिक विघटन के लिए उत्तरदायी हैं। कैरियर बनाने तथा भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए युवा पीढ़ी घर छोड़ के शहर के लिए उन्मुख होते हैं। 'पाँच आँगनों वाला घर' का बड़ा बेटा राधे लाल का बड़ा बेटा मोहन को शहर में नौकरी मिल जाने के कारण वह वहाँ चला जाता है और वहाँ बैठ जाने के बाद छोटा भाई राजन तथा श्याम को पढ़ाई के लिए वहाँ बुला लेता है। परन्तु इस बात से घर की मुखिया जोगेश्वरी को बहुत बड़ा धक्का लगता है - "कैसे सबको खींच-खींच इकट्ठा कर उन्होंने घर बनाया और कैसे उनके सामने ही एक-एक करके सब छोड़े जा रहे हैं। सन्नी गया, राधे गया ....मोहन....अब राजन, श्याम भी। क्या फायदा ऐसी नई पढ़ाई का, कमाई का, जिसके लिए घर छोड़ना पड़े।"[3] बदलते समय में अहं का

---

[1] भारत के विकास की समस्याएँ और समाधान - डॉ. प्रमोद कुमार अग्रवाल, पृ.सं. 50

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 61

[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 79

टकराव भी परिवार विघटन का एक महत्वपूर्ण कारण है। स्त्री जब अपने अस्तित्व को जानने पहचानने लगी और अपने अधिकार की लड़ाई प्रारंभ की तब पुरुष के साथ उसका अहं बार-बार टकराता है। फलस्वरूप दोनों स्वयं को श्रेष्ठ मानने में नहीं हिचकते हैं। अत: विवाह संस्था के अस्तित्व चरमराने प्रारंभ हो गये। परम्परा के समस्त मानदंड टूटने लगे। जहाँ स्त्री-पुरुष को साथ रहकर परिवार बनाना था तब वे लोग अपने अहं के कारण एक दूसरे से कतराने लगे। क्षमा गोस्वामी कहती हैं -"आज के बदलते संदर्भों में व्यक्ति के अंदर 'मैं', 'मेरा' और 'कर्ता' के रूप में अहं के भाव को जिस प्रकार पुष्टि मिल रही है वहाँ पति-पत्नी अथवा परिवार के सदस्यों के मध्य पूरक बने रहने का भाव बोध विकास नहीं पाता।"[1] संयुक्त परिवार में जहाँ 'हम' की भावना दिखाई पड़ती थी अब वह 'हम', 'मैं' में सीमित हो गया है। जहाँ 'प्रेम' और सौहार्द' के सूत्र में सारा परिवार बँधा हुआ था अंतत: उनकी परिणति टूटने में ही घटित होती है। प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में अहं के कारण ही प्रिया और नरेन्द्र के परिवार की टूटन की कहानी बताती हैं।

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक है। अत: सदियों से नारी को घर में दबाके रखा जाने लगा था। मगर शिक्षा तथा सूचना के प्रचार-प्रसार ने स्त्री को अपने अस्तित्व तथा अधिकार से अवगत कराया है और स्त्री घर की चारदीवारी को तोड़कर जब बाहर निकलती है तब पुरुष के अहं को चोट पहुँचना स्वाभाविक है। पति-पत्नी में एकमत्य का अभाव परिलक्षित होता है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया संयुक्त परिवार में पली-बढ़ी स्त्री है जिसे घर की चारदीवारी में दर्दनाक दिन गुजारने पड़े थे और अपने माता तथा भाई की यातना को चुपचाप सहना पड़ा था। विवाह ने उसे और दयनीय स्थिति में डाल दिया था। प्रिया अपने पैरों पर खड़ी होने के लिए चमड़े का व्यवसाय प्रारंभ करती है और कम ही दिनों में सफल होने लगी थी। पर पति नरेन्द्र को यह सहन नहीं हुआ। उसके अहं को भारी चोट पहुँचा। वह कहता है- "मैं, और वह भी तुम्हारे साथ चलूँ? तुम्हारे पीछे-पीछे? तुम्हारे सैंपलों का बक्सा ढोता हुआ? वाह! क्या कहने हैं। हमारी श्रीमती जी के? क्या खाका खींचा है अपने पतिदेव का!"[2] नरेन्द्र

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 45

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 10

हमेशा प्रिया को नीचा दिखाने के लिए तत्पर रहता है- "यह मत भूलो प्रिया कि मैं पुरुष हूँ। इस घर का कर्ता। यहाँ मेरी मर्जी चलेगी; हाँ, सिर्फ मेरी।"[1]

पारिवारिक विघटन में कई कारण सम्मिलित थे। हमारा समाज जब विकास करता चला गया तब बहुत ज्यादा पश्चिम से प्रभावित हुआ और आधुनिकीकरण को सर्वस्व मान लिया और इनसे परिवार भी प्रभावित होने लगा। गोविन्द्र मिश्र इस आधुनिकीकरण तथा औद्योगीकरण से किस प्रकार भारतीय परिवार ठगा गया है उसका चित्रण करते हैं - "औद्योगीकरण के कारण घरेलू उद्योग-धंधे खत्म होते जा रहे हैं। एक सम्मिलित परिवार एक जगह रहकर, घरेलू धंधे से खा-पी रहा था। उसका हर सदस्य अब नौकरी पर आश्रित होता जा रहा है, दूर-दूर बिखर जाएगा, अकेला हो जाएगा। अलगाव बढ़ेगा। कल चचेरे भाइयों में अलग होने की बात थी, आज सगे भाइयों में है। कल कौन जाने बाप-बेटे, माँ-बेटे, पति-पत्नी में ही शुरू हो जाए।"[2] गोविन्द मिश्र के 'पाँच आँगनों वाला घर' के साथ भी यही हुआ। आगे चलकर संपूर्ण संयुक्त परिवार एकल परिवार और पश्चात एकल परिवार भी टूट बिखर गया। मगर समय के चलते इस विघटन के कारण भी बदलते गये। पाँच आँगनों वाला बड़ा घर जो आर्थिक तनाव तथा आर्थिक जरूरतों के कारण टूटा वहीं मोहन तथा राजन के पारिवारिक जीवन में अतिव्यस्तता तथा रागात्मक संबंध ना होने के कारण हुआ। पारिवारिक विघटन तो आधुनिक समाज में साधारण सा बन गया है जिसके लिए कोई भी चिंगारी एक विस्फोट कर डालता है। उपभोक्तावादी इस समय में हर चीज बिकाऊ है, संबंध भी। इस दौर में परिवार में एकमत्य तथा वफादारी न होना भी पारिवारिक टूटन के लिए उत्तरदायी है। मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' भी इसी प्रकार के अनेक पारिवारिक विघटन का चित्र प्रस्तुत करता है। परिवार में पति-पत्नी में जब वफादारी तथा प्रेम समाप्त हो जाता है तब सब एक-दूसरे से भागने लगते हैं। ऐसी हालात में घर बनने के बजाय बिखरने लगते हैं और जिसका प्रभाव बच्चों पर पड़ता है। वे भी उसी रास्ते में चल पड़ते हैं। आगे की पीढ़ी भी इससे प्रभावित होना जाहिर है। असीमा कहती है - "तो असीम और मेरी पैदाइश के बाद बाप ऐसी औरत की

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 12

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 94

तलाश में मसरूफ हो गया, जिसके न सिद्धांत हों, न सीमाएँ।"[1] जिस परिवार में माता-पिता के रिश्ते में एकमत्य तथा वफादारी न हो तो घर टूटने में समय नहीं लगते हैं। असीमा का परिवार भी ऐसे ही टूट गया। जिंदगी नरक के कगार पर आ खड़ी हुई। अपने पिता के प्रति उसके मन में जहर भर गया। ऐसी विसंगतिपूर्ण स्थिति में असीमा अपने पिता के बारे में कहती है - "मुझे मर्दों से नफरत है। एक एक-से-एक बढ़कर हरामी होते हैं। सबसे बड़ा हरामी था मेरा बाप। लम्बा, तगड़ा, खूबसूरत हरामी।"[2] लेकिन यह स्थिति एकतरफा नहीं है। ऐसे कई स्थल पर स्त्री भी अपनी जिद तथा बहुत कुछ पा जाने तथा जीत जाने के मोह से घर परिवार को तोड़ देने से नहीं हिचकती। हमेशा पुरुष ही गलत नहीं ठहरता है बल्कि स्त्री भी अपने अहं को श्रेष्ठ मानती है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रिया भी चाहती तो परिवार को फिर बसा सकती थी। नरेन्द्र की बात मान सकती थी मगर नहीं वह भी अपने अहं पर अड़ी रही - "अतीत को दफना दिया। गैर-जरूरी लड़ाइयों की चुनौतियों को अनदेखा किया। हाँ जीऊँगी, अच्छी तरह जीकर दिखा दूँगी। अपने होने का एहसास ही कितना सुखद लगता है? भविष्य की आधार-भूमि भी मेरा वर्तमान ही होगा।"[3] 'अपने होने' के इस युग में 'मैं' के अलावा अन्य सभी रिश्ते-नाते बेमानी प्रतीत होते हैं। बीसवीं सदी के अंतिम दशक का समय ऐसा है कि हर व्यक्ति अकेलेपन में सुख अनुभव कर रहा है और यह अकेलापन ही पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण है।

अत: परिवार किसी एक का नहीं होता है। यहाँ सभी को एक मन, एक प्राण से अहं को बाहर फेंकते हुए, रागात्मकता स्थापित करते हुए सहिष्णुता, सौहार्द, सामंजस्यता तथा पारिवारिक मूल्यों के साथ जीवन निर्वाह करना है। तब पारिवारिक विघटन से बचा जा सकता है।

4.2 एकल परिवार

जिस परिवार में केवल पति-पत्नी अपनी संतानों के साथ जीवन बसर करते हैं उस परिवार को एकल परिवार कहा जाता है। विरेन्द्र प्रकाश शर्मा एकल परिवार को कुछ इस प्रकार संज्ञापित करते हैं - "अगर परिवार में केवल पति-पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें हों तो उसे केन्द्रीय या नाभिक

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 167
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 165
[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 184

अथवा एकाकी परिवार कहते हैं। इस परिवार में केवल दंपत्ति हो सकते हैं। संतान हो अथवा न हो। संतान विवाह के बाद मूल परिवार से पृथक हो जाते हैं।"[1] एकल परिवार की यह संकल्पना बीसवीं सदी की ही देन है। भारतीय समाज में जहाँ मिल-जुल के दादा-दादी, पिता-माता, चाचा-चाची, भाई-बहन के साथ रहने की परम्परा थी बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में खासकर अंतिम दशक तक आते-आते यह संयुक्त परिवार एकल परिवार में रूपायित हो गया। शिक्षा के प्रसार तथा औद्योगीकरण आदि अनेक आधुनिक कारणों से परिवार विस्थापित होने लगे हैं। क्षमा गोस्वामी कहती हैं - "इस इतिहास क्रम में विकसित नये आर्थिक ढांचे, नगर विकास, भौतिक चेतना, वैश्वीकरण, आधुनिकीकरण और पुन: इन सबके परिप्रेक्ष्य में विकसित शिक्षा के अवसर, व्यक्तिगत विकास और व्यक्तिवादिता के कारण परिवार की सम्मिलित धनार्जन की व्यवस्था पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। फलत: पारिवारिक ढांचे में भी परिवर्तन और विकास के नये आयाम खुलने लगे।"[2]

बीसवीं सदी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते अनेक संयुक्त परिवार एकल परिवार में रूपांतरित हो गये थे। आधुनिकता के कारण लोगों की आकांक्षाओं के पंख लग गये और इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पारिवारिक हितों का गला घोंटा गया। लोग स्वार्थी बनते गये तथा परिवार के सामूहिक हितों के लिए सोचना धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। उच्च शिक्षा तथा नौकरी के सिलसिले में शहर जो लोग गये फिर वहीं बस गये और शहर में ही परिवार जनों से दूर अपना एक परिवार बनाने लगे। धीरे-धीरे यह एक आम बात बनती गयी और संयुक्त परिवार टूट गये। मगर स्वार्थी इंसान के लिए यहीं से ही समस्त विडम्बना शुरू होती है। ऊपरी स्वरूप में भले ही एकल परिवार सुखी तथा संपन्न दीखते हों, पर आंतरिक संरचना में वे अनेक विघटनकारी तथा विसंगतियों से ग्रसित हैं। पहले लोग ये सोचते थे कि अगर संयुक्त परिवार से निकलकर अपना एक छोटा सा घर बना लें तब हमारे आर्थिक विकास में तेजी आएगी फलस्वरूप अनेक भौतिक सुख को आसानी से प्राप्त कर पायेंगे। मगर असल में कुछ और ही हुआ। अब नगरों और महानगरों में एकल परिवार भी अनेक तनावों से ग्रस्त दिखाई पड़ रहे हैं। अब तो एकल परिवार में स्नेह, सौहार्द, दया, धैर्य की स्थिति संदेहजनक है। अंतिम दशक के उपन्यासों में

---

[1] भारतीय सामाजिक संस्थाएँ - विरेन्द्र प्रकाश शर्मा, पृ.सं. 131

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 1

खासकर इन्हीं एकल परिवारों की गाथा का वर्णन हुआ है। लगभग समस्त उपन्यासकारों ने एकल परिवार की विसंगतियों को अल्पाधिक अपने उपन्यासों में उभारने का प्रयास किया है। गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' भी ऐसे ही विघटन से गुजरे हुए परिवारों की कहानी बताता है। जो सच में चिंतनीय है। गोविन्द मिश्र भी पात्र सन्नी के माध्यम से इस कड़वे सच का खुलासा करने का प्रयास करते हैं - "सम्मिलित परिवार में व्यक्ति का विकास रूक जाता है। आपको भी अपने विकास के लिए बाहर निकलना पड़ा। अपनी अलग संपत्ति की चाह हर व्यक्ति में स्वाभाविक है। यह चाह ही प्रगति की प्रेरणा बनती है। स्वतंत्रता चाहिए।"[1] बीसवीं सदी के अंत तक चलते-चलते एकल परिवार एक आम बात बन गई थी। संयुक्त परिवार में पले-बढ़े मोहन, राजन तथा श्याम तीनों भाई न चाहते हुए भी मजबूरन शहर में शिक्षा प्राप्ति के लिए गये और स्वाभाविक रूप से वहीं बस गये। पर समय क्रम में तीनों भाइयों के तीन अलग परिवार बन गये। और तीनों अलग रहने लगे। बाद में इन्हीं सभी के परिवार में भी तनाव तथा मनमुटाव उत्पन्न हुए। मोहन तथा ओमी बहुत प्यार से राजन तथा श्याम को पाल रहे थे मगर राजन की शादी के पश्चात राजन की पत्नी रम्मों ने उन सबसे दूर होने के लिए मंत्रणा की क्योंकि राजन एक अफसर था और रम्मो को लगा कि राजन के पैसों पर और राजन पर सिर्फ उसका ही अधिकार है।

आधुनिक समाज में परिवार का मतलब ही अपनी बीवी तथा बच्चों को समझा जाता है। इस उपन्यास के पात्र सन्नी जो बाद में एक संन्यासी बन गया था वह अपने भतीजे राजन से कहता है- "अरे तुम तो अभी से परिवार का मतलब अपनी बीवी, अपने बच्चों से लगाने लगे।"[2] परन्तु ऐसा सोचने में राजन को कोई शिकायत नहीं थी। उसे भी लगता है कि अब वक्त बदल गया है और एकल परिवार ही आज की सच्चाई है। राजन की बीवी रम्मो जिस प्रकार मोहन, ओमी तथा अन्य संबंधियों से अपने को काटती है उससे राजन भी कहीं-न-कहीं सहमत है। राजन कहता है - "उसकी गलती क्या है, क्या इसे गलती कहा जा सकता है कि वह परिवार का मतलब राजन, वह खुद और अपने बच्चे...बस इन्हीं से लगाती है? वक्त में परिवर्तन हो गया था। पर अब जो पाँच आँगन थे वे थे - राजन, रम्मो, बंटू, बिट्टो

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 93
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 95

और छोटू। अगर रम्मो अपने समय की तरह सोचती है तो क्या गलत करती है। वह जो करती है, राजन की खुशी को सोचकर ही तो करती है।"[1] परन्तु राजन जो संयुक्त परिवार में पला-बढ़ा था वह कभी भी उस एकल परिवार में सुखी नहीं रहता है। पुरातन जीवन मूल्यों को हमेशा ढूँढता रहता था। लेकिन परिवर्तन के बहाव से वह बच नहीं पाता है। "राजन सोचता कि एक बनारस का पाँच आँगनों वाला घर था ....सबको अपने से बाँधे रहता, जो बाहर जाएँ उन्हें अपनी तरफ खींचता रहता। जो लौटकर न भी आ पाते उनके भीतर वापस वहीं पहुँचने की कशिश तो बनी ही रहती। एक राजन का यह घर है, जो बाहर की तरफ फेंकता है सबको! छिटककर इसके बाहर ही जाते हैं लोग, कोई केन्द्र-बिन्दु नहीं जिसकी तरफ लौटने के लिए तकते हों वे।"[2] राजन के परिवार में वह अपनापन, नैतिकता, त्याग नहीं रह जाता है। विकास के नदी में वह सब कुछ बह जाता है जो उसे पाँच आँगनों वाले घर से प्राप्त हुआ था और दु:ख की बात यह है कि उन जीवन मूल्यों को वह अपने बच्चों में भी स्थानांतरित नहीं कर पाया था। फलत: उसका परिवार भी बिखरकर पुन: एकल परिवार बन गया था। राजन के बेटों-बेटियों का अपना परिवार होने लगा था क्योंकि एकल परिवार का यही नियम है। राजन कहता है - "बच्चे.....जिनके लिए हम क्या-क्या नहीं करते, सिर्फ उन्हीं-उन्हीं का सोचते हुए हम अपने आपको सबसे काटकर अलग-थलग कर लेते हैं .....वे ही बड़े होकर आपकी एक बात भी सुनने को तैयार नहीं?"[3] परन्तु राजन के बस में कुछ नहीं था। मनुष्य इसे ही अपनी नियति मानने लगा था। समाज के लिए परिवार के लिए यह एक कटु सत्य था। राजन का परिवार भी बिखर गया। जिस परिवार में राजन, रम्मो अपने बच्चों के साथ रहते थे। बच्चे बड़े होने के बाद एक-एक करके सब उनसे दूर चले जाते हैं। एक बार राजन की पीढ़ी ने अपने पाँच आँगनों वाले घर के साथ किया था वही समय-क्रम में राजन के घर के साथ भी होता है। राजन यह महसूस करते हुए भी इस बदलाव को रोक नहीं पाता है। "तब पाँच आँगनों का घर था ......आज कितने आँगन और कितने घर हो गए - बंटू का एक, उसके लड़के का

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 108
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 205
[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 181

एक.....एक बिट्टो का, एक छोटू का, एक राजन-रम्मो का। इत्तफाक कि पाँच वे भी होते हैं ....पर आँगन कहाँ है, घर तो कहीं है ही नहीं। बहुत-बहुत करके छतें हैं।"[1]

बीसवीं सदी के अंतिम दशक के सभी उपन्यासों के रचना क्षेत्र इसी एकल परिवार में ही विकसित हैं। यहाँ विडम्बना यह होती है कि संयुक्त परिवार में जितने लोग होते हैं उतने एकल परिवार में नहीं होते हैं। परन्तु जीवन शैली में परिवर्तन के कारण वे सभी तनाव, अहं, हताशा जो वहाँ थे अब वे एकल परिवार में दिखाई देने लगते हैं। अत: आज हम अपनों से अपने बच्चों से विरक्त होते हैं। अहं का टकराव भी उन्हीं के साथ होते हैं। इसी एकल परिवार के कारण ही पति-पत्नी के मध्य एक दूसरे कारणों से अतिशीघ्र तनाव उभरते दीखते हैं। एकल परिवार में पारिवारिक गुणात्मकता के वे क्षण, जो पति-पत्नी और बच्चों के साथ सम्मिलित रूप से बिताये जाते हैं, बीसवीं सदी में वह खोया सा प्रतीत होता है। अति सुख की प्राप्ति के लिए लोग इतने व्यस्त रहते हैं कि किसी के पास परिवार में समय नहीं है। झूठ, फरेब, मूल्यहीनता के पीछे भागते भागते पति अपनी पत्नी, पत्नी अपने पति तथा बच्चों से, बच्चे अपने माता-पिता से दूर कटते जाते हैं।

अंतिम दशक के उपन्यास प्रभा खेतान का छिन्नमस्ता में प्रिया की जिंदगी हो या उसका पति नरेन्द्र हो या मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' की नायिका स्मिता हो या असीमा हो सभी एकल परिवार में जूझते, लहूलुहान तथा बिलखते दिखाई पड़ते हैं। एकल परिवार की मूल्यहीनता से सभी कहीं-न-कहीं ग्रस्त हैं। परिवार में माता-पिता तथा भाई-बहनों की अवहेलना तथा प्रेम की कमी के कारण बच्चे स्वयं को अकेला महसूस करते हैं और वही 'अकेलापन' उनके लिए जीवन भर के लिए बेड़ी बन जाता है। छिन्नमस्ता की प्रिया भी इसी का शिकार होती है - "एक कुचला हुआ घायल बचपन, जो खत से कैशोर्य की दहलीज लाँघकर असमय आ गया; और फिर जीने की अंधी जिद लिए हुए निरंतर संघर्षरत एक औरत, जो व्यवस्था से समझौते करना कभी सीख नहीं पाती, जो ईमानदारी शब्द से इतनी ग्रसित है कि चाहकर भी रिश्तों को बनावट और कृत्रिमता को स्वीकार नहीं कर पाती।"[2]
अंतिम दशक में नगर में अवस्थापित एकल परिवारों में कर्मव्यस्तता के नाम पर बच्चों को वह संस्कार

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 214

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 161

नहीं मिल पाते हैं जो उन्हें संयुक्त परिवार में दादा-दादी, नाना-नानी नि:संकोच रूप से प्रदान करते थे। अत: जिस आदर्शों तथा मूल्य का ज्ञान उन्हें प्राप्त होने होते हैं वह उन्हें एकल परिवार में प्राप्त नहीं हो पाते हैं। ऐसी स्थिति में युवा पीढ़ी में एक अलग तरह का मनोभाव विकसित होता है। ऐसा भी देखा जाता है कि आगे चलकर बच्चे असमाजिक भी हो जाते हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया बचपन में अपनी माँ के प्रेम तथा आदर से वंचित रही इसलिए वह बड़ी होकर एक द्वंद्वात्मक जीवन निर्वाह करती है। इसलिए शादी के बाद भी वह अपने पति के साथ भी खुश नहीं रह पाती है। वह कहती है -"न मालूम क्यों शुरू से ही अम्मा को मुझसे चिढ़ थी। जिसे वे मुझ पर आरोपित कर रही थीं। मुझे दाई माँ ने ही पाला-पोसा।"[1]

देखा जाए तो अंतिम दशक के उपन्यास जो मेरे शोध कार्य के अंतर्गत हैं लगभग समस्त उपन्यास में एकल परिवार की विसंगतियों का ही पर्दाफाश हुआ है जिसे हम सामाजिक विसंगति मानते हैं। वे कहीं-न-कहीं व्यक्तिवादी एकल परिवार से ही प्रारंभ हुआ है।

4.3 पारिवारिक संबंध में विसंगतियाँ

भारत में औद्योगीकरण केवल बीसवीं सदी की प्रघटना है। समाज में भारी परिवर्तन का कारण भी यही है। अत: परिवर्तन के इस दौर में नवीनता की ओर उन्मुख होना भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। मगर सदियों से जकड़े हुए परम्परा तथा पुरातनता को पूर्ण रूप से त्याग देना भी संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में पुरातन तथा नवीन के बीच अंतर्द्वंद्व उत्पन्न होती है जिससे सामाजिक मूल्य चरमराने लगते हैं। ऐसा माना जाता है कि परिवार कुशल व्यक्तित्व और उन्नतिशील सामाजिक जीवन का आधार स्तंभ है। क्षमा गोस्वामी कहती हैं - "किसी भी समाज का विश्लेषण यह बतलाता है कि उसके अंदर स्थापित संरचनाएँ परस्पर संबंधित रहकर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। समाज की एक संरचना में परिवर्तन होने का तात्पर्य है कि उसकी अन्य संरचनाओं का सहज ढंग से परिवर्तन की ओर गतिशील हो जाना। इतिहास के क्रम में औद्योगिक विकास के साथ समाज की विभिन्न संरचनाओं में परिवर्तन

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 24

आना स्वाभाविक था।"[1] जाहिर है इस औद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण के कारण परिवार की संरचना में भारी परिवर्तन होने लगे। ब्रिटिश सरकार के सभी हथकंडे भारत के लिए हानिकारक थे अत: औद्योगीकरण हो या आधुनिक शिक्षा हो या नगर व्यवस्था हो विकास के मोह में उनके द्वारा भारतीयों के लिए यह एक षड्यंत्र था। भारत के स्वाधीन होने के पश्चात वे भले ही भारत छोड़कर चले गये परन्तु उनके द्वारा फैलाए जाल में हम आज भी फँसे हुए हैं। इस षड्यंत्र के प्रभाव से समाज की सभी संरचनाएँ खंडित हो रही हैं। परिवार जो सामाजिक जीवन का आधार स्तंभ है, वहाँ उथल-पुथल सा मच गया है। संयुक्त परिवार टूटने लगे हैं। मगर दु:ख की बात यह है कि एकल परिवार भी इस बिखराव से नहीं बच पाया है। सामाजिक परिवर्तन में तीव्रता के कारण मनुष्य के लिए उस परिस्थिति से समायोजन करना कठिन कार्य है। औद्योगीकरण से पूर्व जिस प्रकार की पारिवारिक संरचना थी खास करके संयुक्त परिवार में, आवश्यकताएँ तो थी परन्तु तब उसकी आवश्यकताएँ आसानी से प्राप्त हो जाती थी और उस समय धन केवल मनुष्य के लिए एक 'साधन' था न कि 'साध्य'। परन्तु बदलते परिवेश में जो पूर्ण रूप से अर्थकेन्द्रित है, धन मनुष्य के लिए 'साध्य' बन गया है। जब लोगों की आँखों में धन रूपी चश्मा लग जाता है सारे रिश्ते-नाते को वह उसी चश्मा से देखने लगता है। इस स्थिति में परिवार में सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द, एकमत्य के स्थान पर अहं, तनाव, स्वार्थ, मनमुटाव प्रखर होने लगते हैं।

अत: इस प्रकार की मनोवृत्तियों के साथ एक छत के नीचे एक साथ जीवन बसर करना कठिन बन जाता है। महंगाई के जमाने में परिवार का मुखिया अपने बीवी बच्चों का पेट पालते-पालते थक जाता है। उसके लिए यह समस्त उत्तरदायित्व बोझ सा प्रतीत होता है। उपभोक्तावादी इस समाज में लोग मजबूर हो जाते हैं। उन आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जिनका कभी अंत हो ही नहीं सकता है। इस चक्रव्यूह में फँसकर परिवार जन एक दूसरे से अनजान हो जाते हैं। परिवार में सब इतने व्यस्त हो जाते हैं कि सुख-दु:ख बाँटने के लिए किसी के पास समय ही नहीं होता है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण आज अधिकांश लोग अपने पैरों पर खड़े हो गये हैं। परिवार का पुरुष हो या स्त्री हो सभी समान

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 1

रूप से शिक्षा प्राप्ति करने लगे हैं। अत: शिक्षा ने उन्हें आत्मनिर्भर भी बनाया है। जहाँ लोग आत्मनिर्भर होते हैं वहाँ उनकी सोचने-समझे की क्षमता भी सशक्त होने लगती है। इस स्थिति में अहं का टकराव होना स्वाभाविक है। फलत: परिवार में एकमत्य नहीं रहता है। ऐसी अवस्था में परिवार में विसंगति दिखाई पड़ती है। माता-पिता के साथ बच्चों के बर्ताव में परिवर्तन हो जाता है। पति-पत्नी के संबंध टूटने के कगार पर आ पहुँचा है। जिस समाज में अपने गुरुजनों को पूजने की परम्परा है वहाँ स्थिति अब निंदनीय है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक के उपन्यासों में पारिवारिक संबंधों में विसंगतियों के रूप का चित्रण हुआ है। समय के अनुरूप इन संबंधों में विसंगतियाँ यथार्थ प्रतीत होती हैं।

4.3.1 पिता-पुत्र संबंध

राजी सेठ के उपन्यास 'निष्कवच' में पिता-पुत्र के संबंध में व्याप्त विसंगतियों का चित्रण हुआ है। देखा जाए तो यह उपन्यास मूल्यों के टकराव का उपन्यास है। बदलते परिवेश में कैसे जीवन मूल्य में परिवर्तन हो रहे हैं और इन सबका प्रभाव किस प्रकार पारिवारिक संबंधों पर पड़ रहे हैं इसका यथार्थ चित्रण 'निष्कवच' उपन्यास में मिलता है। परम्परा तथा आधुनिकता के अंर्तद्वंद्व को साथ लेकर यह उपन्यास आगे बढ़ती है। पिता जहाँ स्वाभाविक रूप से पारंपरिक विचार पर कायम रहना श्रेयस्कर समझते हैं वहीं पुत्र आधुनिकता को वरण करता दिखाई पड़ता है। अत: दोनों के विचार में अहं का टकराव होना स्वाभाविक है। विशाल के पिता चाहते हैं आज की पीढ़ी अपने उत्तरदायित्व को समझे और चिंतन शक्ति में विकास करे और अंग्रेजों की दी हुई गुलामी से मुक्त हो। पिता के स्थान पर अडिग रहकर वे आगामी पीढ़ी यानी अपने पुत्र विशाल को अपने हिसाब से दुनिया को जानने समझने की इच्छा व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं -"ऐतिहासिक गुलामी ले गए.....दिमागी गुलामी छोड़ गये। मरो, खपो इस कीचड़ में कीड़ों की तरह, उस दलदल से ऊपर अपने मन में अपना कोई सपना होगा तभी न कोई कीचड़ में से निकलेगा। पर सपना तो कहीं है नहीं। हरकत के नाम पर उसी कृतज्ञता का विस्तार करते रहना। अपने को बार-बार उन्हीं कल्चरल फ्रंटियर्स तक ठेल ले जाना। जड़ों में कब तक गुलामी के परनालों का पानी चलता रहेगा, इसका कोई होश नहीं।"[1] अत: उनको लगता है कि आज कल के

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 20

बच्चे इन परिस्थितियों से जूझने के लिए तैयार नहीं हैं। समाज में कुछ अलग कर दिखाने की मनोवृत्ति भी इनमें नहीं है। आज की पीढ़ी बस अपने हिसाब से जिनमें विश्वास करते हैं। विशाल के पिता उससे पुन: असंतोष प्रकट करते हैं -"पर जिम्मा लेना तो दूर........कोई बात भी नहीं सुनता। इन्हें तो यही ठीक पड़ता है कि तुम बंद रहो, हम अपने में मस्त रहेंगे।"[1] पल-पल पिता-पुत्र के संबंध में विसंगतियाँ नजर आती हैं। भिन्न-भिन्न परिवार में स्थिति भिन्न होती है। एक छत के नीचे रहते हुए भी पिता की चिंतनशीलता अलग दिशा में होती है तो पुत्र भी एक अन्य दिशा में चलता है। और जहाँ एकमत्यता का अभाव हो वहाँ संबंध विसंगत प्रतीत होने लगते हैं। अतीत में जहाँ पिता-पुत्र के संबंधों में आत्मीयता, श्रद्धा होते थे बीसवीं सदी में उसका अभाव अनुभव होता है। पिता के प्रति जो सम्मान तथा आदर भाव पहले था आज नाम मात्र रह गया है। अर्थकेन्द्रित समाज में पिता-पुत्र के संबंध में अर्थ पर आधारित महसूस होने लगे हैं। चमचमाते सोने के पीछे भागते-भागते अंत में हम संबंध रूपी दीया को गंवा बैठते हैं। राजी सेठ के उपन्यास 'निष्कवच' में इसी पिता-पुत्र के संबंध में विसंगति के कारण ही संबंध में अलगाव की स्थिति उत्पन्न होती है। घर का बेटा विदेश की चकाचौंध भरे माहौल से ऐसा सम्मोहित हो जाता है कि वह अपने माता-पिता का ख्याल किये बिना ही अमेरिका चला जाता है। पिता-पुत्र के संबंध में कड़वाहट उत्पन्न होती है। संबंध में एक बार जब विसंगति की खाई उत्पन्न हो जाती है वह खाई फैलती ही जाती है और रिश्ते दूर छूट जाते हैं। राजी सेठ ने पिता-पुत्र के इस विसंगतपूर्ण संबंध का यथार्थ चित्रण किया है। बीसवीं सदी का पुत्र अपने पिता के साथ इस प्रकार व्यवहार करता दिखाई देता एक पात्र अपने पिता से कहता है - "यहाँ कण्टीन्यूंग एजुकेशन चलती है। यानी कि पढ़ाई और कमाई साथ-साथ। यह नहीं कि एम.ए. पास करने तक बाप की गोदी में बैठे रहो।"[2] अर्थकेन्द्रित समाज में इस तरह संबंध में विसंगति दृश्यमान होती है। पुत्र यह नहीं सोचता है कि उसके पिता क्या सोचेंगे। उसके लिए उसके माता-पिता की मान-मर्यादा, इच्छा-अनिच्छा की अहमियत नहीं है। उसे जो चाहिए वह केवल उसमें ध्यान केन्द्रित करता है। वह भी अपने पिता की इच्छा के विरूद्ध विदेश जाना चाहता है। वह जानता है कि उसका विदेश जाना पिता को पसंद नहीं है मगर वह अपने

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 20
[2] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 64

भविष्य तथा पैसों की खातिर परिवार छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है -"पापा को निश्चय ही मेरा कथन अविनयी लगा होगा। मुझे जाँचने के लिए ही पूछा होगा, "तुम क्या सोचते हो?" सोच नहीं रहा, जा रहा हूँ।" जाना चाहता हूँ।"[1]

गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में भी पिता-पुत्र के संबंध में विसंगतियों का चित्रण मिलता है। बीसवीं सदी के परिवार में अचानक से मूल्यों में भारी परिवर्तन होने लगे। आधुनिक जीवन शैली की बदौलत रिश्तों के मायने बदलने लगे। एक छत के नीचे रहते हुए भी परिवार में ताल-मेल के अभाव बोध होने लगे। पश्चिमी प्रभाव ने इस तरह युवा पीढ़ी को प्रभावित किया कि पुत्र अपने कैरियर तथा धन के पीछे भागकर संस्कृति को अवमानित करते हैं, परंतु उन्हें कोई ग्लानि नहीं है। बच्चों के बड़े हो जाने पर अपने अनुसार जीना श्रेयस्कर मानते हैं। राजन भी अपने बच्चों के साथ तालमेल नहीं बिठा पाता है और न ही बच्चे उसके साथ। पिता होते हुए भी वह अपने बच्चों को सही मार्ग दर्शाने में असफल होता है। ऐसी स्थिति में संबंध बस अंतर्द्वंद्व में फँसकर रह जाते हैं। राजन बस सोचता ही रह जाता है - "विदेश के लिए मोह। यों तो तीनों बच्चों पर पश्चिमी रंग चढ़ा हुआ है, लेकिन बंटू में कुछ ज्यादा दिखता है, शायद इसलिए कि उसमें महत्वाकांक्षा भी है जो अब विदेश में ही अपनी तृप्ति देखती है। शुरू हुआ पॉप म्यूजिक सुनने से। साथी आपस में कैसेट अदला-बदली करते और सुनते.... पढ़ाई करते तो सुनते, घूमते तो सुनते जाते, आराम करते तो सुनते। इंजीनियरिंग की सुखी किताबों के साथ-साथ कॉमिक्स और सस्ते अंग्रेजी थ्रिलर्स तो चलते ही थे, जींस, विदेशी जूते, सैंट आदि भी चलते ही थे ......लेकिन राजन ने देखा कि जब कभी वह भारतीय संगीत का आनंद लेने ड्राइंग रूम में कोई कैसेट लगाता है, बंटू इस या उस बहाने थोड़ी देर में चुपचाप खिसक जाता है।"[2] आधुनिक परिवार में पिता-पुत्र संबंध में कड़ुवाहट भर गयी है। बच्चों को लगता है कि पिता उनपर ज्यादा नियम कानून लागू करते हैं तो पिता को लगता है बच्चे उनकी बात ही नहीं मानते न ही उनका पथ अनुसरण करते हैं। अत: ऐसे द्वंद्वपूर्ण परिवेश में दोनों का दम घुटता जा रहा है। कोई भी मामला हो बच्चे अपना निर्णय खुद लेना पसंद करते हैं। उसमें माता-पिता का हस्तक्षेप उन्हें पसंद नहीं होता है।

---

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 64

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 148

जहाँ तक माता-पिता उनके मत से सहमत हैं तो ठीक है अन्यथा वे उन्हें 'आउट ऑफ डेट', 'ओल्ड फैशंड' कहते अलग हो जाते हैं। राजन भी ऐसी ही बच्चों का बाप है वह खुद बहुत पढ़ा लिखा होकर भी अपने बच्चों के सम्मुख मूक रह जाता है। वह अपने बच्चों को जीवन की यांत्रिकता से मुक्त नहीं करा सकता बस परेशान होता है- "इन लड़कों-बच्चों में आत्मविश्वास का अतिरिक्त पुट दिखाई देता है। अपनी स्वतंत्रता, अपनी निजता, अपना सोच.....इसके प्रति ज्यादा ही सचेत हैं वे जो हो उनका अपना सोचा हुआ ही हो, उनका अपना निर्णय, दूसरों से प्रभावित होना गलत है ....उनके अनुसार यह सब ठीक है ......आत्मविश्वास, स्वतंत्रता....लेकिन यह तो पूर्वग्रह हुआ कि तुम पुरानी पीढ़ी का कुछ भी सुनने को तैयार नहीं हो, वैसा ही पूर्वग्रह जिसके लिए तुम पुरानी पीढ़ी की आलोचना करते हो।"[1] बीसवीं सदी के अंतिम दशक में ज्यादातर परम्परा तथा आधुनिकता के बीच अंतर्द्वंद्व के कारण ही संबंध में विसंगति दृष्टिमान होती है।

4.3.2 पिता-पुत्री संबंध

स्वाधीनता प्राप्ति के पूर्व भारतीय समाज में स्त्री को उतनी अहमियत नहीं दी जाती थी। स्त्री की अस्मिता रूग्न अवस्था में थी, परंतु स्वाधीनता के पश्चात स्त्री के प्रति, आधुनिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन के बदौलत समाज का नजरिया बदलने लगा। परिवार में स्त्री भी अपना अधिकार जाहिर करने लगी। शिक्षा ने उसको नई दृष्टि प्रदान की। परिवार के अन्य सदस्यों ने भी स्त्री-पुरुष के भेदभाव को समाप्त करने के लिए प्रयास किया। माता-पिता भी पुत्र-पुत्री को समान अधिकार दिलाने का पक्षधर है। बीसवीं सदी के अंत तक यह एक सहज जीवन-प्रणाली बन गयी है। परिवार में पुत्र-पुत्री दोनों का आर्‌थिक विकास की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक बन गया। अत: पुत्र की भांति पुत्री भी अपनी स्वार्थ प्राप्ति के लिए पिता को बस एक सोपान समझने लगी। विचारों में परिवर्तन आने से जिस प्रकार मानव-मूल्य काल-कवलित होने लगे इसी प्रक्रिया में पुत्री भी कहीं अलग नहीं ठहर पाती। व्यक्तिवादी समाज में व्यक्ति की अहमियत के कारण स्वरूप पुत्री भी इस नकारात्मकता से नजर नहीं बचा पाती है। पिता-पुत्री संबंध में भी अनेक विसंगतियाँ दृश्यमान होती हैं। अर्थकेन्द्रित समाज में पुरुष

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 149

हो या स्त्री, सभी के सम्मुख अर्थ ही सर्वस्व है। रिश्ते-नाते सब बेमाने नजर आते हैं। पिता-पुत्री के संबंध में जो रागात्मकता, सहानुभूति, प्रेम होना चाहिए बीसवीं सदी में उसमें से स्वार्थ, अहं, घृणा की झलक मिलती है। अपने हक तथा अधिकार की खातिर वह अपने पिता से भी भिड़ जाती है। स्त्री विमर्श चाहे इसका पक्षधर रहा हो, परंतु परिवार तथा संबंध पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता ही है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' की नायिका वर्षा भी ऐसी ही पुत्री है जिसका बचपन से ही अपने पिता के साथ संबंध में विसंगतिपूर्ण है। वर्षा और उसके पिता के विसंगत संबंध के कारण ही वर्षा को अपने घर परिवार से दूर भागना पड़ा। उसने अपने पिता के खिलाफ जाकर अपना नाम बदलने का साहस किया था जो पिता के लिए नहीं संपूर्ण भारतीय समाज के लिए अनहोनी बात मानी जाती है। वर्षा के पिता पूछते हैं - "तुमने अपना नाम बदल लिया है? सिलविल ने अपुराध-भाव से नीचे नहीं देखा। वह पूर्ववत सामने देखती रही 'हाँ' उसका स्वर स्थिर था।

"काहे?"

मुझे अपना नाम पसंद नहीं था।

पल भर की चुप्पी रही।

अगर हाईस्कूल में नहीं बदलती, तो आगे चलकर बहुत मुश्किल होती। अखबार में छपवाना पड़ता।"[1]

अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते पिता-पुत्री संबंध में कड़वाहट पूर्ण होने लगी थी। पुत्री जहाँ परम्परा से चलती आ रही पितृसत्ता को कुचलने में प्रयासरत है, वहाँ पिता के वजूद पर प्रश्न चिह्न लग गया है। अत: दोनों में एकमैत्यता नहीं रहती है - "तुम्हारे नाम में क्या खराबी है? पिता ने कड़वे स्वर में पूछा। अब हर तीसरे-चौथे के नाम में लगा होता है। मेरे क्लास में ही सात शर्मा है। .....और यशोदा? घिसा-पिटा, दकियानूसी नाम। उन्होंने किया क्या था? सिवा कृष्ण को पालने के?" सिलविल ने पिता की ओर देखते हुए पल भर का विराम दिया, फिर उपसंहार कर दिया, "यशोदा शर्मा नाम में कोई सुंदरता नहीं!"[2]

जिस प्रकार के मतभेद खास तोर से पिता-पुत्र संबंध में परिलक्षित होते थे, बीसवीं सदी में खासकर स्त्री

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 16

[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 17

विमर्श के उत्थान के बाद ही पिता-पुत्री में भी उपलब्ध होने लगे थे। दोनों में विचार भेद अंतिम दशक में आम बात बन गयी थी। अत: परिवार धीरे-धीरे टूटन की ओर उन्मुख होता गया।

'कठगुलाब' उपन्यास में मृदुला गर्ग ने भी परिवार में उपलब्ध पिता-पुत्री के विसंगतपूर्ण संपर्क का यथार्थ चित्रण किया है। आधुनिक युग में स्त्री के लिए शिक्षा के अवसर बढ़ने के कारण स्त्री के पैरों में जकड़ी बेड़ी टूटने लगी और वह पहली बार अपने परिवार में पुरुष के द्वारा हो रहे शोषण के खिलाफ आवाज उठाने लगी। सच्चाई सामने लाने लगी जो दिल दहला देने वाली थी। जाहिर है यह पितृसत्ता के लिए एक निंदनीय अध्याय है। पुत्री जब पिता की असलियत, खासकर माता के प्रति उसकी घृणा, ईर्ष्या, संदेहपूर्ण व्यवहार के बारे में अवगत हुई तब वह उसको सीधा-सीधा अवैध घोषित करने लगी। इस पितृसत्ता को लहूलुहान करने लगी। असीमा भी एक ऐसी ही नारी है जिसकी अपने पिता के साथ कभी नहीं पटती है। बचपन से ही वह अपने पिता से अलग रहती है। उसे अपना पिता बिल्कुल पसंद नहीं है। क्योंकि उसने उसकी माँ को कभी सुख नहीं दिया था और माँ के होते हुए दूसरी औरत के पास जाता था- "माँ बतलाती थी कि मेरे बाप ने उसके रहते दूसरी औरत इसलिए की थी, क्योंकि माँ हर वक्त उसकी भूख मिटाने को तत्पर नहीं रहती थी। उसकी अपनी सीमाएँ थीं। मेरा हरामी बाप, माँ ने उसे कभी हरामी नहीं कहा। न 'ये', 'वे' छोड़कर कोई संबोधन मुँह चढ़ाया। यह नाम तो मेरा दिया हुआ है।"[1] आधुनिक युग में जब पितृसत्ता के परत दर परत खुलते जाते हैं तब पिता-पुत्री संबंध असीमा तथा उसके पिता जैसे बन जाता है और जिस खाई को कभी मिटाया नहीं जा सकता। अत: पिता-पुत्री के इस विसंगतपूर्ण संबंध के लिए किसी एक को दोषी ठहराना उचित नहीं होगा वरन यह सब अर्थ तथा काम कवलित समय का प्रहार है, ऐसा कहा जा सकता है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में जहाँ असीमा जैसी पुत्री पिता के अस्तित्व तथा अहं को चुनौती दे रही थी, ठीक उसी समय गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' मं बिट्टो और राजन ऐसे पुत्री और पिता हैं जिनके संबंध बस अर्थपरक हैं। राजन एक ऐसी बेटी का पिता है जो पिता के उच्च ऑफिसर होने का फायदा उठाना चाहती है। बिट्टो के लिए उसका पिता मात्र पैसों की मशीन है। बेटी होकर भी वह अपने भाइयों की

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 166

भांति पिता से सब कुछ हड़प लेना चाहती है। राजन सोचते हैं - "राजन ने हमेशा यह ख्याल रखा कि बच्चों को कोई कमी न होने पाए, क्योंकि वे कभी तरसे नहीं ......लेकिन बिट्टो में क्या आया सिवाय तरस के, न खत्म होने वाली तरस, पता नहीं क्या-क्या बटोरकर अपने घर में भर लेना चाहती है। उसने यह भी ख्याल नहीं किया कि इससे उसके माँ-बाप से क्या हुए जा रहे हैं, भाई के साथ भी कैसी कड़वाहट फैलती जा रही है।"[1] बीसवीं सदी में जहाँ औद्योगिक विकास ने पारिवारिक जीवन-प्रणाली को प्रभावित किया वहीं संबंधों की आत्मीयता भी प्रभावित होने लगी। भले ही औद्योगीकरण राष्ट्रीय उत्थान का पक्षधर रहा हो मगर इससे नैतिक उत्थान का दमन ही हुआ है। इस अर्थतंत्र के चलते खासकर पारिवारिक संबंध में विसंगतियाँ दृश्यमान हुई। बिट्टो उस भारतीय पुत्री को उपस्थित करती है जो अपने पिता से संपत्ति हड़पना चाहती है। इसके अतिरिक्त पिता के साथ इसकी कोई सहानुभूति नहीं होती है। मुझे ऐसा लगता है कि स्त्री विमर्श के सही अर्थ समझने के लिए आधुनिक स्त्री को और कुछ लग जाएंगे। बीसवीं सदी व्यक्तिवादी समाज होने के नाते यहाँ सभी स्वार्थपरक कार्य करते हैं। जो पिता अपने बच्चों का इतना ध्यान रखता है और दुनिया की समस्त खुशियाँ उन्हें मुहय्या करता है, वह खुद यह नहीं जान पाता है कि उसके बच्चों के मन में उसके लिए कैसा भाव है? जब तक वह नौकरी करके उन्हें खिलाता-पिलाता है तब तक उसके साथ बच्चों का व्यवहार सद्भावपूर्ण रहता है, परंतु जब वह बूढ़ा हो जाता है या उसकी तबीयत खराब हो जाती है तो उसके प्रति अचानक बच्चों का व्यवहार बदल जाता है। इस छलावा में पुत्री भी शामिल है। कहा जाता है पुत्री के मन में अपने माता-पिता के प्रति पुत्र से अधिक स्नेह-सहानुभूति होती है, परंतु आधुनिक युग में ये सब किताबी बातें प्रतीत होती हैं। बिट्टो इन्हीं पुत्रियों का प्रतिनिधित्व करती है - "पापा के हार्ट अटैक की खबर मिलते ही उसने रम्मो को लिखा कि पापा को अब अपनी 'विल' कर देनी चाहिए ताकि उनके बच्चों में झगड़ा-झंझट न हो, वे वैसे ही रहें जैसे एक छत के नीचे रहते थे। चलते-चलते उसने इशारा भी दे दिया कि 'विल' में उसे इसलिए न अपेक्षित किया जाए कि वह लड़की है, विवाहिता है या पराई है। उसका आत्मविश्वास इसलिए और बढ़ गया है कि बंटु विदेश चला गया है करीब-करीब बसने के लिए, छोटू से पापा की

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 212

पटती नहीं है और पिछले 'अटैक' के दौरान बिट्टो ने ही राजन की सेवा-सुश्रुषा की थी।"[1] इस कथन में यह भी खुलासा हुआ कि संपत्ति पाने के लिए ही बिट्टो अपने पिता की सेवा करती है। इससे हम घिनौना अर्थकेन्द्रित समाज के बारे में अंदाजा लगा सकते हैं, जहाँ सब बिकाऊ है।

4.3.3 माता-पुत्र संबंध

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के अंदर 'मैं' का महत्व और उसके परिप्रेक्ष्य में दृष्टिकोण प्रखर होने के कारण परिवार में जटिल स्थितियों की उपलब्धि एक सामान्य बात बन जाती है। अत: पारिवारिक जीवन में छोटे-छोटे मतभेद बहुत शीघ्र ही विरोधाभास में बदल जाते हैं। ऐसी स्थिति में पारिवारिक संबंधों में खाई बस फैलती जाती है। पारम्परिक जीवन-मूल्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। संयुक्त परिवार जब टूटा तब समस्त नैतिकता, जीवन-मूल्य, स्नेह, सहानुभूति पीछे छूट गये। पति-पत्नी एकल परिवार में केवल अपने बच्चों के साथ रहकर भी एक अशांत तथा कलहपूर्ण जीवन बिताने के लिए मजबूर होते हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अनेक कारण हैं जो परिवार को इस कगार पर ला खड़ा किया। 'विकास' के नाम पर विकास तो हुए मगर लोगों में आंतरिक विकास नहीं हो पाया। भौतिकता के पीछे भागते-भागते पिता-माता अपने बच्चों के आंतरिक विकास तथा नैतिक विकास करने में असमर्थ हुए। इसका कारण यह है स्वयं एकल परिवार में पति-पत्नी संबंध भी असफल बनते जा रहे हैं। जब परिवार की नींव ही ढीली हो तब संपूर्णता पर प्रश्न चिह्न लगना स्वाभाविक है। क्षमा शर्मा ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार की जरूरत आधुनिक समाज के लिए मानती है। जहाँ बजुर्गों की मध्यस्थता के कारण बहुत विसंगत स्थितियों से बचा जा सकता है। उनके अनुसार - "निश्चय ही मतभेदों को दूर करने के लिए बुजुर्गों अथवा गुरुओं द्वारा मध्यस्थता द्वारा सहमति के विकास का तरीका अनेक बार बहुत प्रभावशाली होता है। ऐसे प्रयास यदि किसी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त रहते हैं तो ये प्रयास बुजुर्गों की अवस्था के गहरे सोच, चिंतन और जीवन के अनुभवों से अभिप्रेरित हो, अधिक सार्थक भी सिद्ध होते हैं। इसलिए वर्तमान समय में भी परिवार में बुजुर्गों द्वारा इस प्रकार के

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 213

सहमति-सुझावों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।"[1] एकल परिवार में बुज़ुर्गों के अभाव के कारण पति-पत्नी हो या अन्य संबंध, छोटी-छोटी बातों को लेकर तनाव उत्पन्न होते हैं और चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं। माता-पिता के साथ बच्चों का व्यवहार कड़वाहटपूर्ण रहता है तो कहीं खुद माता-पिता अपने बच्चों के साथ विसंगत व्यवहार करते हैं। परिस्थिति के अनुसार यह अलग-अलग प्राप्त होते हैं। मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' उपन्यास में ऐसे ही अनेक पारिवारिक संबंधों के बारे में चित्रण किया गया है। असीमा का पिता अपनी पत्नी यानी असीमा की माँ से अलग दूसरी औरत के साथ रहते हैं। मगर असीमा तथा उसका भाई असीम अपनी माँ के साथ रहते हैं और एक स्वाभिमानी औरत होने के नाते खुद अपने बलबूते पर उसने अपने दोनों बच्चों का पालन-पोषण किया है। जब असीम को पता चलता है कि उसके पिता एक धनी व्यक्ति हैं और इतने दिनों तक उसकी माँ ने उसे अपने पिता से अलग रखा है तब वह क्रोधित हो जाता है और एक ही क्षण में उसने अपनी माँ की ममता को ठोकर मारने के लिए पश्चाताप भी नहीं करता है। असीम अपनी माँ के ऊपर गरज पड़ता है - "तुमने जबरदस्ती इतने दिन हमें इस नरक में ठूँसे रखा। उनसे मिलने नहीं दिया। उन्होंने पहले कभी तुम्हें बुलाया ही नहीं।"

"बुलाया नहीं। वाह, उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे। तुम उन्हें छोड़कर चली आआगी तो वे क्यों बुलाते फिरेंगे।"[2] असीम की माँ कहती है - "मैंने उन्हें नहीं छोड़ा। वे मुझे छोड़ गये थे।"[3] फिर असीम अपनी माँ को अपमानित करते हुए कहता है - "छोड़ेंगे नहीं तो क्या पूजेंगे। न ढंग का पहनोगी, न ढंग से रहोगी, वह ....औरत .....छोटी माँ .... देखा है। कभी उन्हें, कितनी सलीकेदार, कितनी ग्लैमरस हैं। मुझे इतना सामान दिया, इतना घुमाया-फिराया ....।"[4] असीम ने अपनी माँ की जिंदगी भर की तपस्या को झूठ, फरेब तथा चकाचौंध भरे जीवन बिताने की लालसा में पल भर में धूलिसात कर दिया। उसके मन में जो आया अपनी माँ को बोलता गया - "हमारे लिए तो शर्म की बात है। पूरा बचपन कंगालों की तरह काटना पड़ा। दोस्तों के सामने जलील होना पड़ा। सब तुम्हारी अकड़ की वजह से। पति से एक पैसा नहीं लूंगी, वाह-भई-वाह। वे सिर्फ तुम्हारे पति नहीं, हमारी डैडी भी हैं।

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 58
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169
[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169
[4] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169

जिस-तिस पर लाखों लुटाते फिरते हैं और उनके बच्चों को तुम भिखमंगों की तरह पाल रही थी। तुम माँ हो या दुश्मन!"[1] असीम की माँ पति से अलग होकर भी पूरे सम्मान तथा स्वाभिमान के साथ सर उठाकर अपने पति के पैसों की मोहताज न बनकर जितनी जो परिवार बनाई थी, उसे असीम ने एक झटके में धन के मोह में बौरा कर तोड़ दिया जिससे असीम की माँ टूट जाती है और चकित रह जाती है - "मुझे नहीं पता था, तुम्हारे लिए ये .....सब.....इतना मायने रखता है। मैंने सोचा था, स्वाभिमान की जिंदगी ......"[2] मगर आधुनिक युग में जहाँ भौतिक सुख को सर्वस्व माना जाता है, 'स्वाभिमान' जैसा शब्द बेमाइने बन जाता है। यह शब्द युवा पीढ़ी की समझ के बाहर है। माँ की इस बात का असीम ऐसा जवाब देता है - "स्वाभिमान। असीम ने ऐसे कहा जैसे हरामजादी कह रहा हो।"[3]

एक समय था जब बच्चे अपने माता-पिता के सम्मुख अपने विचार रखने से पूर्व सौ बार सोचते थे। और माता-पिता के सम्मान से बढ़कर उनके लिए कुछ नहीं होता था। श्रवण कुमार ने तो अपने अंधे माता-पिता को कंधे पर ढोकर अपना पुत्र कर्म निभाया था। परन्तु असीम आधुनिक समाज का ऐसा बेटा है जो अपनी दु:खी माँ के दु:ख को दुगुना करता है। उन्हें मानसिक पीड़ा पहुँचाने में कुंठा बोध नहीं होता है। पैसा तथा ग्लैमरस जीवन बिताने के लिए असीम को अपनी माँ से ज्यादा अच्छी उसकी सौतेली माँ लगती है। इस चक्कर में वह अपनी माँ को छोड़कर छोटी माँ के पास चला जाता है। मगर अहसान फरामोश असीम अपने पिता की मौत के बाद अपनी सौतेली माँ या छोटी माँ को घर से धक्का देकर निकाल देता है। दु:ख तथा शर्म की बात यह है कि वे औरतें जिन्होंने माँ, बहन, छोटी माँ आदि रूप में उसके जीवन को प्रेम तथा ममता से संवारा था उनके लिए असीम के मन में घिनौना विचार है - "अरे, ये छिनाल औरत होती ही इस मतलब की है। काम पूरा हो जाए तो लात मार बाहर करो। मैंने तो पापा के बाद, उस औरत को भी निकाल बाहर किया था।"[4] 'कठगुलाब' उपन्यास में असीम उस पितृसत्ता का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें कहीं-न-कहीं अपने पिता का संस्कार है। वह

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169
[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 169
[4] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 199

जिस प्रकार अपने पिता के साथ व्यवहार करता है इससे हम माता-पुत्र के विसंगतपूर्ण संबंध का अंदाजा लगा सकते हैं।

भारतीय समाज में 'पुत्र' के लिए माँ के मन में अजस्र प्रेम भावना होती है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भी यह लगभग बना हुआ था और आज भी यह स्थिति बनी हुई है। खासकर माँ अपने बेटे से आँख मूँदकर प्यार जताती है। चाहे बेटे के मन में प्रेम तथा सम्मान हो या ना हो, माँ को इससे फर्क नहीं पड़ता है। अत: अंतिम दशक में लिखे गये उपन्यासों में माता-पुत्र संबंध में विसंगति कम वर्णित हुए हैं। ज्यादातर उपन्यास में माता-पुत्र संबंध सकारात्मक ही हैं। माँ हमेशा अपने बेटे की गलतियों पर परदा डालती है। परन्तु असलियत कुछ और होती है।

4.3.4 माता-पुत्री संबंध

कहा जाता है माँ-बेटी का रिश्ता बहुत ही मधुर रिश्ता है। मगर बीसवीं सदी में भारतीय समाज में ज्यादातर माता-पुत्री के संबंध कड़वाहट पूर्ण हो रहे हैं। इसके पीछे पितृसत्ता की बहुत बड़ी साजिश लुक्काइत है। घर में जन्मी पुत्री को बहुत ही कम घरों में स्वागत किया जाता है क्योंकि पुत्री वंश परम्परा को आगे बढ़ाने में सक्षम नहीं है जो पुत्र करता है। स्वयं एक नारी होकर भी माँ इस हीन भावना से ग्रसित है। लेकिन आधुनिक युग में शिक्षा के कारण स्त्री परिवार के षड्यंत्र को पहचानने लगी है और परंपरागत इस सोच के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करके शोषण का विरोध करने लगी है। परन्तु यह सहज नहीं है। क्योंकि स्त्री का साथ देने के लिए बहुत कम लोग आगे आते हैं। पिता, भाई, तो पुरुष है खुद माँ एक औरत होकर भी औरत का साथ देने में प्रतिरोध करती है। इसलिए परिवार में माता-पुत्री संबंध अनेक स्थल में विसंगतपूर्ण होते हैं। अंतिम दशक के उपन्यासों में भी इसका चित्रण प्राप्त होता है। परिवार में हमेशा से ही पुत्र-पुत्री में भेदभाव किया जाता है। ज्यादातर यह देखा जाता है कि माँ ही इसके लिए जिम्मेदार होती है। माँ का झुकाव अपने बेटे के लिए अधिक होता है। पहले तो बेटियाँ इसे समझ नहीं पाती थीं और इसे ही अपनी नियति समझती थीं मगर समय क्रम में हालात बदलने लगे। परिवार में हो रहे उत्पीड़न को वह अब सहन नहीं करती है। फलस्वरूप संबंध में अंतर्द्वंद्व की उपज होती है जिसका कभी अंत नहीं हो पाता बल्कि यह दिन व दिन बढ़कर विसंगति बन जाता

है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' में माता-पुत्री के मध्य ऐसे ही विभेद भरे संपर्क के बारे में चित्रण किया गया है। नमिता के पिताजी के देहांत के पश्चात जब क्रियाकर्म करने का समय आया तब नमिता पिता को मुखाग्नि देने के लिए आगे बढ़ती है क्योंकि उसे अपने पिता से बहुत प्यार था और पिता की अंतिम इच्छा यही थी कि नमिता क्रियाकर्म करे। मगर उसकी माँ उसे कभी प्यार नहीं करती थी और ना ही उसकी छोटी बहन को। वह बस अपने बेटे को प्यार करती थी। इसलिए जब वह अपने पिता का क्रियाकर्म करने के लिए कमर कसती है तो उसकी माँ उसका विरोध करती है। पंडितजी जब पूछते हैं कि बड़ा भाई नहीं है क्रियाकर्म करने के लिए तब नमिता की माँ बोलती है - "होता तो फिर रोना ही काहे का था, पंडितजी। माथे पर हथेली पटक माँ ने भाग्य को धिक्कारा।"[1] नमिता सहसा उठ खड़ी होकर बोलती है- "क्रियाकर्म मैं करूंगी, पंडितजी, मुखाग्नि भी मैं ही दूंगी! मैं पांडेजी की बड़ी बेटी हूँ। छुन्नू बच्चा है। बच्चे के हाथ से क्रियाकर्म करवाना उचित नहीं।"[2] जब नमिता यह कहती है तब उसकी माँ क्रोध से तिलमिलाई हुई बोलती है -"दिमाग तो नहीं चल गया तेरा नागिन, जो बैठे-ठाले अलाय-बलाय बकने लगी? न मैं बांझ हूँ न, छूंछी! कुलदीपक बेटा जना है बेटा। जना है तो भला किस दिन के लिए जना है? बोल?"[3] नमिता की माँ के मन में कभी इन दोनों बहनों के लिए स्नेह, सहानुभूति या कोई भी लगाव नहीं होता है। उसके व्यवहार से लगता है मानो वह उसकी सौतेली माँ है। वह हमेशा नमिता के लिए गंदे शब्दों का प्रयोग करती है। यह शब्द सुनने से लगता नहीं है कि एक माँ अपनी बेटी के लिए ऐसा शब्द बोल भी सकती है - "कमीनी कुकुरी! अर्थी उठी नहीं बाप की और तू हो गई जरनैल? पीछे खड़ी सुन रही थी मैं तेरी गुर्राहट। कुंती ने भले को पूछी तो तू झपट पड़ी लाग-लिहाज छोड़ उसे चबाने! ला मैं तेरे दांत तोड़कर धर दूं मुँगरी से, फिर चबा! देखती हूँ कैसे चबाती है कुतिया।"[4] छोटी-छोटी बातों के लिए नमिता की माँ नमिता की बहन मुनिया को इस प्रकार मारती है जैसे वह पराया बच्चा हो। अपने कोख से जन्मा ही नहीं, नमिता चाहे जितना भी प्रयास करे माँ को खुश करने के लिए मगर उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जब तक उसके पिता जिंदा थे तब हालात कुछ ठीक थे, मगर

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 399
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 399
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 399
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 430

पिता के देहांत के पश्चात नमिता को उस घर में रहना कठिन हो गया। घर पहुँचने पर नीली पड़ी हुई मुनिया का जो उसने करूण हाल देखा, कलेजा कट के मुँह को आ गया। मन किया - "उसी मूँगरी से माँ को धुनकर रख दे। उनके पोर-पोर को कूट, भुरकुस बना दे, ताकि फिर कभी वे अपने आवेश का नंगा नाच न दिखा सके।"[1]

अंतिम दशक में माता-पुत्री के रिश्ते को एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी के रूप में भी दिखाया गया है। चित्रा मुद्गल ने माँ-बेटी में इस विसंगति का चित्रा करके पारिवारिक यथार्थ का पर्दाफाश किया है। नमिता को हमेशा लगता है उसकी माँ उसे कभी सहन नहीं कर पाती है - " 'श्रमजीवा' निकलने से पूर्व पच्चीसों बार आइना देखने की शौकीन माँ कभी अपने चेहरे पर गौर क्यों नहीं करती कि अपनी औलादों के लिए वे जरझौंसी औरत का चेहरा क्यों पहन लेती हैं, जिसकी आँखों का चश्मा उनकी क्षमताओं और खूबियों के स्वाभाविक विकास को पनपने से पूर्व ही खोंटकर रख देने में विश्वास करता है? यह भी लगता है कि माँ के अवचेतन में वह उनके समानांतर प्रतिद्वंद्विता में दूसरी औरत हो उठी है, जिसके बढ़ते कद को सहन कर पाना उनके डाह के बूते का नहीं-जो उन्हें अप्राप्य रहा, वह उसे क्यों हासिल हो! वरना अपनी जवानी गर्ककर उन्हें पोसने का दंभ भरने वाली माँ उसे शिक्षा से वंचित करतीं?"[2] यह बहुत ही शर्म की बात है कि एक माँ अपनी बेटी के साथ प्रतिद्वंद्विता करने में भी नहीं हिचकती है। यह कैसी विडम्बना है कि वही माँ जो बेटा को श्रेष्ठ मानती है बेटी को नीच और वही माँ अपनी ही बेटी का स्थान लेना चाहती है। इस सिलसिले में पूरे परिवार में अशांति का वातावरण उतपन्न होता है। यह बात मुनिया भी समझती है। वह नमिता से कहती है - "माँ के मुँह लगती ही क्यों हो, दीदी! माँ बरदाश्त नहीं कर पाती न तुम्हें, न तुम्हारे सामने, न पीठ पीछे।"[3]

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में भी माता-पुत्री के विसंगतपूर्ण संपर्क का चित्रण हुआ है। उपन्यास की नायिका प्रिया का जीवन जिस प्रकार तहस-नहस हुआ है। गौर से देखा जाए तो केवल अपनी माँ के साथ उसका संकुचित तथा कड़वाहटपूर्ण संबंध के कारण ही हुआ था। बेटा होने के बदले

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 209
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 48
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 404

प्रिया के हो जाने के रोष में उसकी माँ जिंदगी भर उसका मुँह देखना पसंद नहीं की और वह भी प्रिया का रंग साँवला होना भी माँ की चिड़चिड़ाहट का और भी एक कारण है। प्रिया कहती है - "मुझे कभी अम्मा की गोद की याद भी नहीं आती है। न मालूम क्यों शुरू से ही अम्मा को मुझसे चिढ़ थी या फिर यह घोर निराशा की एक प्रतिक्रिया थी, जिसे वे मुझ पर आरोपित कर रही थीं। मुझे दाई माँ ने ही पाला-पोसा।"[1] हालाँकि अंतिम दशक में भारतीय समाज में आधुनिकता प्रवेश कर चुकी थी। स्त्री सशक्तीकरण शिखर पर था, परन्तु परंपरा से पूर्ण रूप से छुटकारा नहीं मिल पाया था। अत: अंतिम दशक का समय द्वंद्वात्मक समय माना जाता है। सदियों से प्रचलित रूढ़ि से आसानी से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। अंतिम दशक के उपन्यास में खासकर इसी परम्परा से जकड़ी हुई माँ अपनी बेटी को एक अभिशाप मानती है जो बचपन से ही शुरू हो जाती प्रिया की हालत - "बाबूजी मुझे गोद में लेकर अम्मा की बगल में लिटा गए। मुझे अम्मा का चिल्लाना याद आ रहा है, ओ हो! एक तो मैं ऐसे ही मरी जा रही हूँ और दूसरे इसे और मेरी छाती पर लाद गए!"[2]

प्रिया को अपने घर में किसी से प्यार नहीं मिला क्योंकि स्वयं उसकी माँ को उससे नफरत थी। एक औरत होकर अपनी बेटी को वह प्यार नहीं कर पाती है, उसके ऊपर नाना प्रकार की रोक लगाती है। लड़का-लड़की में हमेशा भेद करती आई है। लेकिन वहीं अटक कर रह नहीं जाती वह अपने पैरों पर खड़ी होती है और एक सफल बिजनेस ओमेन बनती है, परंतु अंत तक भी प्रिया और उसकी माता के संपर्क में कोई बदलाव नहीं आया। एक बड़े घर की बेटी और उससे भी बड़े घर की बहू होकर भी वह हमेशा अकेली होती है। इसका कारण माता-पुत्री में विसंगत संबंध ही है। बड़े घर की बेटी होने के नाते माँ चाहती तो प्रिया को अपने भाइयों तथा अन्य बहनों के समान प्यार का अधिकार प्राप्त होना चाहिए था ताकि "एक कुचला हुआ घायल बचपन, जो खट से कैशोर्य की दहलीज लाँघकर असमय आ गया; और फिर जीने की अंधी जिज लिए हुए निरंतर संघर्षरत एक औरत, जो व्यवस्था से समझौते करना कभी सीख ही नहीं पाती, जो ईमानदारी शब्द से इतनी ग्रसित है कि चाहकर भी रिश्तों की

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 24

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 24

बनावट और कृत्रिमता को स्वीकार ही नहीं कर पाती।"[1] यह बीसवीं सदी में संबंधों की नियति है। यह वह समय है जब बेटी इस बनावटी और कृत्रिम रिश्ते को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं करती। वह इसके विपक्ष में आवाज उठाती है। अपने को सक्षम बनाती है इस स्थिति से लोहा लेने के लिए। प्रिया भी यही करती है। वह भी ऐसे रिश्तों को ठुकराने के लिए सीना तानती है। प्रिया कहती है - "न अम्मा, न भैया लोग, न जीजी लोग न पति। कभी सोचती, लेकिन जब कोई मेरा अपना नहीं, मेरी रोटी में किसी के गेहूँ का दाना नहीं तब ये रिश्ते, ये जिम्मेवारियाँ किसके लिए? मैं किससे भयभीत हूँ?"

4.3.5 भाई-भाई संबंध

बीसवीं सदी में जिस प्रकार पारिवारिक विघटन हुआ उसके मुख्य कारणों पर अगर गौर किया जाए तो हमें ज्ञात होगा कि यह भाई-भाई के मध्य विसंगतपूर्ण संबंधों का ही नतीजा है। खासकर यह टूटन 'धन' के कारण है। क्षमा गोस्वामी कहती हैं - "वर्तमान समय में परिवारों की सार्थकता पर आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव हावी होने लगे हैं।"[2] संयुक्त परिवार की यह चलन रही कि सभी भाई अपनी पत्नियों तथा बच्चों के साथ अपने माता-पिता को साथ लेकर एक छत के नीचे रहते थे। मगर जब आधुनिककाल में औद्योगीकरण के परिप्रेक्ष्य में विकसित बाजारू अर्थव्यवस्था समाज का मूल आधार सिद्ध होती चली तब परिवार पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस बाजारवाद के चलते संबंधें में रिक्तता एक आम बात है। देखा जाए तो इसका प्रथम प्रभाव भाइयों पर पड़ता है। उनमें अहं का टकराव और ऊपर से पिता की संपत्ति को हथियाने की चाह शिखर पर होती है। जिस छत के नीचे सदियों से एक ही थाली में मिलके खाना खाते थे, अचानक सब कुछ बदल जाता है। अपने हक प्राप्ति के लिए पिता के घर तथा संपत्ति का बंटवारा तक बात आ पहुँचती है। सभी को बस अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए चिंता होती है। ऐसी स्थिति में भाइयों में समस्त लगाव, सहोदरता समाप्त होने लगती है। ऐसा भी होता है कि संपत्ति के कारण एक भाई दूसरे की हत्या भी कर देता है। गोविन्द मिश्र भी आधुनिक युग में संबंधों में बिखराव का कारण इसी स्वार्थ को मानते हैं - "स्वार्थ के लिए सब कुछ जायज है और सबसे बड़ा स्वार्थ पैसा, शक्ति या पद है। एक नए मूल्य को पैदा किया गया, अब उसे नए

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 60

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 131

सिक्के की तरह चलाया जा रहा है।"[1] अत: बीसवीं सदी में भाई-भाई संबंध में स्वार्थ की बू आना भी जाहिर सी बात है। खानदानी संपत्ति को लेकर भाइयों में कलह उत्पन्न होने लगे। सभी भाई चाहते हैं काश पिता की संपत्ति पर उनका एकाधिकार हो और वह अपने बच्चों तथा पत्नी के साथ खुशी से रहें। वह अपने दूसरे भाइयों के सुख-दु:ख के बारे में तनिक भी सोचना श्रेयस्कर नहीं समझते हैं। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया के पिता की अकाल मृत्यु हो जाने के बाद उसे बड़े भाई चाहते हैं कि पिता की समस्त संपत्ति पर उनका अधिकार हो जाए इसलिए उन्होंने चालाकी से माँ के कृपा पात्र बने हुए थे। छोटे भाई अजय का शांत स्वभाव होने के कारण वह उसे बहला फुसलाकर संपत्ति के मामले से कोसों दूर रखते थे। माँ के सामने हमेशा उसको अपमानित करते थे और खुद माँ का 'श्रवण कुमार' बन बैठे थे। अजय दाने-दाने के लिए बड़े भाई विजय का मोहताज था और हालात यह भी हुआ कि बड़े भाई ने अपने हिसाब में चालाकी के साथ एक रोगिणी लड़की के साथ उसका ब्याह कर देते हैं ताकि वह गाय की तरह रहे न कि चालाक पत्नी के बहकावे में आकर अजय संपत्ति में हिस्सा माँग पाये। प्रिया अपने भाइयों के मध्य संपर्क का इस प्रकार खुलासा करती है- "चूँकि सारा पैसा, मकान के किराए की इनकम, बड़े भैया के हाथों में, अत: वे जिसे जो भी उठाकर दे दें। पिता की संपत्ति के दोनों भाई बराबर के वारिस, पर छोटे भैया के हाथ में एक भी पैसा नहीं। अम्मा कहती - "अरे, इस ऊँट को ले जा, ऑफिस में बैठा तो सही।" भैया ले जाते और मेट्रो सिनेमा हॉल के सामने एक टिकट पकड़ा देते। कहते,"जा सिनेमा देख आ।" छोटे भैया रुआँसे घर लौट आते। शाम को बड़े भैया अम्मा के कान भर देते, क्या करूँ माँ! कहाँ तक इस गधे से सर फोडूँ? भेजा था फाइल लेकर इनकम टैक्स ऑफिस, चला गया सिनेमा देखने।"[2] अंतिम दशक में संबंधों में नैतिकता का ह्रास अपने चरम पर है। एक ही माँ के पेट से जन्मे भाई-भाई में इस प्रकार का मतभेद ही पारिवारिक विघटन का असली कारण है। छोटा भाई अजय यह सब जानकर भी चुप रहता था, मगर जब बड़े भाई ने उसकी पसंद-नापसंद का ख्याल न करते हुए मनमानी करके उसका ब्याह एक कम पढ़ी हुई तथा रोगिणी लड़की से कर देते हैं तब अजय को बहुत क्रोध आता है क्योंकि उसे पता था कि इसके पीछे भैया की ही चाल है और बड़े भैया नहीं

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 138

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 62

चाहते थे कि किसी भी हालत में अजय उनसे अलग हो जाए और पैसों का हिसाब माँगने लगे। लेकिन अब छोटे भाई अजय के लिए खामोश रहना मुश्किल हो गया था। उसे अंदर-अंदर ही यह बात काटती ही जा रही थी। अजय अपनी शादी वाले दिन ही अपने बड़े भाई से कहता है - "हाँ, बाबूजी के कमाए हुए धन में मेरा भी आधे का हक है।"[1] तब उसके बड़े भाई जो माँ को अपने वश में किए हुए होते हैं अजय को मारने के लिए दौड़ती है। तब उसका बड़ा भाई कहता है -"अम्मा! यह ऐसे नहीं मानेगा। इसका इलाज पूरी तरह करना पड़ेगा।" तब अजय ने जो इतने दिनों से बड़े भैया के इस व्यवहार से बौखलाए हुए था भड़क उठा - "क्या इलाज करिएगा? आप क्या कमाते हैं, पहले यह बताइए? मैं और मेरे बच्चे पाँच-पाँच रुपयों के लिए तरस जाएँ? छोटे भैया पॉप कार्न की तरह चहक रहे थे। माँ कुछ बोले, इससे पहले बड़े भैया का ही ठंडा स्वर, तुम सोचते हो धन बाँटकर बाबूजी की इज्जत ऊँची हो जाएगी और ये जीजा जी तुमको मुझसे अलग करके कल तुम्हारा रुपया रहने देंगे?"[2] इसके जवाब में छोटा भाई कहता है- "मुझे मालूम है रुपया कैसे रखा जाता है, और जीजाजी को दोष मत दीजिए। दोषी तो आप हैं आप ......"[3] इस प्रकार परिवार में भाइयों के बीच कलह होती रहती है। बदलते हुए परिवेश में भाई-भाई के संपर्क में विसंगत संपर्क के लिए अनेक महत्वपूर्ण कारक हैं जो भिन्न-भिन्न परिवेश में भिन्न प्रकार के होते हैं। परन्तु घुम फिरकर सबका मुख्य कारण 'धन' ही पाया जाता है।

अंतिम दशक में ऐसा भी देखा जाता है कि परिवार में जब तक भाई अविवाहित रहते हैं, तब तक उनमें मधुर संपर्क होते हैं, मगर जैसे ही वे लोग शादी कर लेते हैं तब उनके व्यवहार में अचानक से बदलाव आने लगते हैं। परिवार के संतुलन में व्याघात पहुँचता है। इसके चलते भाइयों में दरार पड़ने लगती है। इस अवस्था में एक छत के नीचे जीवन बसर करना उनके लिए कठिन हो जाता है। फिर बँटवारा होना स्वाभाविक है। 'पाँच आँगनों वाला घर' का राजन भी विवाह के पश्चात अपने भाई-भाभी से अलग हो जाता है जिन्होंने उसका अपने बच्चे की तरह पालन-पोषण किया था। राजन खुद स्वीकार करता है- "एक बीवी का मुँह क्या देख लेता है आदमी कि पता नहीं उसे क्या हो जाता है।

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 63
[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 64
[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 64

भूल जाता है कि कहीं कोई बहन, भैया-भाभी, माँ-बाप भी है।"[1] राजन को उसके बड़े भैया मोहन तथा ओमी भाभी ने उसके पढ़ा-लिखाकर खुद के बच्चा जैसा स्नेह करके एक बड़ा अफसर बनाया थ और इस बात को राजन भी हृदय से ग्रहण करता था और उन्हें अपने माता-पिता जैसा ही मानता था। मगर जब उसकी बीवी रम्मो आती है तब वह राजन को उसके भैया-भाभी तथा समस्त परिवार से अलग कर देता है। रम्मो को लगता है कि उसके पति के पैसे तथा पति पर उसका ही एकाधिकार है। राजन जब अविवाहित था तब वह अपने भैया-भाभी से एकमत था और उनका सम्मान करता था। मगर जब रम्मो से उसका विवाह हो जाता है तब वह भी चाहे-अनचाहे रम्मो का ही समर्थन करने लगा था। अगर वह चाहता तो रम्मो को समझा के उसका हृदय परिवर्तन कर सकता था, परंतु ऐसा नहीं किया। रम्मो ने राजन को ही बदल डाला। बदलते परिवेश में राजन जब बड़ा अफसर बन गया तब उसकी जीवन शैली में काफी परिवर्तन आने लगा। लेकिन मोहन भैया और ओमी भाभी जो बहुत ही सादगी तथा ईमानदारी से जीवन बिताते थे, राजन को धीरे-धीरे वे नापसंद होने लगे। इस कारण भी भाइयों में विसंगति उभरने लगी। राजन शादी के बाद जब एक बार अपने बड़े भाई के घर आया तब उन दोनों में एक प्रकार से कहासुनी होने लगी, तब राजन यह सोचता है - "अपने-अपने शौक हैं, अपनी 'चौइस' है। आपने पढ़ाया-लिखाया तब कोई रूक्का नहीं लिया था कि राजन का जीवन बिल्कुल आपकी तरह का होगा। आप यह चुनते हैं कोई कुछ दूसरा चुनता है। आप शराब नहीं पीते, राजन पीना पसंद करता है। आप शाकाहारी हैं, राजन को मांस खाना पसंद है। किसी को नहीं बनना आपकी तरह देवी-देवता, वह मनुष्य ....कमजोर मनुष्य बना रहना चाहता है तो? सीधे से क्यों नहीं कहते कि तुम इतने आराम से रहते हो - यह देखकर हम जलते हैं।"[2] इस कथन से पता चलता है कि बीसवीं सदी में कैसे सामाजिक व्यवस्था का परिवर्तन का प्रभाव परिवार पर पड़ता है और संबंध में तिक्तता बढ़ जाती है और मानसिक स्तर पर भी आदमी तंग दिल बन जाता है। परिवार में एक बार जो संबंध बिगड़ गया उसे फिर से जोड़ पाना मुश्किल है। बीसवीं सदी में जिस प्रकार संबंध में बिखराब हुए फिर कभी ठीक नहीं हो पाए, बस अधिक बिगड़ते ही चले। राजन के साथ ऐसा ही हुआ था। वह यह भी स्वीकार करता है -"रम्मो और

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 131
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 132

भाभी तो बहाना बने, भैया और उसमें ही कुछ हो चुका था इस बीच......जैसे इन तमाम **वर्षों,** बहती हुई हवा उनके मनों पर धूल की एक-एक और पर्त जमाती रही थी जो अब मैली पपड़ी का रूप ले चुकी थी.......सख्त-सख्त।"[1] मोहन और राजन के बीच दु:ख की बात यह है कि दोनों ही चाहते थे कि वे लोग आपस में मिल जुलकर रहें मगर आर्थिक विषमता इसके आड़े आने लगी क्योंकि छोटा भाई राजन बड़ा भाई मोहन की तुलना में अच्छे पद पर था। अत: दोनों के बीच अहं, ईर्ष्या, तिक्तता, स्वार्थ चुपके से अपना कार्य करने लगे। धीरे-धीरे दोनों में संबंध खराब होते चले गये और आगे चलकर राजन के बेटों में भी यही विसंगति दृश्यमान होने लगी। इस तरह से यह एक परम्परा चल पड़ी है और लोग इसे स्वाभाविक मानने के लिए बाध्य होने लगे हैं। तभी तो राजन कहता है - "अब वे करीब कभी नहीं आ सकेंगे। एक वक्त होता है प्रेम का, जब वह बीत गया है तो चाहे जितना मिलो, कोशिश करो......दूरियाँ ही हाथ लगती हैं, वे और फैलती हैं। इससे अच्छा तो मिलने से बचा जाए ताकि पुराना कुछ तो रहे।"[2] अत: बीसवीं सदी के अंतिम दशक में यही सच्चाई है।

4.4 वृद्ध समस्या

कहा जाता है मानव-विकास के साथ-साथ संस्कृति का भी विकास होता है। डॉ. प्रमोद कोव्वप्रत का कहना है - "संस्कृति में मानवीय जीवन दृष्टि और जीवन मूल्यों के प्राण तत्व पाये जाते हैं। मानवीय जीवन का बहुआयामी चित्र संस्कृति में मिलता है।"[3] परन्तु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इसका विरोधाभास उपलब्ध होता है। मानव विकास तो कर रहा था परन्तु उस समय जो संस्कृति विकसित हो रही थी वह मानव को किस ओर ले जा रही थी यह विचारणीय है। बीसवीं सदी में जहाँ भौतिक विकास अपने चरम पर था तब नैतिक विकास हाशिये पर बना हुआ था। 'जीवन-दृष्टि', 'जीवन मूल्य' आदि उस समय किताबी बातें लगने लगी थी। परिवार की नींव हिलने लगी। अत: यह समय भले ही आर्थिक विकास के कारण स्वरूप समाज को नयी दिशा प्रदान कर रहा था, परंतु पारिवारिक संगठन टूटन के कगार पर पहुँचे हुए थे। पारंपरिक जीवन मूल्य का परिवार में कोई स्थान ही नहीं बचा

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 144

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 132

[3] भारतीय जीवन मूल्य और ज्ञानपीठ पुरस्कृत हिंदी कवि - डॉ. प्रमोद कोव्वप्रत, पृ.सं. 144

था। समस्त संबंध मूल्यहीनता, अहं, स्वार्थ, कड़वाहट आदि विसंगतियों के कारण अपना अस्तित्व गंवा रहे थे। इस हालात में परिवार में वृद्धजन की अवस्था शोचनीय है। परंपरागत समाज में वृद्धजन एक भरे-पूरे परिवार में रहते थे। उनका अधिकांश समय परिवार के लोगों के बीच विशेषकर अपने पोते-पाती, नाती-नातिन की देख-रेख, बातचीत तथा परस्पर प्यार-स्नेह के क्षणों में बीत जाता था। इनके साथ ही उनका एक बड़ा समय परिवार के उत्सव-महोत्सव, तीज त्योहारों के आयोजनों आदि में बीत जाता था। क्योंकि जीवन के अंतिम पड़ाव पर उन्हें परिवार जनों के प्यार तथा सहानुभूति की अत्यंत आवश्यकता होती है। सभी के साथ मिल जुलकर जीवन बसर करना उनकी अंतिम इच्छा होती है। मिल जुलकर रहना संयुक्त परिवार में ही संभव है। लेकिन आधुनिक काल में संयुक्त परिवार के टूटने के कारण परिवार में वृद्धजनों की हालत दु:खदायी है। क्षमा गोस्वामी कहती हैं -"संयुक्त परिवारों का टूटना परिवार में वृद्ध पीढ़ी के लिए तो अभिशाप सिद्ध हुआ है। आज वृद्ध पीढ़ी स्वयं में अकेली होती जा रही है। अब न तो उनके मन बहलाने के लिए परिवार में बच्चों की चहल-पहल दिखलायी पड़ती है और न ही परिवार में मेल-जोल, तीज-त्योहार, उत्सव आदि का पुराने समय जैसा कोई वातावरण बनता है। फिर जहाँ संयुक्त परिवार के जैसे अवसर शेष हैं, वहाँ बच्चों की प्राथमिकताएँ बदल चुकी हैं।"[1] आधुनिक काल में वृद्धों का साथी उनके परिवार नहीं बल्कि उनके साथी है। केवल उनका 'अकेलापन' परिस्थिति उन्हें मजबूर कर देती है। उन्हें अपने में ही घुट-घुट कर यातनापूर्ण जीवन बिताते हुए मृत्यु की ओर बढ़ती हुई आयु को मापने के लिए। इस हालात में उन्हें मृत्यु ज्यादा प्रिय लगती है दु:खदायी जीवन से। घर में उन्हें अपने ही बाल-बच्चों द्वारा अनुपयोगी समझकर कचरे की तरह फेंक देने की प्रवृत्ति बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की देन है। बाजारवादी दौर में व्यक्ति को अपने से बाहर कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा है। अंतिम दशक में अनेक उपन्यासकारों ने वृद्धों के जीवन को आधार बनाकर उपन्यास लिखे हैं। गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में वृद्धों की समस्या को पीढ़ी दर पीढ़ी चित्रण किया गया है। वृद्धों की समस्या किस प्रकार समय क्रमेण विकटता के चरम पर पहुँची है इसका यथार्थ चित्रण गोविन्द मिश्र ने किया है। 'पाँच आँगनों वाला घर' उपन्यास

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 11

तीन पीढ़ी में व्याप्त एक परिवार की कथा कहती है। स्वतंत्रता पूर्व परिवार में जिस प्रकार वृद्धों की स्थिति होती थी, आगामी पीढ़ी में वृद्धों की स्थिति उससे भी दयनीय प्रतीत होती है। पुराने समय में फिर भी वृद्धों को एक साथ एक छत के नीचे परिवार जनों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त था और उनको देखते हुए ही उनकी मृत्यु हो जाती थी। राजन की दादी जब जिंदा थी तब वह अपने परिवार के साथ ही थी सभी बहू-बेटा, पोते-पोतियों के साथ और उनके सामने ही उनकी मृत्यु होती है। परन्तु राजन की माँ शान्ति देवी को यह सुख नसीब नहीं हो पाता है। राजन और उसके भाई सभी शहर में रहने के कारण शान्ति देवी गाँव में ही अपनी अंतिम श्वास छोड़ती है। दु:ख की बात यह है कि तबीयत ठीक न होने के बावजूद भी राजन, रम्मो उन्हें अपने पास नहीं आश्रय देते थे। तीन तीन बेटों के बावजूद भी शान्ति देवी अकेलेपन में अपना आखिरी दिन बिताती है। बीसवीं सदी की यही सच्चाई है। जहाँ लोगों में आधुनिक शिक्षा के कारण ज्यादा समझ तो आई है मगर मन कुंठित हो गया है। जाने-अनजाने ही सही यह एक मनोवृत्ति बन गयी है। आगे चलकर यह मनोवृत्ति और विकट स्थिति पर पहुँचती है। राजन जब अपनी माँ के इलाज के लिए उन्हें शहर लाकर अपने घर में रखना चाहता है तब रम्मो इसका विरोध करती है। रम्मो कहती है- "मगर मैं वह न करने दूँगी। मेरा घर अस्पताल नहीं है। न यहाँ आपके घर का मरीज आएगा, न मेरे घर का। आपको चाहिए तो देख-सुन बेशक आइए, चाहे तो इंतजाम करा आइए, लेकिन यहाँ लाकर रखने की जरूरत नहीं है। मैं अपने घर में मनहूसियत नहीं चाहती .....चार दिन जिंदगी के हैं उन्हें आहें-कराहें में काट दो, उँह!"[1] जिस माँ ने अपने बच्चों को पाल-पोसकर बड़ा किया था उसने सपने में नहीं सोचा होगा कि उसे यह दिन देखना पड़ेगा। आधुनिक काल ऐसा होता है कि जब तक तुम सक्षम हो अपने काम खुद कर सकते हो तब तक लोग तुम्हारे करीब रहेंगे, जैसे माता-पिता भी निस्वार्थपरक रूप से बच्चों के लिए सब कुछ करते हैं। और बच्चे भी स्वार्थ के खातिर माता-पिता पर आश्रित होते हैं, परन्तु जैसे ही उनमें भौतिक समझ विकसित होती है तब वे अपने मन के हिसाब से करने लगते हैं और उनकी असलियत तब सामने आती है जब उनके माता-पिता वृद्ध होते हैं। शान्ति देवी इस स्थिति का उदाहरण हैं। राजन चाहते हुए भी अपनी माँ के लिए

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 111

कुछ भी नहीं कर पाता है और वह बस पुरानी पीढ़ी और वर्तमान पीढ़ी के बीच जो असमानता है उसे याद करता रह जाता है - "एक हम पगलैट जो दादी-अम्मा थीं....उन्हें भी बनारस के घर में स्थान दिया था .....और कितने आदर के साथ। इन छोटे घरों, फ्लैटों में आकर हम वाकई छोटे हो गये।"[1]

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' में उन वृद्धों के बारे में चर्चा हुई है जो समय के अनुसार खुद को बदल चुके हैं और 'अकेलापन' को ही जीवन का ध्येय बनाकर आगे बढ़ते हैं। कृष्णा सोबती खासकर शहर में वृद्धों की क्या अवस्था है और किस प्रकार यह हालात से मजबूरन समझौता कर लेते हैं। इसका यथार्थ चित्रण हुआ है। ज्योतिष जोशी इस संदर्भ में कहते हैं - "एकाकीपन आरण्या को नहीं चुभता। वह अपनी गति से जीती जाती है और समाज के हर पेचोखम को पार करती जाती है। अपनी व्यक्तिता को संपूर्ण मानने के कारण कई बार वह भारतीय परिवारों की जटिलता और उसकी व्याधियों पर क्रुद्ध हो उठती है जिसमें अब वृद्ध नागरिकों के रहने की जगह नहीं बची है। अर्थकेन्द्रियता और स्वार्थपरता ने मूल्यों की बखिया उधेड़ दी है।"[2] अंतिम दशक में पारिवारिक विघटन अपने चरम पर गाँव तथा शहर दोनों में वृद्धों की स्थिति एक सी है, परंतु शहर में जो लोग शिक्षित होते हैं वृद्धावस्था में उनकी स्थिति कुछ आरण्या और इशान जैसी होती है। यह लोग धीरे-धीरे इस अवस्था को नियति मानने लगे हैं। चाहे यह बात इतनी आसान नहीं है, परंतु यह लोग 'अकेलापन' को समाज का नियम मानना श्रेयस्कर समझते हैं। इसलिए आरण्या अति सहन रूप से यह स्वीकार करती है - "अकेलों का यही इंतजाम। चाय है तो चीनी नहीं, चीनी है तो दूध नहीं। तरतीब और व्यवस्था की कमी।"[3] यह दु:खद स्थिति है सामाजिक व्यवस्था लोगों को किस प्रकार दमित करती है। आरण्या जो शहर में अकेली रहती है मगर वह कभी स्वयं को अकेली महसूस नहीं करती है। वह इसे स्वाभाविक मानती है। जीवन का विश्लेषण अत्यंत साहस के साथ करती है। स्थिति को समझने का भरसक प्रयास करती है। आरण्या कहती है -"दौड़ में थे तो अंदर थे। दौड़ से बाहर हैं तो बाहर। निपट बाहर। टैक्सी की तरह भाड़ा देकर बैठे हैं उसके अंदर और सड़कों को तय करते हुए भी सड़कों से अलग।

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 112

[2] उपन्यास की समकालीनता - ज्योतिष जोशी, पृ.सं. 154

[3] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 16

नए वक्त और पुराने हम।"[1]

आरण्या के इस कथन में बहुत ही गहन अर्थ छिपा हुआ है जो वेदना से भरा है। समाज में वृद्धों की स्थिति का यह खाका है। वह जितनी बार अपने अकेलेपन को भुलाने के लिए प्रयास करे और इसे सहज मानती रहे, घूम-फिरकर वह उसी घर-परिवार के बारे में सोचती रहती है, बात करती रहती है। आरण्या अपनी दोस्त से बताती है - "पारिवारिक घनिष्ठता से जी हुई पुरानी भाव-गठरी बेमानी हो चुकी है। शायद इसीलिए अपना पारिवारिक तानपुरा खामोश है। परिवार की सुगंध इतनी भी नहीं सुहाती कि संगीत की लय-ताल की तरह हर क्षण दिल तक पहुँचती रहे।"[2] इस कथन से पता चलता है कि कहीं-ना-कही आरण्या के मन में अपने अकेले होने का दु:ख है। पर उसे यह लगता है कि उस परिवार में जहाँ उसकी कद्र नहीं, कोई उसका हमदर्द नहीं, सब इतने व्यस्त हैं कि बस अपने सिवा और किसी की परवाह नहीं, तब वहाँ क्यों घुट-घुट कर रहकर अपने अंतिम समय को नर्क बनाये। इसलिए वह यह कठोर सत्य बोलती है - "आज का सच यह कि परिवार के ऊपरी ढाँचे की संगत और भीतरी तनावों से दूर यह शांत अब मुझे सुखकर लगता है।"[3] आरण्या तथा ईशान जो अकेले होने के कारण दोस्त बन गये थे। मगर ईशान जो विधुर है उसमें और आरण्या की सोच में भेद हैं। आरण्या के जीवन का विश्लेषण गहरी है। ईशान जहाँ वृद्ध होने के बावजूद भी संयुक्त परिवार में आस्था जमाये हुए है वहीं आरण्या उन्हें जीवन की सच्चाई वृद्धावस्था के सच्चाई बताती है - "ईशान, मुझे संयुक्त परिवार का अनुभव नहीं। दूर-पास से जो इसकी आवाजें सुनीं, वह सुखकर नहीं थी। इतना जानती हूँ कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता और गरिमा का मूल्य भी उन्हें चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। परिवार की साँझी श्री जैसे के व्यापारिक प्रबंधन में निहित है। उसकी आंतरिक शक्ति क्षीण हो चुकी है। घनी छाँह की जगह घिसी हुई पुरानी चिंदियाँ फरफरा रही हैं।"[4] आरण्या जो जीवन के अंतिम पड़ाव पर आ पहुँची है, उसके सामने अनुभव का सागर फैला पड़ा है जो उसे परिवार में अपनी स्थिति तथा परिवार के भविष्य के बारे में सूचित करती है और चिन्तित करती है। 'समय सरगम' उपन्यास में दमयंती

---

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 44
[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 63
[3] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 63
[4] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 64

जो कभी ईशान की सहेली हुआ करती थी उसके बारे में भी कृष्णा सोबती ने हमदर्दी जतायी है। पति की मृत्यु के पश्चात परिवार में दमयंती के साथ गैर जैसा व्यवहार किया जाता है। पुत्र-पुत्रवधु उसे हर चीज में रोक-टोक करते हैं। वह अपने मन के हिसाब से कुछ नहीं कर सकती। यहाँ तक दमयंती अपने अनुसार कपड़ा भी नहीं पहन सकती है। वह कहती है - "मेरे बेटों और बहुओं की सुनो- रेशम पहनूँ तो कहते हैं, इस उम्र में यह चमक-दमक अच्छी नहीं लगती। सूती पहनूँ तो वह भी पसंद नहीं। कहते हैं इनमें आप हमारी माँ ही नहीं लगतीं।"[1] घर में उसकी हीन अवस्था के कारण ही वह आश्रम जाती है। शान्ति ढूंढने के लिए ताकि उसके तनाव की मुक्ति हो। जब दमयंती आरण्या से मिलती है उसे लगता है कि काश वह भी अकेली रह पाती। इन बच्चों से दूर। यह बीसवीं सदी की विडम्बना है। घर में जो स्थिति होती है बूढ़े माता-"पिता उससे ऊब जाते हैं और वे घर में पुरानी मशीन की तरह अनचाहे पड़े रहते हैं। दमयंती आरण्या से कहती है - मैं तुम्हारी तरह अकेली होती तो क्यों परेशान होती - सच्चे साथ रहे हैं। मेरे घर में - मेरा किचन चल रहा है। खर्चा मैं कर रही हूँ। और मैं अपने कमरे में अकेली पड़ी रहती हूँ। बिना मेरी इजाजत मेरा सामान इधर से उधर करते रहते हैं। आरण्या मैं बहुत दु:खी हूँ।"[2] बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आर्थिक आपूर्ति में लोग इतना व्यस्त हो गये हैं कि उन्हें पैसों के सिवा दूसरा कोई अपना नजर नहीं आ रहा है। माता-पिता जो उसको इस संसार में लाये, उसे निस्वार्थपर स्नेह, प्रेम से बड़ा किया है, उन्हें भी पैसों से निकृष्ट समझता है। बड़े होने के पश्चात बच्चों को अपने माता-पिता पुरातनपंथी, गंवारू लगने लगते हैं। कभी-कभी तो हालात यह भी हो जाता है कि बच्चे अपने माता-पिता का परिचय अपने दोस्त-मेहमान के साथ करने में कुंठित होते हैं। दमयंती के साथ भी कुछ ऐसा ही व्यवहार उसक बहू-बेटे करते हैं - "बच्चों की ऐसी हरकतों से मेरा धीरज खत्म हो रहा है। फ्लैट के कागज माँग रहा है बेटा। डॉक्टर के पास गई थी तो पीछे से बहू ने मेरा दीवान उठवा अपने कमरे में रख लिया। कहा, उसे पसंद है। सुनो, मुझे इस कमरे से निकलने की इजाजत नहीं। मैं ड्राइंग रूम में अपने मेहमानों को नहीं बिठा सकती।"[3] कृष्णा सोबती ने इस उपन्यास में वृद्ध समस्या को भी स्त्री

---

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 72
[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 74
[3] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 74

विमर्श की दृष्टि से देखने के लिए प्रयास किया है। अगर हम गौर से सोचेंगे तो पता चलेगा कि परिवार में जब तक माता-पिता दोनों जीवित होते हैं उनकी स्थिति फिर भी सही होती, परंतु यदि पिता की मृत्यु के पश्चात केवल माता जीवित रहती हैं उनकी स्थिति असहनीय हो जाती है। इसलिए तो दमयंती कहती है - "मेरी सब पुरानी चीजें मौजूद हैं। सिर्फ मैं अपनी जगह पर नहीं हूँ। एक के जाने से देखते-देखते इतना बड़ा फर्क!"[1] दमयंती को अपने घर में अपनी इच्छा से खाना भी नसीब नहीं हो पाता, जब जिसका मन होता वह उन पर बरस पड़ता है। बिना सोचे कि माँ पर क्या गुजरती होगी। अपने ही घर में दयमंती रोज मर-मर के जी रही है। अपने बेटों से वह इस प्रकार से डरी हुई होती है जैसे वे कोई राक्षस हैं। ईशान और आरण्या जब दमयंती के घर आये हुए थे तब उसके मझले बेटे ने हंगामा खड़ा कर दिया। उनके सामने ही माँ को भला-बुरा कहता है। तब दयमंती इतनी डरी हुई होती है कि "दम्मो के चेहरे पर जाने कैसी बुढ़ापे की घबराहट सी फैल गयी। आरण्या का हाथ दबाकर कहा- आज मेरे साथ रूक जाओ। मेरा बेटा बड़ा कठोर है। रात भर बकारा करेगा।"[2] लेकिन तीनों के हालात एक से हैं, सब बुढ़ापे की मार से हताश हैं। कृष्णा सोबती कहती हैं -"क्या सचमुच कोई किसी की मदद करने के काबिल है!

तीन जोड़े ठंडे हाथ। कहीं किसी में गरमाहट बाकी है क्या! नए बच्चों का सामना करने की हिम्मत भी है?

ममता!

माँ सिर्फ ममता ही है क्या!

क्या उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता, पति और पुत्र के हाथ में हैं!"[3]

अंतिम दशक में पति के बिना पत्नी हर अवस्था में चाहे वह बचपन हो या यौवन हो या बुढ़ापा में यातनापूर्ण जिंदगी जीने के लिए मजबूर है। बुढ़ापा में भी उसे अपने हिसाब से जिंदगी जीने की छूट नहीं है।

---

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 75

[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 77

[3] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 77

'समय सरगम' के और एक पात्र कामिनी की भी अवस्था दयनीय है। उम्र के अंतिम पड़ाव पर उसका कोई हमदर्द नहीं है। अपने परिजन उससे शत्रु जैसा व्यवहार करते हैं और उसकी मृत्यु में ही अपना हित देखते हैं। उसके सगे भाई-भाभी चाहते हैं कि वह जल्दी मरे और सारी संपत्ति पर उनका कब्जा हो। दु:ख की बात यह है कि उसके भाई ने कामिनी को फार्म हाउस में कैद करके रखा है और खुद बाहर रहता है। पर जब भी आता है संपत्ति के कागजात लेकर चला जाता है। बहन के लिए एक नौकरानी रखा था जो उसका ख्याल रखने के साथ कामिनी पर नजर भी रख सक। वही नौकरानी कामिनी को बाहर से ताला लगाती-खोलती थी। भाई-बहन जो बचपन से ही एक साथ पले-बढ़े, साथ-साथ दुनिया को जाना पहचाना पर बड़े हो जाने के बाद दोनों के मध्य केवल धन की खातिर ही मधुर संपर्क खत्म हो गया। और बात यहाँ तक आ पहुँची है कि कामिनी का भाई संपत्ति के लिए बहन की हत्या भी करना चाहता है। कामिनी अपने भाई-भाई पर शक करती है - "भैया और भाभी अपने घर में नहीं बुला रहे। फार्म पर वहाँ तो मैदान साफ है। कोई भी मेरा गला घोंट सकता है।"[1] वृद्धावस्था में कामिनी अपने ही बनाये घर में ही घुट-घुट कर जीती थी। उसके भाई-भाई उसकी पीठ पीछे कामिनी की समस्त संपत्ति अपने नाम कर लेते हैं। कामिनी को बाहर वालों से यह पता लगता है कि उसके घर का सौदा हो गया है। कामिनी, दोस्त ईशान और आरण्या से कहती है - "मुझे दलाल बता गया है कि भाई ने मेरे घर का सौदा कर लिया है। बयाना ले चुका है! खूकू ने मुझे हीं बताया पर बिल्डर दो बार घर को आगे-पीछे और अंदर से देख गया है। मैं तब सोई पड़ी थी।"[2] कामिनी जो कहती है कि वह सोई पड़ी थी इसके पीछे भी उसके भाई की ही चाल है। उसने कामिनी को अपने भिजाये हुए डॉक्टर के द्वारा नींद की दवाई दिलाता था ताकि बहन हमेशा सोई रहे और वह अपना काम करता रहे। कामिनी का भाई यह भी सोचता था कि एक दिन बहन को नर्सिंग होम भेज देगा और घर बेचकर पैसा हजम कर लेगा। यह सब बात नौकरानी खूकू को पता होती है। वह ईशान से कहती है - "बड़े भाई मुझसे बोल गए हैं कि दो-चार दिन में इन्हें नर्सिंग होम में भेज देंगे। साहिब, मुझसे मेम साहिब की **तालियाँ** माँग रहे

---

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 97

[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 98

हैं।"[1] ज्योतिष जोशी का कहना है - "उपन्यास में इस बात का उल्लेख नहीं है कि कामिनी विवाहिता रही है या उसकी कोई सन्तति भी है; पर उसकी स्थिति से यही लगता है कि एकाकी जीवन ही जीती रही होगी। प्रश्न यह नहीं है कि उसने विवाह किया या नहीं; प्रश्न यह है कि जीवन के अंतिम चरण में उसके रक्त-संबंधी उसके साथ क्रूर और जघन्य खेल क्यों खेलते हैं? क्या सगा भाई अपनी वृद्ध बहन को चैन की मृत्यु भी नहीं देना चाहेगा?"[2] इससे हम अंदाज़ा लगा सकते हैं कि अंतिम दशक में हमारी सामाजिक तथा पारिवारिक मर्यादा किस घटियापे पर उतर आई थी। समस्त रिश्ते-नाते बस दिखावा बनते जा रहे थे। असलियत कुछ और छुपी हुई थी। पैसों के बल पर या पैसों के लिए लोग बेईमान बनते जा रहे थे। परिवार में गुरुजनों के प्रति सम्मान, आदर में न्यूनता परिलक्षित होने लगी थी। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में परिवार की स्थिति तथा उसमें वृद्धों की अवस्था के बारे में कृष्णा सोबती ने बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है - "घर से बाहर ताजी पीढ़ी की अंतरंग शामों से अलग। बेटे-बहुओं को सहूलियत हो जाती है। घर-परिवार में अधिकार कमतर होते चले जाते हैं। आशीर्वाद के लिए नमस्कार, प्रणाम। एक संग परिवार में रहते जाने की गरमाहट का बोध और दबाव। दोनों बुढ़ापे की यही अवस्था और यही व्यवस्था। जगह की कमी। बच्चे भी गलत नहीं। दो-तीन कमरों के घरों में दो पीढ़ियाँ किसी तरह एक-दूसरे को निभाती हैं।"[3] यही अंतिम दशक की सच्चाई है यहाँ बस रिश्तों को किसी भी तरह निभाया जाता है। नैतिकता का ह्रास हो रहा है और युवा पीढ़ी वृद्धों के साथ पराये भाव से पेश आ रहे हैं। सब जानते-समझते हुए भी लाचार हैं।

4.5 परिवार में यौन शोषण

परिवार मानव समाज के संगठन की प्राथमिक इकाई है। जहाँ एक छत के नीचे बंधुत्व संबंधों के साथ सब रहते हैं। या यों कहें तो परिवार के सदस्य परस्पर बंधुत्व अथवा नातेदारी संबंधों से संबंधित होते हैं। परिवार में सबका कर्तव्य होता है कि वे एक-दूसरे की हिफाजत करें खासकर के पुरुष का कर्तव्य होता है वह स्त्री को सुरक्षा प्रदान करे। जो प्रथा आदिम काल से चली आ रही है। परिवार

---

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 100

[2] उपन्यास की समकालीनता - ज्योतिष जोशी, पृ.सं. 156

[3] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 106

एक ऐसा स्थान है जहाँ सब खासकर स्त्री निडर होकर रह सकती है। वह स्वयं को परिवार के अंदर सुरक्षित महसूस करती है। परिवार के भीतर पिता, भाई, पति के रूप में पुरुष स्त्री की सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा सदियों से प्रदान करता आ रहा है। स्त्री के लिए परिवार एक सुरक्षा कवच है।

परंतु अब समय बदल गया है। रक्षक अब भक्षक बन बैठा है। स्त्री आज परिवार में स्वयं को असुरक्षित महसूस करती है। परिवार के बाहर स्त्री को दुर्दशा तो होती है मगर परिवार के अंदर भी वह शोषित हो रही है। हर तरह का शोषण जैसे मानसिक, आर्थिक तथा खासकर दैहिक शोषण के कारण स्त्री के लिए पारिवारिक जीवन आज दुभर बनता जा रहा है। पारिवारिक विसंगति की इस स्थिति के कारण स्त्री कहीं पर भी सुरक्षित नहीं है। पिता तथा भाई के आसन में बैठा पुरुष उसका समय-समय पर शोषण कर रहा है। देखा जाए तो स्त्री हमेशा से ही अपने परिवार में शोषित होती रही है। मगर वह खुलेआम बोल नहीं पा रही थी क्योंकि वह उन पुरुषों पर ही आश्रित होती थी। उसकी भाग्य डोर पुरुष के हाथ में होती थी। मगर आत्मनिर्भरशीलता के फलस्वरूप स्त्री अपने जीवन के कई अनछुए पन्नों का खुलासा आज करने लगी है।

प्रभा खेतान के 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नायिका प्रिया का दैहिक शोषण होता है। इस उपन्यास में एक स्त्री अपने परिवार में किस प्रकार अपने बड़े भाई के द्वारा योन शोषण का शिकार होती है इसका चित्रण प्रभा खेतान ने किया है। एक भाई जो बहन की रक्षा कवच होता है, जो रक्षा बंधन के नाम पर उसे दुनिया की बुरी नजरों से बचाने का वचन देता है वही खुद अपनी बहन का यौन शोषण करता है। इससे घिनौनी स्थिति और क्या हो सकती है? 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया अपने बड़े भाई के द्वारा यौन शोषण की घटना को अपनी दाई माँ से कहती है - "बड़े भैया ने आज मुझे ......"[1] और उसकी दाई माँ को प्रिया की हालत देखकर स्थिति का अंदाजा लग जाता है और वह बोलती है - "अरे जालिम, अरे कसाई, अपनी सगी बहन को भी नहीं छोड़ा।"[2] और उसका भाई एक बार नहीं बल्कि कई बार उसके साथ दैहिक संबंध स्थापित करता है। दु:खद बात यह है कि प्रिया जब केवल दस साल की थी तब से ही उसका भाई उसके साथ यह जघन्य काण्ड रचाता रहा था। लेकिन जब प्रिया में समझ पैदा हुई

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 16
[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 16

तब वह इसका विरोध करती है। प्रिया के लिए अपने परिवार में रहना अत्यंत कष्टदायी था। वह अपने परिवार में ही सुरक्षित नहीं थी तभी तो वह कहती है - "सुरक्षा, मुझे सुरक्षा की जरूरत थी ताकि कोई मुझे बड़े भैया से बचा ले। मैं वे रातें भूल नहीं पाती जब भाभी जी बेहद बीमार रहने लगी थीं और भैया मेरे और सरोज के कमरे में सोया करते थे। रात को चुपके से रेंगकर मेरी ओर उनका आ जाना। उनका बदन मेरी पीठ से सटा रहता।"[1]

प्रिया जब बहुत छोटी थी तब से उसका भाई उसका शोषण करता आ रहा था। लेकिन जब प्रिया बड़ी होने लगी तब वह इसका विरोध करने लगी। प्रिया ने अपने भाई को धमकी दी तब जाकर उसके भाई का वह जघन्य कार्य बंद हुआ। लेकिन उसके पश्चात प्रिया को गहरी घृणा तथा उपेक्षा का शिकार होना पड़ा। वह कहती है - "खैर उसके बाद कभी कुछ नहीं घटा। बस बदले में मुझे झेलनी पड़ी गहरी घृणा और उपेक्षा। फीस के पैसे नहीं देते। छोटी-छोटी जरूरत का मोहताज होना।"[2]

परिवार के भीतर यौन शोषित होने के कारण प्रिया का जीवन बिखर कर रह जाता है। न वह अपने मायके में खुश रह पाती है, न ससुराल में। भाई के इस घृणित कार्य के कारण वह बहुत जल्दी बड़ी हो जाती है जिसके कारण वह परिवार में सबसे उपेक्षित होती है। लेकिन प्रिया को इस बात का पता बड़ी होने के बाद मालूम होता है। वह कहती है - "ओह! तो मेरे असमय पकने के कारण बड़े भैया हैं। बस इस एक समझ से शरीर के पोर-पोर में जहर रिस गया। बड़े भैया? उन्हीं के कारण पहले पीरियड, अब यह उभार और यदि बात और आगे बढ़ती तो मेरे पेट में बच्चा! वह भी भाई का, अपने ही खून का!"[3]

इस वजह से प्रिया की जिंदगी तहस-नहस हो जाती है। उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। प्रिया कहती है - "मेरे व्यक्तित्व को किसी ने बीच में से चीरकर दो टुकड़े कर दिये थे। एक विद्रोह में जलती हुई आग थी तो दूसरी भयाक्रांतता।"[4] लेकिन वह अपनी इस हालत को घर के किसी सदस्य से कह नहीं पाती है। माँ के होते हुए भी दाई माँ उसका पालन-पोषण करती है और प्रिया दाई माँ से ही

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 47
[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 48
[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 72
[4] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 72

सब खुलकर बताती थी क्योंकि पूरे घर में दाई माँ ही उसे प्यार करती थी पिता के अलावा। परिवार में स्त्री की ऐसी स्थिति होती है कि वह कोई भी बात खुलकर नहीं बोल पाती है और खुद स्त्री ही स्त्री का साथ नहीं होती। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की कोई आवाज नहीं होती है। इसलिए दाई माँ प्रिया से कहती है - "काहू से मत कहिह बिटिया, कभी नाहीं।"[1] क्योंकि दाई माँ जानती थी कि कहने से केवल प्रिया की ही बदनामी होगी क्योंकि पुरुष को कोई दोष नहीं देता है। एक स्त्री खुद भी पुरुष का ही पक्ष लेती है। प्रिया कहती है - "अम्मा अपने बेटे को नहीं निकालतीं, बेटे की तरफदारी करतीं और मुझे ही ब्याहकर घर से बाहर कर देतीं। यह तो होता आया है हमेशा से।"[2]

प्रभा खेतान ने इस उपन्यास का नाम 'छिन्नमस्ता' इसलिए रखा है क्योंकि नायिका प्रिया जो अपने परिवार में शोषित होती है और अपने भाई की ही वासना के कारण ही उसका बचपन, यौवन से छिन जाता है। उसका व्यक्तित्व तहस-नहस हो जाता है। वह कहीं की नहीं रह जाती है। उसका अस्तित्व ऐसे खंडित होता है जैसे शरीर से मस्तक खंडित होता है। वह कुंठा, अपराध बोध, भय से जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर हो जाती है। जब एक स्त्री अपने परिवार में ही सुरक्षित नहीं है तो परिवार के बाहर उसकी हालत के बारे में हम अंदाजा लगा सकते हैं।

परिवार में स्त्री कैसे शोषित होती है इसका मार्मिक वर्णन 'कठगुलाब' उपन्यास में मृदुला गर्ग भी करती हैं। रक्षक बना हुआ पिता समान जीजा अपनी साली का यौन शोषण करता है और दु:ख की बात यह है कि अपनी पत्नी के सामने निडर होकर अपनी साली पर अत्याचार करता है। 'कठगुलाब' उपन्यास में स्मिता को अपनी माता-पिता के गुजर जाने के कारण अपनी शादी शुदा बहन नमिता के घर शरण लेनी पड़ती है। लेकिन उसका जीजा उसपर मानसिक तथा शारीरिक अत्याचार करता है। वह शांति से नहीं रह पाती है। उसकी कुछ आवाज नहीं होती है और बहन नमिता भी अपने पति से कुछ नहीं कह पाती है क्योंकि वे दोनों आत्मनिर्भर नहीं हैं। अत: स्मिता के लिए दूसरा रास्ता नहीं था। वह अपनी बहन के घर में रहकर जीजा के अत्याचार सहने के लिए मजबूर हो जाती है। उसका जीजा उसका हर तरह से शोषण करता है। जीजा चाहता है जो कोई भी मोटा, अधेड़ या **गावदी** लड़का बिना

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 72

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 72

दहेज शादी करने को तैयार होगा उससे स्मिता की शादी करवा देगा। कोई भी लड़का स्मिता को देखने के लिए आता है तो उसका जीजा उसे बताता है कि कैसे लड़का को पटाना है मगर बहुत अश्लील तरीके से। वह कहता है- "एस.ए. जानती हो न, सैक्स अपील, बेबी, कल जब वह आएगा तो यूँ, जैसे बेखयाली में हो, उसे छूते हुए गुजर जाना फिर यूँ......"[1] और वह जो बोलता है उसे प्रैक्टिकल करके दिखाता भी है। वह सिर्फ स्मिता को छूने के लिए तैयार रहता है। मौका मिलते ही वह उस पर वार करता है। स्मिता देखने में अच्छी न होने के कारण उससे कोई शादी करने के लिए तैयार नहीं होता है। उसका जीजा इस मौके का फायदा उठाते हुए उसे अपनी वासना का शिकार बनाता है। वह स्मिता को दरवाजे पर दबोच लेता है और एक भरपूर चुम्बन ओठों पर देकर बोला, "ऐसे जाकर चूम उसे। फिर देख, कैसे नहीं करता शादी।"[2]

स्मिता का जीजा उसे चैन से रहने नहीं देता है। हमेशा उससे बुरा बर्ताव करता है। ताना मारता रहता है। स्मिता आगे पढ़ना चाहती है मगर वह उसे पैसा नहीं देता है और ऊपर से गंदी-गंदी गालियाँ भी देता है। वह कहता है - न सूरत, न नाजो -अदा। कोई इसको हाथ लगाने से रहा .....हा-हा-हा। हमारे सिवा।" और वह केवल ऐसा नहीं बोलता है और फौलादी पंजे से कंधा जकड़, उसने उसे अपने ऊपर गिरा लिया था। नमिता देख नहीं पायी थी कि उसकी दुहरी हुई देह के नीचे पति की हथेली उसका वक्ष दबोचे थी।

स्मिता के लिए जीवन में सबसे दु:खद घटना तब घटती है जब उसका जीजा उसका बलात्कार करता है। पिता समान जीजा जो उसे अपने घर में आश्रय दिया हुआ था वही उसके साथ घिनौना कांड रचता है। स्मिता अपने जीजा के अश्लील हरकतों से परेशान तो थी मगर उसका जीजा ही उसके साथ बलात्कार जैसा जघन्य कांड भी कर सकता है वह कभी सोची नहीं थी। सबसे दु:खद बात यह है कि उसका बलात्कार जीजा के घर में ही होता है। इसलिए उसे अपने जीजा पर संदेह होता है। स्मिता और उसकी बहन नमिता दोनों अपने ही घर में सोये होते हैं जब उसके साथ यह भयानक हादसा हुआ। उसे पता ही नहीं चलता है कि कब नमिता उसके बराबर से उठकर चली गयी और कब वह नर पिशाच

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 14

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 15

भीतर घुसा। स्मिता के साथ वह हादसा कुछ ऐसा घटित होता है - "जब आँख खुली तो कमरे की बत्ती जल रही थी। उसके हाथ खाट से बँधे थे। सामने आदम कद शीशा रखा था। फोकस में न आती। धुंधली प्रतिछाया उसमें देख, वह पूरा दम लगाकर चीखी तो उसका मुँह कपड़ा ठूँसकर बंद कर दिये गये। उसे पूरी तरह नग्न करके उसने उसके बदन के हर हिस्से पर थूका, उस पर खुद को लथेड़ा। आँखें बंद करने पर, खींचकर पलकें ऊपर उठायीं और देखने पर मजबूर किया। न मानने पर छातियों पर लात-घूँसे बरसाये।"[1] दु:ख की बात यह है कि चश्मे न होने के कारण स्मिता को उस आदमी को पहचानने में कठिनाई हुई। "गनीमत सिर्फ इतनी थी कि बिना चश्मे, वह इतना कम देख पाती थी कि अपने बदन पर ढाया जा रहा कहर उसे धुँधला-धुँधला ही दिखा था। उसे भोग लेने पर वह एक दबी, धीमी क्रूर हँसी हँसा था और उसे गूँगा, बँधा और नंगा छोड़कर बाहर निकल गया था।"[2] स्मिता को लगता है कि उसका जीजा ही उसका बलात्कार किया है। मगर वह उसे पहचानने में असमर्थ होती है। स्मिता को जीजा पर संदेह था। इसलिए वह नींद में गोते लगाती तय करने की कोशिश करती रही - "क्या वह जीजा था? या कोई और था? क्या नमिता जानती है, वह जीजा था? या वह विश्वास करती है कि वह कोई चोर था? क्या वह जीजा था पर नमिता सोचती है कि वह नहीं था या सचमुच वह कोई और था और नमिता सोचती है वह जीजा था? क्या वह जीजा था? या नहीं था ......"[3] और इस रहस्य का खुलासा उपन्यास के अंत में ही खुलता है कि स्मिता का बलात्कार और कोई नहीं बल्कि उसका जीजा ही किया था और नमिता को भी यह बात मालूम थी। नमिता कहती है - "मैंने तेरे जीजा से तेरा बदला ले लिया।"[4] लेकिन जीजा का बलात्कार का शिकार स्मिता की जिंदगी तब तक तहस-नहस हो जाती है। अपने घर में ही बलात्कार का शिकार होने के कारण उसे घर से भागना पड़ा और जीने के लिए उसे दर-दर भटकना पड़ा और उसकी मानसिक स्थिति इस तरह से हो गई कि वह तेज रोशनी और आईना से सारी उम्र नजरें चुराती रही। और इस तरह उसकी जिंदगी अंधकारपूर्ण बन गयी थी। रोजमर्रा की जिंदगी जीना भी उसके लिए दूभर बन जाती है। दुकान में तेज रोशनी होने के कारण वह

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 21

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 22

[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 24

[4] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 206

सामान खरीदने भी नहीं जाती है - "सुपर मार्किट जाना टाल रही हूँ। मन नहीं करता। डर? जो समझो।"[1] स्मिता अपनी दीदी का घर छोड़कर विदेश चली जाती है और वहाँ जाकर एक साइक्याट्रिस्ट जिम जारविस से शादी कर लेती है। लेकिन जिम उससे प्यार नहीं करता है बल्कि स्मिता के अंदर बलात्कार के कारण जिन मनोदशा का उत्पन्न होता है उनका अध्ययन एवं विश्लेषण करना ही उसका मुख्य उद्देश्य होता है। जिम सोचता है - शादी के बाद, वह अपना पूरा ध्यान उन आश्चर्यजनक आयामों के अध्ययन में लगा सके। स्मिता का हर डर, हर पूर्वाग्रह, रुचि-अरुचि, अनुभव, जारविस के शोध में देने लगा।"[2] स्मिता को अपने पति में भी जीजा ही नजर आता है। और वह वहाँ से भी भाग निकलती है। इस तरह से एक सामान्य तथा शक्तिपूर्ण जीवन वह नहीं जी पाती है।

'कठगुलाब' उपन्यास में नर्मदा भी एक ऐसी ही स्त्री पात्र है जिसका परिवार में ही शोषण होता है। नर्मदा का जीजा भी उस पर अत्याचार करता है। उसे मारता-पिटता और ताना मारता था। उसका जीजा गर्व के साथ नर्मदा की बहन से कहता है - "देख सारे मरदजात पैदा किये। तेरे बाप की तरह नहीं कि एक पागल और एक राँड करके फेंक आया दूसरों के दरवाजे पर, कि ले पाल। चल कोई नहीं एक लड़की होनी चाहिए बालकों की देखभाल को।"[3] नर्मदा और उसके भाई की कमाई से जीजा का घर चलता था फिर भी वह इन पर अत्याचार करता था। और तो और जिस घर में जीजा रहता है वह घर नर्मदा की माँ का घर है। फिर भी उसका जीजा उन पर अत्याचार करता रहता था और जब नर्मदा की बहन गंगा उसे यह चेताती है तब गुस्से के मारे नर्मदा एवं उसके भाई को मारने पीटने लगता है। लेकिन शातिर दिमाग वाला नर्मदा का जीजा षड्यंत्र करके नर्मदा से अपनी पत्नी के यानी नर्मदा की बहन गंगा के होते हुए शादी कर लेता है ताकि वह घर से बेघर ना हो जाए और अलग होकर उसके साली एवं साला उससे अपना हिस्सा ना माँगे। जीजा के इस कारनामे में नर्मदा की दीदी भी शामिल है और नर्मदा को बिना बताये वह अपने पति के साथ नर्मदा का विवाह कर देती है। जब नर्मदा गंगा से पूछती है उसकी शादी किससे की जा रही है तो वह पहले उसे कुछ नहीं बताती क्योंकि सच पता चल जाने से

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 35
[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 35
[3] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 139

नर्मदा कभी शादी नहीं करती। नर्मदा एवं गंगा की बातचीत कुछ इस प्रकार से होती है - नर्मदा संदेह से पूछती है- "पर .....मैंने कहा, "लड़का?

पहले देखने ना आवेगा?"

"देखी पड़ी है, "उसने कहा, "वो रहा लड़का"

"कहाँ। वहाँ तो कोई ना है।"

"दीख ना रहा, वो भरा-पूरा मरद?!"

"वो तो जीजा है।"

"उसी से है तेरी सादी।"[1]

4.6 विवाहेत्तर संबंध

विवाह के पश्चात पति अथवा पत्नी अगर किसी अन्य स्त्री अथवा पुरुष के साथ दैहिक संबंध रखते हैं उसे विवाहेत्तर संबंध कहा जाता है। आधुनिक समाज में पति-पत्नी के संबंध के टूटने का यह एक मुख्य कारण है। विवाह को भारतीय समाज में अत्यंत पवित्र माना जाता है, जहाँ पति-पत्नी सिर्फ दैहिक नहीं, मन तथा आत्मा के स्तर पर मिलन होता है। जो एक आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। परंतु बदलते परिवेश में पति-पत्नी के मध्य एक या दूसरे कारणों से अतिशीघ्र तनाव उभरते दिखते हैं, फलस्वरूप वैवाहिक जीवन में रागात्मकता कम और अपेक्षाएँ अधिक दिखाई देती हैं। भारतीय संस्कृति में स्त्री-पुरुष के यौन संबंध को केवल विवाह के द्वारा ही स्वीकृति दी गई है। बिना विवाह के इस संबंध को असमाजिक माना जाता है और विवाह के बाद पत्नी तथा पति के अलावा तीसरे के साथ यौन संबंध को अवैध माना जाता है। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक व्यवस्था में जो उथल-पुथल हुई उसके प्रभाव के कारण पति-पत्नी के संबंध में दरार पड़ने लगी। और मोहभंग होने लगा। जिसके कारण पति-पत्नी के मध्य परस्पर निर्भरता के स्थान पर मुकाबले और प्रतिद्वंद्विता की भावना अधिक दिखलाई पड़ने लगी। ऐसी स्थिति में एक मन एक प्राण होकर एक साथ जीवन बिताना दोनों के लिए दूभर बन जाता है। तब इस संबंध से दोनों कतराने लगते हैं तब पति दूसरी औरत और पत्नी दूसरे

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 152

पुरुष के प्रति आसक्त होते हैं। ऐसा नहीं है कि पारम्परिक समाज में विवाहेत्तर संबंध नहीं होते थे। राजा-महाराजाओं ने भी अनेक स्त्री के साथ यौन संबंध रखे थे ऐसा हमारे आदि ग्रंथ से ज्ञात होता है। परन्तु जो बात पुरातन युग में केवल राजा-महाराजाओं तक सीमित थी आधुनिक युग में यह आम बात बन गई। दूसरी बात यह है कि पहले केवल पुरुष विवाहेत्तर संबंध स्थापित करते थे, परन्तु अंतिम दशक तक यह स्त्री के लिए भी लागू हो गया। क्षमा गोस्वामी कहती हैं – "वस्तुत: इस स्थिति के पीछे स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा, आर्थिक स्वावलम्बन, पनपते आत्मविश्वास को ही देखा जा सकता है। इनके कारण आज एक स्त्री अपने परिवार में पति के एकाधिकार और अन्याय के विरोध में आवाज उठा सकती है।"[1] यहाँ से ही दोनों स्त्री-पुरुष में मतान्तर प्रारंभ हो जाता है। दोनों में अनेक विसंगतियों का उद्भव होना स्वाभाविक बन जाता है और वे एक दूसरे से जी चुराने लगते हैं। दोनों को बस एक दूसरे की बुराइयाँ नजर आने लगती हैं। इस हालात में दोनों तीसरे में सुख ढूँढने लगते हैं बजाय दोनों के संबंध को सुधारने के।

अंतिम दशक में विवाहेत्तर संबंध का चित्रण अधिकांश उपन्यासों में किया गया है। पहले इस प्रकार के संबंध को खुलेआम कहने का प्रयास इतना ज्यादा नहीं हुआ था, मगर अंतिम दशक के साहित्य में सामाजिक प्रभाव के कारण इसका चित्रण अधिक मात्रा में होने लगा। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास में बलवंत गार्गी ने भी विवाहेत्तर संबंध की भयावहता का चित्रण किया है। काम केन्द्रित समाज में नारी तथा पुरुष दोनों के लिए कामुकता एक अहम बात बनी हुई है। समाज में बहुत खुलापन के कारण दोनों ही अपना अस्तित्व खोकर अनैतिकता की खाई में स्वयं को गिरा रहे हैं। नायिका शालु विवाहिता होने के बावजूद भी अपने पति परवेज से तृप्त नहीं हो पाती थी अत: पति का घर उसे कैद जैसा लगता था और उससे भाग निकलना चाहती थी। शालु कहती है- "मैं यही बातें सोचती रही। क्यों एक ही मर्द की बनकर रह जाऊँ, चारदीवारी में घिरी हुई बाँदी।"[2] शालु में काम इच्छा इतनी प्रबल थी कि उसे उसके पिता की उम्र समान पति संतुष्ट नहीं कर पाता था। अत: उसे परवेज अच्छा नहीं लग रहा था। एक समय था जब दोनों ने प्रेम विवाह किया था परन्तु केवल कामेच्छा की तृप्ति न होने के

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 5
[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 24

कारण शालु परवेज को छोड़कर अन्य मर्दों के साथ यौन संबंध स्थापित करती है। एक विवाहित नारी होकर शालु कहती है- "आखिर में क्या चाहती थी? तृप्ति! काहे की तृप्ति! मैं अतृप्त थी। मुझे अपने हुस्न और जवानी को शिद्दत से भोगना चाहिए था ताकि हर क्षण, एक हजार क्षण हो जाए, एक लाख क्षण! बेशुमार, अनंत, फैल जाए। और मैं इसकी गोद में समा जाऊँ।"[1]

शादी शुदा औरत होने के बावजूद बॉवी तथा कपिल आदि पुरुषों को शालु ने कामतृप्ति के लिए आकर्षित किया। वह स्वयं इसको स्वीकार करती है- "रोजी को क्यों दोष दूँ। उस रात, मैं तैयार बैठी थी किसी की बाहों में जाने के लिए। भला मैंने क्यों चुस्त जींस और ऐसी शर्ट पहनी थी जिसके ऊपर के दो बटन खुले थे। क्यों बालों को आवारा छोड़ रखा था? क्यों चाकलेट रंग की लिपस्टिक लगाई थी? और क्यों ड्यूक सैंट मली थी अपनी छातियों और गर्दन पर? सैक्स मेरे अंदर घूम रहा था। मेरी अपनी ख्वाहिश और मेरे अपने ख्वाब मचल रहे थे। किसी अनजाने भोग की सनसनी मेरे अंदर पहले से ही मौजूद थी।"[2] क्या इसे हम स्त्री स्वतंत्रता कह सकते हैं? मेरा यह मानना है कि यह केवल स्वच्छंदता है, जिसमें बस अपने अहं को ही महत्व दिया जाता है, स्त्री विमर्श के नाम पर यह केवल कामुक स्त्री से छद्म छवि है, जो पति में प्रेम, अपनापन नहीं केवल सेक्स ढूँढती रहती है।

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में भी ऐसी ही अनेक नारियाँ दिखाई देती हैं जो केवल कामतृप्ति के लिए पुरुष वेश्या के साथ संबंध रखती है। नील अपनी पेशा को निर्दोष मानता हुआ उन स्त्रियों के बारे में कहता है – "....और क्या ये औरतें भी दोषी नहीं जो मेरे पास बाहें फैलाए दौड़ी चली आती हैं?''[3] इस उपन्यास में पारूल और जयंत ऐसे दंपत्ति हैं जो एक छत के नीचे रहते हुए भी एक दूसरे के नहीं हो पाये हैं।

जयंत अपने व्यवसाय में इतना व्यस्त रहता है कि दोनों में संबंध बस नाम मात्र रह जाता है और पारूल अपनी कामतृप्ति के लिए पुरुष वेश्या नील के पास जाती है। और चौंकाने वाली बात यह है कि जयंत को यह सब मालूम होता है। मगर जायदाद के बँटवारा हो जाने के कारण वह पारूल को

---

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 24

[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 35

[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 145

झेलता है। आधुनिक समाज की यही विडम्बना है। जयंत नील को अपने रिश्ते को बचाने के लिए रिश्वत देता है। नील सोचता है – "मैं अपने भावनाहीन स्पर्श का भुगतान लेता हूँ, थोड़े भावनाओं वाले स्पर्श लेने वाली स्त्री से मूल्यवान भेंट लेता हूँ और आज उस स्त्री के पति से अपने अँधेरे रिश्ते को बाहरी धूप से बचाये रखने के लिए मैंने रिश्वत ली है।"[1] अंतिम दशक में बड़े घरों में विवाहेत्तर संबंध एक फैशन बन गया है। पारूल का पति जयंत पारूल का अन्य पुरुष के साथ दैहिक संबंध के बारे में जानता है पर पारूल के द्वारा बसाये व्यवसाय का साम्राज्य उसके हाथ से निकल जाने के डर से वह चुप रह जाता है। वह कहता है – "उसके अलग होने का मतलब तुम जानते हो? जयंत के स्वर में पैनी थर्राहट थी। नील उसकी ओर देखता रह गया।

हमारे एसैट्स का बँटवारा होगा। मेरी शक्ति एक तिहाई रह जाएगी।"[2] अर्थकेन्द्रित समाज में पति-पत्नी संबंध की यही असलियत है।

'चाक' उपन्यास में भी मैत्रेयी पुष्पा ने विवाहेत्तर संबंध का चित्रण किया है। गाँव की स्त्री सारंग अपने पति के होते हुए भी एक पराया पुरुष श्रीधर के साथ दैहिक संबंध रखती है। इससे यह पता चलता है कि अंतिम दशक में शहर में जैसी स्थिति होती थी गाँव में भी वही सब घटित होता है। सारंग एक जुझारू और जिंदादिल और स्वयं को एक आधुनिक नारी के रूप में अंकित करने के कारण, परपुरुष के साथ दैहिक संबंध रखने से नहीं हिचकती है जिसे प्रेम के रूप में परिभाषित करते हैं। श्रीधर कहता है – "यह बात समझती हो न कि प्रेम और संबंध दो अलग चीजें हैं। तुम्हारा संबंध रंजीत से है। घरवालों से है। अपने भाई-भाभी, माता-पिता से है। अगर इन सबसे तुम्हारा संबंध न होता तो प्रेम भी न होता। पर मुझसे तुम्हारा प्रेम है, केवल प्रेम। यही मेरा खजाना है।"[3] सारंग हमेशा अपने पति से लड़ना चाहती है अत: वह अपने मन के अनुसार कार्य करती है। गाँव की स्त्री होकर भी वह किसी अपवाद से डरती नहीं है। वह इसलिए पुरुष सत्ता से लड़ने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाती है। चाहे वह श्रीधर के साथ दैहिक संबंध क्यों न हो। इसलिए श्रीधर कहता है – "सारंग पुरानी रीतियों,

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 166
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 164
[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 263

कुरीतियों, रूढ़ियों से लड़ती तो शायद इतना टकराव न होता, उसका रास्ता दूसरा है, जो बेहद टेढ़ा और शूलों भरा है। क्योंकि वह पति से लड़ना चाहती है।"[1] यहाँ यह देखा जाता है कि स्त्री–पुरुष में प्रतिद्वंद्विता के कारण विवाहेत्तर संबंध स्थापित किया जाता है।

पूंजीवादी जीवन मूल्य अर्थ पर आधारित है। इस व्यवस्था के चलते मानवीय संबंध भी आर्थिक संबंध बनकर रह गये हैं। आज की नगरीय सभ्यता में पूंजीवाद के साथ जहाँ 'मुनाफा' शब्द जुड़ गया है, इस मुनाफे की सीमा सिर्फ व्यवसाय से प्राप्त मुनाफे तक ही सीमित नहीं रहकर रिश्तों तक बढ़ गया है। संबंध बनाने से पहले लोग पहले मुनाफे के बारे में सोचते हैं। अत: स्त्री-पुरुष संबंध पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। बीसवीं सदी मे नारियाँ विवाहेत्तर संबंध ऐसे पुरुष के साथ रखती हैं जिनके पास धन-दौलत की भरमार हो और उन्हें ऐशा-आराम की जिंदगी उपलब्ध हो। मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' में वर्जीनिया एक ऐसी ही नारी है जो अपनी सुंदरता के कारण जार्ज रिचर्डसन नामक एक धनी व्यक्ति को फँसाकर शादी कर लेती है। परन्तु रिचर्डसन उससे दिल से प्रेम करता था, मगर वर्जीनिया केवल उसके पैसों से प्रेम करती थी। वर्जीनिया की बेटी मारियान कहती है – "बेवकूफ था जॉर्ज, आप कहेंगे, आत्मकेन्द्रित और रोमांटिक। शायद था। इतने बरस साथ रहकर भी, वह वर्जीनिया को पहचान नहीं पाया था। अपनी लाइलाज बीमारी का इल्म होने पर, पहला वाक्य जो वर्जीनिया के मुँह से निकला, वह था, मैं जॉर्ज से पहले मर जाऊँगी। उसका जैसा मेरे किसी काम नहीं आएगा।"[2]

स्त्री-पुरुष में अहंकार तथा अंतहीन महत्वाकांक्षा के चलते समस्त प्रेम, अपनापन, सौहार्द गायब हो गया है। पारम्परिक जीवन-मूल्य के विघटन के कारण भी पति-पत्नी संबंध में तीसरे का प्रवेश साधारण बात बन गयी है।

पुरुष भी अनेक स्त्रियों के साथ विवाहेत्तर संबंध रखता है। पितृसत्ता के चलते जैसे इसको छूट मिली हुई है। वह जब चाहे मर्जी के अनुसार किसी के साथ संबंध स्थापित कर सकता है। स्त्री को वह अपनी बपौती मानता है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया का पति नरेन्द्र प्रिया को तो पत्नी व्रत तथा

---

[1] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 186

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 69

कर्तव्य के बारे में ताना मारता है उसके स्वावलम्बी होने की खिलाफत करता है मगर खुद बहुतों के साथ यौन संबंध रखता है। काम सुख की प्राप्ति के लिए वह किसी के साथ भी सो सकता है। प्रिया अपनी सासू से इस बारे में कहती है – "माँजी, घर तो उजड़ चुका, और जहाँ तक साथ का सवाल है, आपका बेटा हर चार-छह महीने में ऑफिस में सेक्रेटरी बदलता है। क्या मैं समझती नहीं? क्यों नहीं आप ही आगे बढ़कर मुझे मुक्ति दिलवा देती हैं? और आपका बेटा आए दिन जो प्रेम का नाटक खेलता है, उन्हीं में से किसी एक से शादी कर ले। तब ठीक है।"[1] जो पति हमेशा पत्नी से ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण आदि के बारे में भाषण देता है वही पत्नी के पीठ पीछे दूसरी औरतों के साथ दैहिक संबंध रखता है। आधुनिक काल में पति-पत्नी के संबंध में अहं का टकराव घृणा, द्वेष, इतना बढ़ गया है कि एक दूसरे को सहन करना नामुमकिन हो गया है। पति-पत्नी के संबंध में जब विश्वास कम होने लगता है तब दोनों दूसरी दिशा में अग्रसर होने लगते हैं। 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास में अजित तथा सुमिता के संबंध में विश्वास डगमगाने के कारण दोनों के संपर्क में दरार पड़ जाती है। सुमिता अपनी ननद विभा की इज्जत बचाने की खातिर खुद को बलात्कारी दरिंदों के हवाले कर देती है। परन्तु उम्र भर अजित के मन में यह कचोट रह गयी, और वह इस हद तक सोचता है – "क्या यह संभव नहीं कि रति-क्रिया में वह मुझसे संतुष्ट नहीं हो सकी, पर परम्परागत मूल्यों के कारण एक हिन्दू नारी होने के नाते उसने इस बात की कभी शिकायत नहीं की। न ही करनी चाही। लेकिन अनजाने और अनचाहे भी वह असंतोष धीरे-धीरे जड़ जमाता रहा उसके अवचेतन में और उस दिन अनायास ही वही कारण बन गया हो उसके अपनी इच्छा से उनके साथ जाने का।"[2] इस कारण अजित इतनी अच्छी पत्नी के बारे में बिना सोचे हुए अन्य स्त्री के प्रति आकर्षित होने लगा। अजित की बहन विभा के पति भी खुद के भाई की पत्नी के साथ विवाहेत्तर संबंध रखता है और बहुत आसानी से विभा से यह बात कह भी देता है मगर वह एक स्त्री से यह बात सुन नहीं सकता है। विभा का पति अनित्य विभा से कहता है – "मैं जानता हूँ तुम मुझे प्यार करती हो। हम दोनों एक-दूसरे का बहुत ध्यान रखते हैं। पर विभा, सच कहता

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 150

[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 71-72

हूँ, जब भाभी के पास होता हूँ तो लगता है मेरे चारों ओर एक प्रकाश बिखरा हुआ है। मैं क्या करूँ? मैं विवश हूँ।"[1]

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पति-पत्नी संबंध बहुत ही छोटे-बड़े कारणों से प्रभावित होने लगे थे। जो एक विवाह रूपी पवित्र रिश्ता को झकझोर देते थे। विभा के मुख से जो बात विषणु प्रभाकर कही है असलियत में अंतिम दशक की सच्चाई है – "समाज में प्रचलित विवाह अभी देह-स्तर से अधिक बँधा है। अत: निम्नांग मिलन यौन सम्पर्क का ही द्योतक मान लिया गया है। लेकिन यौन संपर्क के बिना भी वह मिलन कितना सरस सम्पूर्ण होता है, वह हमारी नयी पीढ़ी सहज ही देख सकेगी।"[2]

4.7 विवाह-विच्छेद के बढ़ते स्तर

भारतीय समाज में विवाह को प्राचीन काल से महत्वपूर्ण माना गया है। समाज की व्यवस्था को बनाये रखने तथा यौन आवश्यकताओं की पूर्ति के संस्थात्मक तथा वैध रूप में विवाह की संस्था को सामाजिक स्वीकृति दी गई। जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि मान्यताएँ भी सम्मिलित हैं। पति-पत्नी को एक सूत्र में बाँधने में विवाह एक सुन्दर बंधन है। पारिवारिक संगठन भी विवाह पर ही आधारित होता है। परन्तु जब दाम्पत्य संबंधों में विसंगतियों के कारण दरार परिलक्षित होती है तब विवाह विचछेद के कगार पर आ पहुँचता है। और पति-पत्नी दोनों एक साथ जीवन निर्वाह करना पसंद नहीं करते हैं। विवाह-विच्छेद या तलाक विवाह का वैधानिक विच्छेद है, जिसमें पति-पत्नी कानूनन एक दूसरे से अलग होकर हमेशा के लिए एक दूसरे से मुक्त हो जाते हैं। सत्येन्द्र त्रिपाठी कहते हैं – "तलाक एक प्रकार की दु:खांत घटना है, जिसमें पति-पत्नी में से एक, दूसरे को छोड़ने की प्रार्थना करते हैं।"[3] तलाक और पारिवारिक विघटन दोनों परिपूरक हैं। कहा जाता है तलाक के कारण पारिवारिक विघटन होता है और पारिवारिक विघटन तलाक के लिए उत्तरदायी होता है। अत: परिवार के लिए यह दु:खद स्थिति है। इसे केवल एक कानूनी समस्या नहीं माना जा सकता है। कानूनी व्यवस्था तक पहुँचने से पूर्व और बाद की स्थिति पति-पत्नी तथा परिवारजन के लिए अत्यंत कष्टप्रद है। सत्येन्द्र

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 165
[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 332
[3] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 229

त्रिपाठी भी कहते हैं – "तलाक को व्यक्तिगत घटना नहीं समझना चाहिए। यद्यपि तलाक की समस्या के व्यक्तिगत पक्ष भी हैं, फिर भी बड़े पैमाने पर तलाक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर लेता है, क्योंकि राज्य अथवा राष्ट्र का अस्तित्व सफल पारिवारिक जीवन की सफलता पर ही निर्भर है।"[1] आधुनिक समाज में तलाक का स्तर काफी बढ़ गया है। इसके अनेक कारण हैं। सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं से गुजरते हुए जीवन सामंजस्य से असामंजस्य की स्थितियों की ओर बढ़ रहा है। जीवन के इस असामंजस्यपूर्ण स्थिति से जीवन के सभी पक्ष प्रभावित हो रहे हैं। जाहिर है विवाह संस्था भी इससे मुक्त नहीं हो पायी है। मुख्य रूप से पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही भारत में तलाक के स्तर में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। ऐसा माना जाता है कि भारत में तलाक की प्रथा अंग्रेजों के आने के पश्चात ही शुरू हुई है। क्योंकि हम सब जानते हैं कि भारत में पति के साथ ही पत्नी का जीना मरना सब कुछ होता था। यहाँ तक सती प्रथा, बाल विधवा आदि सब विवाह संस्था की चरम सीमा पर ही थे और यहाँ पर ही पुनर्विवाह या विधवा विवाह को पाप तथा अभिशाप सदृश माना जाता था। परन्तु आज स्थिति में भारी परिवर्तन हुआ है। आज पति-पत्नी अपनी इच्छानुसार अलग हो सकते हैं। सत्येन्द्र त्रिपाठी कहते हैं – "विवाह अब केवल धार्मिक बंधन नहीं अपितु कानूनी संविदा या समझौता मात्र रह गया है, जिसे कानूनी आधारों पर तोड़ा जा सकता है। अत: स्पष्ट है कि भारत में तलाक का इतिहास प्राचीन नहीं है।"[2]

आधुनिक काल में वैवाहिक जीवन में बढ़ते हुए तनावपूर्ण संबंध को देखकर उत्तरदायित्व निभाना युवा पीढ़ी के लिए दु:साध्य बन जाता है और वे इस अनुबंध को तोड़ देने के लिए तैयार हो जाते हैं। क्षमा गोस्वामी कहती हैं – "आज के युवा-युवती विवाह को एक अनुबंध मात्र मानकर चलते हैं। वैवाहिक जीवन में परस्पर सामंजस्य में थोड़ी सी कठिनाई उन्हें सहन नहीं। ऐसे में वे संबंधों को तोड़ देना ही बेहतर समझते हैं। इस स्थिति को, वैवाहिक जीवन की जड़ता से मुक्ति रूप में, कानूनी स्वीकृति ने भी प्रोत्साहित किया है।"[3] अगर तलाक की व्यवस्था समाज में न होती तो शायद दांपत्य संबंध में

---

[1] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 230

[2] सामाजिक विघटन - सतयेन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 232

[3] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 7

विघटन भी कम होते। छोटे-छोटे अनमेल, मनमुटाव को कानूनी दरवाजा तक लेकर जाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। आपस में ही समझौता हो जाता।

अंतिम दशक में भी इस विसंगति को साहित्य में उभारा गया है। लेकिन उस समय खास बात यह थी कि पुरुष के साथ-साथ स्त्री के लिए भी 'तलाक' ग्रहणीय होने लगा। अब वह समय नहीं रह गया है कि पुरुष से तलाक प्राप्त करके स्त्री दु:खी जीवन या पति वियोग मानती रहे। स्त्री के लिए भी विवाह मात्र अनुबंध प्रतीत हुआ है। पति के द्वारा प्रताड़ित, शोषित होते हुए अब वह पत्नी व्रत निभाने का समझौता नहीं करती है। वह भी पति को तलाक देकर अलग सुखी जीवन बिताने की पक्षधर है।

'अर्धनारीश्वर' उपन्यास में पति-पत्नी में मनमुटाव को दिखाया गया है। विभा अपने पति को तलाक देती है क्योंकि उसे यह अनुभव होता है कि उसके पति अनित्य और अनित्य के बड़े भाई की पत्नी अपर्णा के बीच दैहिक संबंध ही नहीं आंतरिक आकर्षण भी है। ऐसी स्थिति में विभा अपने पत्नीत्व के अधिकार को बलपूर्वक अनित्य पर स्थापित करने का प्रयास नहीं करती है और बिना झगड़े तथा बिना किसी द्वंद्व के विभा अनित्य को मुक्त कर देना चाहती है। विभा अत्यंत शांत स्वर में कहती है – "मैंने वकील से बात कर ली है। मैं समझती हूँ कि हम लोगों के अलग रहने में ही हम सबका हित है। हाँ, मैं अपना हित भी इसी में मानती हूँ। दो मार्ग हैं हमारे सामने – नियमानुसार तलाक के लिए अदालत में जाना अथवा परस्पर सहमति से दोनों पक्षों द्वारा मिलकर न्यायमूर्ति से विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना।"[1] बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आधुनिकीकरण के दौर से गुजरते हुए स्त्री की यह उपलब्धि है कि उसे अपने हिसाब से जीने के लिए अवसर प्राप्त हुए। उसे आज अपने बारे में निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हुए हैं। लेकिन क्या 'तलाक' लेने के पश्चात विभा मानसिक रूप से पति से मुक्त हो पाई? शायद नहीं! क्योंकि तलाक केवल व्यावहारिक एवं वैधानिक स्तर पर पति-पत्नी को मुक्ति दिलाता है, मगर परिवार तो टूटते ही हैं, अलग रहकर पति-पत्नी में ईर्ष्या, द्वेष आदि बढ़ते हैं कोई सुख में नहीं रह पाता है।

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 200

'कठगुलाब' उपन्यास में असीमा के पिता का असीमा की माँ के साथ विवाह विच्छेद हो गया है। मगर असीमा और उसके भाई को उसकी माँ ने अत्यंत दु:ख कष्ट के साथ पालन-पोषण किया था, लेकिन क्या असीमा की माँ अपने पति से तलाक प्राप्त करके सच में सुख में रह पाई या पति की स्मृति से छुटकारा पा सकी? जिंदगी भर उन्हें यह दु:ख चुभता रहता था। बिना बाप के बच्चों का जीवन अत्यंत कष्ट-साध्य हो गया है। एक घर को चलाने के लिए उभय पति-पत्नी के प्यार, धैर्य का बंधन जरूरी है। किसी एक के न होने से न वह घर रह जाता है और ना ही बच्चों की परवरिश सही रूप से हो सकती है। असीमा और उसके भाई भी पिता प्रेम से वंचित हुए थे जिस वजह से संबंध में विघटन दिखाई दिए। असीमा ने अपने पिता को 'हरामी' नाम दिया है और उसका भाई असीम अपनी माँ को ही कोसता है कि उसने क्यों उन्हें अपने धनी पिता से वंचित किया था। वह पति से दूर रहकर भी कभी पति से नफरत नहीं कर पाई थी। न ही मानसिक रूप से मुक्त हो पाई थी । बस अपने सिद्धांत के साथ जीवन अलग बिताने के लिए कमर तो कस ली थी, परन्तु विवाह-विच्छेद के कारण जो पारिवारिक विघटन हुआ था उसे असीमा की माँ अस्वीकार नहीं करती है। असीमा की माँ असीमा से कहती है – "मैंने नहीं चाहा था कि तुम अपने बाप से नफरत करो। मैं तो सिर्फ तुम्हें स्वाभिमान की जिंदगी जीना सिखाना चाहती थी। खैर, अब तुम सयानी हो गयी हो, अपना रास्ता खुद चुनो। मैंने अपनी जिंदगी खुद चुनी थी। मैं नहीं चाहती कि उसका साया तुम्हारी जिंदगी को ढँक ले।"[1] विवाह-विच्छेद का नतीजा हम असीमा के पारिवारिक विघटन के रूप में देखते हैं।

भारत में पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही विवाह-विच्छेद के स्तर में वृद्धि हुई है। पूँजीवादी समाज में संबंधों में यांत्रिकता फैली हुई है। अत: सभी बहुत कुछ बटोर लेने के लिए तेज रफ्तार से भाग रहे हैं, मगर घर-परिवार इस भागम-भाग में पीछे छूटने लगे हैं। खासकर परिवार की रीढ़, पति-पत्नी में तिक्तता की अनुभूति हो रही है। अहं, ईर्ष्या, द्वेष के टकराव के कारण पति-पत्नी संबंध में सौहार्द भाव का अंत होता जा रहा है। खासकर नई पीढ़ी के बच्चों में यह असहनीयता अधिक उपलब्ध हो रही है। क्षमा गोस्वामी कहती है – "वर्तमान समय से पूर्व तक विवाह के संबंध में वैयक्तिक रुचि का कोई स्थान नहीं

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 170

जान पड़ता था। माता-पिता के आदेशों को धारण कर दो भिन्न रुचि और व्यक्तित्व वाले युवा-युवती को भी परस्पर वैवाहिक संबंधों में बंधने के लिए बाध्य होना पड़ता था। और फिर एक बार वैवाहिक जीवन में प्रवेश होने के बाद, जीवन चाहे जितना भी कटु हो, उसका विरोध करना अनैतिक कार्य माना जाता था।"[1] परन्तु आधुनिक युग में ऐसा नहीं होता है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा वैयक्तिक अवसरवादिता आदि अनेक कारणों से परम्परागत वैवाहिक संस्था में परिवर्तन हुए हैं। स्त्री अपनी अस्मिता का युद्ध लड़ते हुए हो या पुरुष में अहं का टकराव स्त्री के साथ जो इसका बहुल प्रभाव विवाह संस्था पर पड़ा। पश्चिम सभ्यता के पद चिह्न पर चलते हुए थोड़ी सी कठिनाई पति-पत्नी को सहन नहीं होती। बिना किसी के बारे में सोचे, परिवार के बारे में सोचे संबंध तोड़ देना श्रेयस्कर मानते हैं। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया अपने पति के द्वारा दिये गये मानसिक अत्याचार से इतनी पीड़ित है कि वह नरेन्द्र के साथ विवाह-विच्छेद करना चाहती है। दोनों में भयंकर रूप से अहं का टकराव होने लगा था, फलस्वरूप वे एक दूसरे से ऊब चुके थे। अत: प्रिया पति से तलाक चाहती है। प्रिया कहती है – "नरेन्द्र की क्रूर चाल। क्या वह सोचता है कि मैं हक की लड़ाई लड़ूँगी? कौन से हक की? जब हम दोनों में प्यार का कोई लम्हा भी नहीं बचा? और धन? नरेन्द्र का धन? खरीदो-बेचो, रुपये, रुपए का ब्याज और ब्याज के ऊपर ब्याज। एनफ। बहुत हो चुका, उसका जो मन चाहे करे, पर मुझे छोड़ दे।"[2] प्रिया पति नरेन्द्र से अलग हो जाना ही ठीक समझती है। ना कि दोनों अपने रिश्ते को कुछ और मौका दे ताकि परिवार न टूट जाए। प्रिया एक आधुनिक, पढ़ी-लिखी और पाश्चात्य संस्कृति का अवलम्बन करने वाली नारी होने के नाते पति से तलाक ही चाहती है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह एक चीज प्रचलित थी कि जो पुरातन जमाने के लोग थे, वे अगर किसी और के साथ विवाहेत्तर संबंध रखते भी तो वे प्रथम पत्नी या पति से तलाक नहीं लेते थे। लोक लज्जा के कारण वे अपने संबंध को छुपाके रखना ही श्रेयस्कर मानते थे। ऐसे बहुत सारे उदाहरण हमें अंतिम दशक के उपन्यासों में प्राप्त होते हैं। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में नरेन्द्र के पिता का एक अन्य स्त्री के साथ दैहिक संबंध था और उनसे उनकी एक बेटी निधि भी थी। मगर नरेन्द्र के

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 7

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 141

पिता अपनी प्रथम पत्नी से तलाक न लेकर दोनों बीवियों के साथ संतुलन रखे हुए थे। मगर नरेन्द्र एवं प्रिया आधुनिक चिंतनधारा के लोग होने के नाते तलाक लेकर अलग एक दूसरे से पीछा छुड़ाना चाहते हैं। 'पाँच आँगनों वाला घर' उपन्यास में राजन का छोटा बेटा भी अपनी पत्नी से अलग होना चाहता है। मगर राजन उसे विवाह के बारे में और भारतीय समाज के बारे में समझाना चाहता है ताकि वह तलाक लेने की गलत चाह से मुक्त हो जाए। मगर छोटु जो आधुनिक, पढ़ा-लिखा समाज का प्रतिनिधित्व करता है वह अपने पापा की बात से बिल्कुल भी सहमत नहीं होता है। दोनों में तर्क होता है। राजन छोटु से कहता है – "यह बात ठीक नहीं है कि तुम सात दिनों में ही अलग होने की सोचने लगो। अगर कोई परेशानी हो तो हमें बताओ। सिर दर्द होता है तो सिर काटकर नहीं फेंक दिया जाता, दवा दी जाती है।"[1] मगर छोटु जो समझौता करने के खिलाफ है वह तुरंत ही अपने पिता को बेहिचक जवाब देता है – "हम साथ नहीं रह सकते।"[2] राजन छोटु से पूछता है कि – "आखिर अलग होने की जिद क्यों?''[3] तब पश्चिम सभ्यता का अनुसरण करने वाला छोटु पश्चिमी भाषा में अपनी पश्चिमी सोच के आधार पर बोलता है- "बिकौज वी आर नौट मेड फौर ईच अदर, वी आर नाट कौम्पैटिएबल.....''[4] और यही कारण है जिसकी वजह से आधुनिक काल में तलाक के स्तर में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। इससे पता चलता है कि 'तलाक' पाश्चात्य सभ्यता की देन है। जिसके कारण पारिवारिक विघटन बढ़ते जा रहे हैं। राजन भी इस बारे में छोटु को समझाने का प्रयास करता है –"बेटा, ये शब्द जहाँ से आए हैं वे 'इंडिविजुअल' पर ज्यादा जोर देते हैं ....इसलिए वे इंडिविजुअल की मैचिंग पर जोर देते हैं। हमारे यहाँ समाज, घर-परिवार पर ज्यादा जोर है। शादी हमारे यहाँ सिर्फ लड़के-लड़की की नहीं दो परिवारों के बीच रिश्तेदारी है। अपनी दुनिया बंद करने की नहीं। खोलने-फैलाने की प्रक्रिया है शादी। तुम्हारी शादी हिन्दुस्तानी ढंग से हुई है – अरेंज्ड मैरिज ....जिसमें कितने रिश्तेदार बीच में हैं, कितनों की तरफ से

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 195
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 195
[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 196
[4] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 196

दिया गया.....क्या-क्या है। यह सिर्फ दो अँगूठियों की अदला-बदली नहीं है। विवाह हिन्दुस्तान स्टाइल, विवाह-विच्छेद वैस्टर्न स्टाइल....यह जो तुम माँग रहे हो।"[1]

अत: तलाक भारतीय समाज में बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक रोग जैसा फैला हुआ था, जो पारिवारिक विघटन का एक अहम कारण है।

4.8 पति और पत्नी के बदलते प्रतिमान

भारतीय समाज में पति-पत्नी संबंध को परिवार की रीढ़ माना जाता है। जिनपर परिवार का समस्त भार सुख, दु:ख आदि निर्भर करता है। पति-पत्नी का स्वरूप कई सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत स्थितियों और शर्तों पर निर्भर करता है। अत: दोनों को साथ लेकर ही विवाह जैसा पवित्र बंधन सशक्त बनता है। वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी दोनों में परस्पर निष्ठा और विश्वास से उत्पन्न प्रेम की गहनता से परिवार प्रत्यक्ष रूप से और समाज परोक्ष रूप से संतुलित तथा जीने लायक बनते हैं। खासकर आधुनिक समाज में जिस प्रकार संयुक्त परिवार को तोड़ते हुए एकल परिवार अस्तित्व में आ रहे हैं, इस स्थिति में पति-पत्नी में संतुलन, प्रेम, विश्वास, सौहार्द अत्यंत आवश्यक है। संयुक्त परिवार में बड़े-बुजुर्ग पति-पत्नी संबंध को सशक्त तथा सौहार्दपूर्ण बनाने में सहायता करते थे ताकि ताउम्र जीवन साथी बनकर परिवार को संगठित रख पाए। परन्तु आधुनिक जीवन इसके विपरीतगामी है। आज परिवार में सबसे अधिक मतांतर पति-पत्नी में ही दिखाई पड़ता है। बदलते परिवेश में ऐसे बहुत कारण होते हैं जो पति-पत्नी संबंध को प्रभावित करते हैं। खासकर अंतिम दशक में पति-पत्नी संबंध में अधिक जटिलताएँ पैदा हुई है। और पारिवारिक विघटन के लिए भी इसे उत्तरदायी माना जाता है।

अंतिम दशक में पति-पत्नी संबंध द्वंद्वात्मक स्थिति में पहुँच गई है। परम्परा तथा आधुनिकता के बीच में टकराव के कारण पति-पत्नी के संबंध तनावपूर्ण हो गये हैं। खासकर जब स्त्री ने शिक्षित होकर अपने अधिकार के लिए संघर्ष प्रारंभ किया, तब इस परिवर्तन का सबसे अधिक प्रभाव पति-पत्नी संबंध पर दिखाई दिया। क्षमा गोस्वामी इस संदर्भ में कहती हैं – "परिवर्तन की इस स्थिति को लेकर अनेक युवक एक विचित्र सी मानसिक स्थिति में देखने को मिलते हैं। एक ओर वे पुरानी

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 196

व्यवस्थाओं में परिवर्तन चाहते हैं और दूसरी ओर वे परंपरागत सामंतीय मूल्यों को पूरी तरह त्यागना भी नहीं चाहते। इसी तरह वे चाहते हैं कि उनकी पत्नी अधिक से अधिक आधुनिक हो और दूसरी ओर वे सामंतीय मूल्यों के कारण अपनी पूर्ण सत्ता भी उस पर थोपना चाहते हैं।"[1] बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्त्री को मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। अत: वह घर की चारदीवारी से बाहर निकलने लगी, नौकरी करने लगी। इस स्थिति में पति-पत्नी के बीच टकराव का कारण मुख्य रूप से 'अहं' भाव है। क्षमा गोस्वामी कहती हैं – "स्त्री हो अथवा पुरुष, उसका आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना किसी स्तर पर 'अहं' भाव का पोषक बन जाता है, तो पति-पत्नी के मध्य संबंधों में अनेक जटिलताएँ प्रारंभ हो जाती हैं।"[2]

अंतिम दशक के प्राय: उपन्यास में पति-पत्नी संबंध के बदलते प्रतिमान को सहज रूप से उपलब्ध किया जाता है। स्त्री कथाकार हो अथवा पुरुष कथाकार सभी पति-पत्नी के इस बदलते प्रतिमान का चित्रण किया है। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में पति-पत्नी संबंध के बदलते प्रतिमान का स्पष्ट रूप से चित्रण किया गया है। प्रिया तथा पति नरेन्द्र के बीच जो तनावपूर्ण स्थिति है, वह अंतिम दशक के समाज में वास्तव में परिलक्षित हो रही है। पत्नी जब शिक्षित बनकर आर्थिक स्वावलम्बी बनती है, सर्वप्रथम पति को ही तकलीफ होती है क्योंकि सदियों से जिस पितृसत्ता का वह प्रतिनिधित्व करता आ रहा था, उस पर धक्का लगता है। वह यह कदापि सह्य नहीं कर पाता है कि उसकी पत्नी कार्यालय में उसके समकक्ष बैठे। अत: उसके अहं को गहरा आघात पहुँचता है। वह बार-बार अपनी पत्नी को अपने परिवार तथा पत्नी धर्म का हवाला देकर उसे पीछे घसीटता है। नरेन्द्र प्रिया से कहता है – "और देखो प्रिया! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था – काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो।"[3] जब प्रिया अपनी पत्नी, माँ तथा बहू के कर्तव्य को पीछे धकेलकर अपनी अस्मिता की खोज में लगती है तब नरेन्द्र के लिए यह ग्राह्य नहीं होता है। उसके 'अहं' को चोट लगती है। वह क्रोधित होकर

---

[1] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 6

[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 6

[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 10

बोलता है – "दरअसल तुम्हें इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़िया के पंख काट डालने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।"[1] बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में व्यकितवाद के चलन के फलस्वरूप पति-पत्नी संबंध में प्रेम तथा विश्वास की कमी प्रतीत होने लगी। 'हम' की जगह 'मैं' लेने लगी है। पति-पत्नी में प्रेम, विश्वास के स्थान पर 'अहं' के टकराव होने लगे। स्त्री जब अपनी 'आइडेंटिटी' ढूँढने लगी तब 'हम' में खाई स्वाभाविक ही गहरी होने लगी। स्त्री का अधिकार जहाँ जरूरी बन जाता है तब दांपत्य संबंध में संतुलन बिगड़ने लगता है। प्रिया कहती है – "पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान ....यह मेरी जिंदगी के कैनवास को बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन के कार्य-जगत को समझना।"[2] ऐसी अवस्था में प्रिया के जीवन का कैनवास जहाँ बड़ा होता है दूसरी ओर वह नरेन्द्र के कैनवास से ओझल होने लगती है। दोनों के पक्ष में एक छत के नीचे, जीवन गुजर करना असंभव बन जाता है। पति-पत्नी के पारम्परिक रूप में परिवर्तन होने लगते हैं। उषा महाजन का कहना है – "औरतों की आजादी और उनकी समानाधिकारों की माँग ने दाम्पत्य संबंधों के पारम्परिक ढाँचे को तोड़ दिया है। महिलाएँ अब पति के गलत व्यवहार को चुपचाप सहन नहीं करतीं। आर्थिक स्वतंत्रता ने उनमें एक प्रकार की सुरक्षा और आत्मसम्मान की भावना को जन्म दिय है जो हमारे पुरुष प्रधान समाज में 'अहं' के टकरावों का कारण बन गयी है।"[3] दोनों में आपसी समझ की भावना के अभाव में जो छोटी-छोटी समस्याएँ उत्पन्न होते हैं आगे चलकर वह पति-पत्नी संबंध में जहर घोलने लगती है। तभी नरेन्द्र जब पूछता है कि – यानी "आपसी ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण ......यह सब कुछ नहीं?"[4] तब प्रिया कहती है – "कुछ नहीं। सच कहूँ नरेन्द्र, ये शब्द भ्रम हैं।"[5] इस कथन से हमें पता लगता है कि पति-पत्नी के संबंध में किस प्रकार बदलाव आ गया है। पति-पत्नी संबंध के आधारशिला को ही अंतिम दशक में दोनों ने नकारने का प्रयास किया है। फिलिप प्रिया

---

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 11

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 10

[3] स्त्री परम्परा और आधुनिकता - सम्पादक राजकिशोर, पृ.सं. 117

[4] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 11

[5] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 11

से कहता है कि – “नरेन्द्र जैसे पुरुष स्त्री से महत्वाकांक्षा को समझ नहीं सकते। वे एक सफल स्त्री की ओर आकर्षित जरूर होते हैं, मगर उनके भीतर का पुरुष बल उस स्त्री को दबोचना चाहता है। यानी उसके अहम को संतुष्टि मिलती है कि देखो ऐसी औरत भी मेरे वश में है।”[1]

अत: बीसवीं सदी के अंतिम दशक के पति-पत्नी संबंध में सम्मान, प्रेम, अपनापन की जगह प्रतिद्वंद्विता उभरने लगी है। क्षमा गोस्वामी भी यह स्वीकार करती है – “वैवाहिक जीवन में रागात्मकता कम और अपेक्षाएँ अधिक प्रभावशाली होने लगे हैं। पति-पत्नी के मध्य परस्पर निर्भरता के स्थान पर मुकाबले और प्रतिद्वंद्विता की भावना अधिक उभरती दिखलाई पड़ती है।”[2] और यह भाव उभय पति-पत्नी दोनों में दिखाई पड़ती है। इस बिगड़ते हुए संबंध की वजह पति-पत्नी दोनों ही हैं। ‘अहं’ का टकराव केवल पुरुष में नहीं होता स्त्री में भी यह होता है। वह भी पुरुष के कंधा से कंधा मिलाकर खड़े होने में गर्व महसूस करने लगी, पुराने प्रतिमान सबको तोड़ने लगी। उषा महाजन कहती हैं – “एक और परिदृश्य उभरा है जिसमें पुरुष और स्त्री के मध्य एक नयी समस्या खड़ी कर दी है – उनके आपसी अहं के टकराव की समस्या। स्त्री की अस्मिता की तलाश अपने ऊपर सदियों से चले आ रहे पुरुष आधिपत्य को एकाएक चुनौती देने लगी है। आज की स्त्री अपनी माँ और दादी-नानी की पीढ़ी से हटकर सोचती है।”[3] ‘छिन्नमस्ता‘ उपन्यास में फिलिप प्रिया से भी पाश्चात्य तथा भारतीय पति-पत्नी के संबंध के भेद को इस प्रकार जताता है – एक दूसरे के काम के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना है, मगर हम एक-दूसरे को एक्सप्लायट नहीं कर सकते, जबकि नरेन्द्र तुम्हारे प्रति मालिकाना भाव रखता है। वास्तव में विवाह की सारी व्यवस्था ही इस भाव पर आधारित है और जहाँ स्त्री की चेतना विकसित होने लगती है, वहीं यह व्यवस्था चरमराने लगती है।”[4]

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पाश्चातय प्रभाव तथा शिक्षा के प्रचार प्रसार के फलस्वरूप पति-पति संबंध में तालमेल का अभाव प्रतीत होने लगी। पारम्परिक मान्यता नई पीढ़ी के दंपत्तियों के लिए ग्राह्य नहीं हुए। ‘पाँच आँगनों वाला घर’ उपन्यास में राजन के बेटों के लिए विवाह महत्वपूर्ण नहीं होती

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 174
[2] परिवार में सौहार्द - क्षमा गोस्वामी, पृ.सं. 5
[3] स्त्री, परंपरा और आधुनिकता - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 114
[4] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 174

है। राजन का छोटा बेटा छोटू अपनी पत्नी से अलग होना चाहता था, वह किसी भी प्रकार उसके साथ नहीं रह पाता है। विवाह के खिलाफ उसका अपना विचारधारा प्रबल रहता है। राजन उसे विवाह के महत्व को इस प्रकार बताता है – ''देखो बेटा! शादी एक एडजस्टमेंट है। हम लोगों को देखों, सारा जीवन एक-दूसरे में नई-नई, अच्छी चीजें ढूँढ़ते रहे और पाते रहे, खराब चीजों को अनदेखा करते रहे ...... और आज खुश हैं; एक दूसरे के लिए सहारा हैं। ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ेगी एक-दूसरे के और करीब आते जाएँगे।''[1] मगर राजन के बेटों के लिए विवाह का ये स्वरूप ग्रहणीय नहीं होता है। छोटू तुरंत पिता के इस पारम्परिक चिंताधारा के खिलाफ बोलता है - ''वह आपकी पीढ़ी थी कि जवानी घुट-घुटकर काटो ताकि बुढ़ापे में एक-दूसरे का सहारा बन सको। हमें शुरूआत वहाँ से चाहिए जहाँ आप लोग एंड करते थे .....क्या फायदा अगर जिंदगी के अच्छे दिन एडजस्टमेंट करते-करते ही निकाल दिए।''[2] नयी पीढ़ी के लिए विवाह कोई बाध्यता में निभाने वाले रिश्ता नहीं रह जाता है। जिसे मृत्युपर्यंत ढोया जाए। पुराने जमाने में पिता-माता जिसके साथ रिश्ता तय करते थे उसे ही अंतिम राय माना जाता था। मगर अंतिम दशक में ऐसा नहीं होता था। विवाह भले ही माता-पिता द्वारा तय किया जाए, परंतु अंतिम राय बच्चों को ही लेना होता है। अगर विवाह से पूर्व बहुत बार मिलने के बाद लड़का या लड़की पसंद नहीं आते तो विवाह तोड़ दिया जाता है। 'पाँच आँगनों वाला घर' में राजन का छोटा बेटा यही चाहता है कि पिता ने जिस लड़की के साथ विवाह तय किया है उसके साथ वह एकांत में समय बिताए और अगर एक-दूसरे को वे पसंद करते हैं तब शादी करेंगे अन्यथा नहीं। छोटू कहता है – ''हर लड़की आज शादी के पहले ढेरों लड़कों से मिलती है, इसी तरह लड़का भी। वे देर रात तक साथ भी घूमते हैं। मिलने में ऐसी कौन-सी खास बात हो गई। एकाध साल भी मिलना चले तो क्या बड़ी बात हो गई। दो लोग 'क्लिक' करेंगे या नहीं यह इसी तरह तो जाना जा सकेगा।''[3] अंतिम दशक में पत्नी-पत्नी के संबंध पर पाश्चात्य प्रभाव ज्यादा नजर आती है। उनके लिए पैसा, कैरियर ज्यादा जरूरी है। जीवन साथी बनकर ताउम्र प्रेम, अपनापन में बंधे रहना इनके लिए कष्टसाध्य है।

[1] पाँच आंगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 197
[2] पाँच आंगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 197
[3] पाँच आंगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 188

राजन का बड़ा बेटा भी अपने पिता से कहता है - ''इसमें बुरा क्या है अगर शादी को भी हम अपने कैरियर में तरक्की का एक जरिया मानें और कैरियर को ही नजर में रखते हुए शादी करें। आज हर कोई करता है।''[1]

अर्थ केन्द्रित समाज में पति-पत्नी संबंध में पैसों की बू आती है। उषा महाजन कहती हैं - ''परम्परा को तोड़ लोग नये प्रतिमान बना तो रहे हैं, लेकिन औरत क्या मर्द को भी उसके लिए व्यक्तिगत तौर पर मोल तो चुकाना ही पड़ता है।''[2] अंतिम दशक में महिलाओं की शिक्षा तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता उन्हें कई हद तक स्वतंत्र तथा स्वच्छंद बना डाला है। अत: इसका नकारात्मक प्रभाव पति-पत्नी संबंध को बदहाल बना देता है। पत्नी अब पति से बदला लेने पर तुल गयी है। एक समय था जब पति के लिए पराये औरत के साथ संबंध बनाना तथा पत्नी को तलाक देना सामान्य तथा ग्रहणीय था, मगर अंतिम दशक में स्त्री के लिए भी यह सब सामान्य बन गया है। पैसा तथा यौन तृप्ति पति-पत्नी संबंध को विघटन के कगार पर ला खड़ा कर दिया है। पत्नी भी पति के पैसों को हड़प लेने की बात अंतिम दशक की ही खासियत है, ऐसा कहा जा सकता है। पति के साथ नहीं पति से अलग वह अपनी अस्मिता को स्वीकारती है। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास में शालू ऐसी ही पत्नी है - ''सात कमरों का फ्लैट है सुन्दरनगर में जो कि कम से कम डेढ़ करोड़ का होगा या दो करोड़ का, इसके अलावा बैंक बैलेंस। सारा लेखा जोखा तीन करोड़ से कम नहीं। दस साल में वो मर जाएगा। शायद इससे पहले ही चल बसे। उसे शुगर की बीमारी है – जिगर भी खराब रहता है। फिर ये सारा खजाना, जायदाद – माल मेरा होगा। मैं उसकी अर्थी से लिपटकर रोऊँगी। सुहाग का सुर्ख टीका मिटा दूँगी – हाथों की चूड़ियाँ दरवाजे की चौखट पर तोड़ डालूँगी। फिर तीन करोड़ की मालिक। ऐश करूँगी। किसी नौजवान से इश्क करूँगी। अपनी मर्जी का जीवन साथी।''[3]

आधुनिक काल में खुद पत्नी के लिए नागवार होती है कि वह एक पति के साथ सारी उम्र बंधी रहे। खुद शालू कहती है - ''मैं यही बातें सोचती रही। क्यों एक ही मर्द की बनकर रह जाऊँ, चारदीवारी

---

[1] पाँच आंगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 164
[2] स्त्री, परम्परा और आधुनिकता - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 131
[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 18

में घिरी हुई बाँदी।''[1] शालू अपने पति से तलाक लेकर कइयों के साथ यौन संबंध रखती है। अपने को आधुनिक नारी कहते हुए पति-पत्नी संबंध को वह धिक्कारती है। 'पति' शब्द से उसे नफरत होता है। शालू एक कविता में लिखती है –

''नफरत है मुझे 'पति' शब्द से
चाहती हूँ गला घोंट डालूँ
इस शब्द का
तोड़ डालूँ चूड़ियाँ
मिटा दूँ माथे का कलंक
ये सिन्दूर
लहू की ये सुर्ख रेखा
नफरत है मुझे 'पति' शब्द से !''[2]

अंतिम दशक में पति-पत्नी संबंध केवल यौन तृप्ति तक सीमित हो गया जैसा प्रतीत होता है। जब यह तृप्ति समाप्त हो जाती है तब इस संबंध में विघटन होता है। दोनों पति-पत्नी तीसरे के प्रति मोहित होते हैं। लेकिन यह बहुत ही दयनीय होती है। जैसे मॉडल गर्ल' उपन्यास में शालू का हुआ। आधुनिक काल में पति-पत्नी के बीच प्रतिबद्धता खत्म होने लगी है। देखा जाए तो अंतिम दशक में बदलते परिवेश में पति-पत्नी संबंध पर भी आर्थिक, राजनैतिक, बाजारवाद का प्रभाव देखा जा सकता है।

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 24
[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 25

पंचम अध्याय

सामाजिक विसंगतियों के कारण और परिणाम

5.1 सामाजिक विसंगतियों के कारण

5.1.1 पश्चिम संस्कृति का प्रभाव

5.1.2 पूँजीवाद तथा भूमंडलीकरण

5.1.3 उपभोक्तावादी संस्कृति

5.1.4 नैतिकता का ह्रास

5.1.5 अल्प परिश्रम और अधिक पानी की ललक

5.1.6 तकनीकी विकास का गलत प्रयोग

5.1.7 विज्ञापन का प्रभाव

5.2 सामाजिक विसंगतियों के परिणाम

5.2.1 अकेलापन

5.2.2 तनाव

5.2.3 हिंसा

5.2.4 संत्रास

5.2.5 कुंठा

5.2.6 हत्या

5.2.7 आत्महत्या

पंचम अध्याय

सामाजिक विसंगतियों के कारण और परिणाम

बीसवीं शताब्दी में समाज में भारी परिवर्तन हुए जिससे संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में जमीनी बदलाव आने लगे। भारतीय समाज मुख्य रूप से अपनी परम्परा को छोड़कर आधुनिकता को वरण करने की ओर अग्रसर हुआ। शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज में द्वंद्वात्मक स्थिति उत्पन्न हुई। जहाँ परम्परा और आधुनिकता के बीच एक चुनौतीपूर्ण जीवन जीने के लिए लोग बाध्य हुए। श्यामाचरण दुबे का कहना है - "बीसवीं सदी विराट उपलब्धियों और चिंताजनक असफलताओं के सौ वर्षों का काल खंड रही है। इसके कई मोड़ों पर मानव ने बड़ी शिद्दत से अपने अस्तित्व के संकट का अहसास किया है। इसके अंतर्विरोध विस्मयकारी हैं।"[1] इस कालखंड में विशेषकर उत्तरार्द्ध में भारत पर विदेशी शक्तियों का प्रभाव पुन: परिलक्षित हुआ मगर इस बार भारत ने इसका बाँहे खोलकर स्वागत किया, जो भूमंडलीकरण के रूप में भारत में प्रवृष्टि हुआ। दु:ख की बात यह है कि भारत ने विकास के नाम पर इस बार स्वयं अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। लेकिन यह भारत के लिए छलावा मात्र साबित हुआ। विकास तो हुए इसे हम नकार नहीं सकते, मगर इस विकास के मूल्य को चुकता करने के लिए समाज में तरह-तरह की विसंगतियाँ भी उत्पन्न हुईं जिनके अनेक कारण हैं।

5.1 सामाजिक विसंगतियों के कारण

सामाजिक विसंगतियों के कारणों भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, पश्चिमीकरण, तकनीकी विकास आदि को देखा जा सकता है। ऐसा नहीं कि समाज में पहले समस्याएं नहीं थीं, मगर बीसवीं शताब्दी में समाज में जिस प्रकार से विसंगतियों का उत्थान हुआ है इसका कारण केवल इन तत्वों को ही माना जाएगा जिसने हमारी धरोहर को विखंडित कर दिया। समस्याओं को सुलझाने के बजाय विकास समाज को विघटित करने लगा। फलस्वरूप समाज में नैतिकता का ह्रास होते हुए एक

---

[1] समय और संस्कृति - श्यामाचरण दुबे, पृ.सं. 58

मूल्यहीन, लिप्सावादी दृष्टिकोण सजग होने लगा है जो धीरे-धीरे समाज को धुरीहीन तथा लक्ष्यहीन बनाता जा रहा है।

5.1.1 पश्चिमीकरण

औद्योगिक विकास के साथ-साथ विदेशी संस्कृति भी भारत में विकसित हुई। लोग विदेशी संस्कृति की बाहरी चकाचौंध से अत्यंत प्रभावित हुए। रहन-सहन, रीति-रिवाज, वस्त्र आदि में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। भारत जैसे पारम्परिक देश के लोगों को अपनी संस्कृति अब घर की मुर्गी दाल बराबर प्रतीत हुई। अत: केवल बाहरी तौर पर ही नहीं समग्र चिंतन शैली पर भी पाश्चात्य प्रभाव दृश्यमान हुआ। मुख्य रूप से युवा पीढ़ी इस पाश्चात्य प्रभाव से अधिक पीड़ित हुई। इसलिए उनकी विचार शैली तथा बुज़ुर्गों की विचार शैली के बीच द्वंद्व की स्थिति पैदा हुई। जब पीढ़ियों में अंतराल परिलक्षित होने लगे तो जाहिर है नैतिक मूल्यों का विघटन होगा। शहर में रहने वाले लोगों की जीवन शैली आज इससे भारी मात्रा से प्रभावित है। साहित्य में भी इसका जिक्र हुआ है। गोविन्द मिश्र का उपन्यास 'पाँच आँगनों वाला घर' में पाश्चात्य प्रभाव से किस प्रकार एक बड़ा-सा घर ढह गया है उसका सार्थक चित्रण लेखक ने किया है। पीढ़ी दर पीढ़ी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। जहाँ एक पीढ़ी स्वतंत्रता पूर्व के समय में आत्मीयता, सांस्कृतिक तथा पारम्परिक जीवन के साथ खुशी उल्लास के साथ जीवन निर्वाह कर रही थी वहीं दूसरी पीढ़ी मोहन तथा राजन जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए शहर गये मगर अपने गाँवों से सदा जुड़े रहना चाहा, परन्तु तीसरी पीढ़ी राजन तथा मोहन के बच्चों की पीढ़ी शहर की ही बनकर रह गयी। यह पीढ़ी हर पल विदेश जाने तथा विदेशी चीजों के इस्तेमाल करने के सपने देखते रहती है। ये लोग यह भी भूल गये कि उनका वास्तविक घर गाँव में है और उनके नाते-रिश्तेदार आज भी गाँव में बसते हैं। राजन और रम्मों के तीनों बच्चों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव परिलक्षित होता है। राजन का बड़ा बेटा बंटू हमेश अमेरिका की तारीफ करता हुआ पाया जाता है। लेखक लिखते हैं - "ऐसा ही साफ-साफ रवैया माँ-बाप के प्रति रखने की कोशिश करता है बंटू। उनके लिए सम्मान पूरा, लेकिन बेकार की भावुकता नहीं। उसे अपना कैरियर बनाना है ओर मम्मी-पापा की सलाह पर चलकर वह कहीं नहीं पहुँच सकेगा। जीवन के लिए उनका अपना दृष्टिकोण

है, बंटू का अपना होना चाहिए, उसका अपना अलग स्वतंत्र नजरिया, इनडिपैडेंट! अपने निर्णय स्वयं करना। यही तो अमेरिका और यूरोप के नौजवानों की खासियत है। देखा नहीं एलिस को? इसलिए बंटू बिना माँ-बाप को ठेस पहुँचाए उनके दृष्टिकोण को एक किनारे सरकार देता है और अपने ढंग से चीजों को देखने की कोशिश करता है।"[1]

उपरोक्त कथन से साफ-साफ पता चलता है कि बंटू पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण कर रहा है। भारतीय समाज में माता-पिता को अत्यंत सम्मान दिया जाता है और उनके बताये गये पथ पर बच्चे चलते हैं, क्योंकि माता-पिता कभी अपने बच्चों का बुरा नहीं सोचते हैं। मगर बिटू में जो भाव दिखता है अपने माता-पिता के प्रति वह पश्चिम की देन है। जहाँ परिवार को नहीं व्यक्ति को महत्व दिया जाता है। बच्चे अपने निर्णय खुद लेते हैं। इनडिपैडेंट शब्द भी पश्चिम का शब्द है हमारा नहीं है। हमारे देश में इस शब्द की कभी जरूरत ही नहीं रही मगर पाश्चात्य प्रभाव के कारण यह शब्द बहुत मात्रा में चल पड़ा है। या समाज का अर्थ भी आज इनडिपैडेंट हो गया है। बोलचाल रहन-सहन में भी आज की पीढ़ी पर विदेशी संस्कृति की छाप नजर आती है। राजन के बच्चे अपने चाचा-चाची मोहन और ओमी से मिलते हैं तब वे उनके पैर नहीं छूते जो भारतीय संस्कृति है। बंटू, बिट्टो, छोटू - "हलो अंकल, हलो आंटी, करते हुए आए। कितने छोटे लगते हैं ये शब्द - अंकल, आंटी, चाचा-चाची की ऊँचाई तक पहुँच पाते हैं क्या?"[2] इसमें हमें बाहरी संस्कृति का अनुकरण परिलक्षित होता है। स्वयं माता-पिता भी इससे परेशान होते हुए भी कुछ नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हमारी सामाजिक व्यवस्था ही इससे प्रभावित है। मोहन ओमी से कहता है - "विदेशी संस्कृति कैसे हावी होती जा रही है हमारे बच्चों पर। ये म्यूजिक कॉमिक्स ....यहाँ देखो तो वही, दिल्ली देखो तो वही। अंग्रेजी स्कूल-कॉलेज इस सबके गढ़ हैं। आधुनिकता के नाम .....।'42[3]' आज हमारे देश में माता-पिता अपने बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ाने के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार हैं। मगर जाहिर है उन शिक्षा संस्थानों में उन्हीं की संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया जाता है। बड़े-बड़े शिक्षानुष्ठान में शिक्षा समाप्त करने के बाद बच्चे विदेश जाने

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 167

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 1

[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 143

के लिए तत्पर होते हैं। उन्हें लगता है विदेश में ही उनका असली विकास हो पाएगा। बंटू में भी यही मोह है। रम्मो सोचती है - "विदेश के लिए मोह। यों तो तीनों बच्चों पर पश्चिमी रंग चढ़ा हुआ है, लेकिन बंटू में कुछ ज्यादा दिखता है। शायद इसीलिए कि उसमें महत्वाकांक्षा भी है जो विदेश में ही अपनी तृप्ति देखती है। शुरू हुआ पौप म्यूजिक सुनने से। साथी आपस में कैसेट अदला-बदली करते और सुनते .....पढ़ाई करते तो सुनते, घुमते तो सुनते, आराम करते तो सुनते। इंजीनियरिंग की सूखी किताबों के साथ-साथ कॉमिक्स और सस्ते अंग्रेजी थ्रिलर्स तो चलते ही थे जींस, विदेशी जूते, सैंट आदि भी चलते ही थे....।"[1] दु:ख की बात यह कि आज हम पश्चिमी सभ्यता और हमारी सभ्यता के बीच तालमेल स्थापन करने में असफल हैं। पश्चिम से आयी हर चीज को हम खराब नहीं कह सकते हैं। मगर हमें किन चीजों को ग्रहण करना है किन्हें छोड़ना यह हमारी बुद्धिमता पर निर्भर करता है। यह हम समझ नहीं पा रहे हैं केवल बाहरी चकाचौंध में फँसकर रह जाते हैं। गाँव में रहने वाला आदमी भी आज इससे ग्रसित है। मोहन कहता है - "अंग्रेजियत पर जोर बढ़ता जा रहा है - श्याम अपने बच्चों का गला टाई से कसकर अंग्रेजी स्कूल भेजता है। उनसे घर में भी अंग्रेजी में बात करता है। बच्चे हिंदी में बात भी करते हैं तो उन्हें अंग्रेजी में बोलने की याद दिलाता है। बच्चे और वह दोनों अंग्रेजी में बात करके गर्व महसूस करते हैं। मम्मी भी नहीं मौम बोलेंगे।"[2] आज समाज की असलियत यही है। राजी सेठ भी इस समस्या पर लिखती हैं। 'निष्कवच' उपन्यास में विशाल एक ऐसा लड़का है जो विदेशी सभ्यता से अत्यंत प्रभावित है और वहाँ चला भी जाता है। मगर विदेश जाने के बाद ही उसे असलियत पता चलती है। वहाँ की जिंदगी में उसे यांत्रिकता नजर आती है। लोग बस जैसे ऐशा आराम के पीछे चलते जा रहे हैं। विशाल कहता है - "मैंने कहा था न, नहीं समझ पाओगी तुम। फासला समझती हो ....फासला। लगता है आवाज दी तो देर से सुनी जाएगी, चलने लगूँ तो देर से घर पहुँचूँगा.....चिट्ठी चली तो देर से आएगी....कब-कब क्या-क्या हो जाएगा, पता नहीं। मैं रास्ते में ही अटका रह जाऊँगा। जो कुछ भी मैं यहाँ रहते देखता हूँ - अमीरी-गरीबी, ठाट-बाट, झगड़े-दोस्त कुछ भी असर नहीं करता।

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 148
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 127

कुछ अपना नहीं लगता।"[1] हमारे देश में समस्त सुख सुविधा होने के बावजूद भी हम विदेश की चकाचौंध से फँसकर वहाँ जाते हैं, मगर वहाँ की वास्तविकता अत्यंत कठोर होती है। विशाल वहाँ जाकर ही इस बात से अवगत होता है।

वास्तव में हमारी कमजोरी यह है कि हम भारतीय संस्कृति तथा पाश्चात्य संस्कृति के बीच तालमेल नहीं बिठा पाते हैं बहुत कम लोग ही असलियत से परिचित होते हैं। विभास के पिता कहते हैं - "हम इस देश में धर्म का ठप्पा लगाकर लड़ते बलवाइयों को तो कभी माफ कर भी देंगे पर अंग्रेजों को तो कभी नहीं। चाहे वह हमारे लिए कितने बड़े कल्चरल कैरियर हैं .....कितने बड़े स्केल पर। ठीक है कि यह स्वर्ग उन्होंने ही उतारा है ....बिजली, पानी, रेल, टेलीफोन देकर पर सिविलाइज्ड आदमी का वार भी सिविलाइज्ड होता है। एकदम बारीक, इसे भूल न जाओ। ऐतिहासिक गुलामी ले गये .....दिमागी गुलामी छोड़ गये।"[2] अब हमारे देश में अंग्रेजी और अंग्रेजियत का वर्चस्व स्थापित हो गया है। 'आवां' उपन्यास में नायिका नमिता कहती है - "अंग्रेजी के प्रति बाबूजी के मनोभाव अपरिचित नहीं। अंग्रेजी से उन्हें परहेज नहीं, अंग्रेजियत क्षुब्ध करती है।"[3] अंग्रेजों का जो अच्छा गुण है हम उससे कुछ नहीं सीखते हैं उनकी बुराइयों को हम ग्रहण करते हैं जैसे नमिता को हिंदी में अभिवादन करने में संकोच होता है वह सोचती है - "गुड मार्निंग, मैडम ही उपयुक्त होगा। 'सुप्रभात' - नाड़ा खिंचा पायजामा।"[4]

कुछ बुद्धिजीवी ही यह समझ पाते हैं कि दोनों संस्कृतियों में तालमेल होना अत्यंत जरूरी है। बंटू के विदेश जाने की बात पर मोहन कहता है - "अच्छा? गया तो अच्छा ही किया। विदेश .....कोई आगे बढ़ने, तरक्की के ख्याल से जाए, बढ़िया है ....लेकिन यहाँ से भाग रहा है क्योंकि यहाँ जीवन कठिन है, वे सुविधाएँ नहीं है तो यह लड़के में आत्मविश्वास की कमी है, अपनी जमीन से नफरत है ....इसे रोकना चाहिए1 परेशानी विदेश जाने की उतनी नहीं जितनी इस बात कि वहाँ जाकर लड़के एकदम दूसरा दृष्टिकोण ओढ़ लेते हें। मैं पूर्व और पश्चिम की बात नहीं कर रहा। दो नजरियों की बात है

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 80
[2] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 20
[3] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 61
[4] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 61

.....एक जो जीवन को व्यापक रूप में लेता है और एक वह जिसमें उसे सिर्फ कैरियर और भौतिक तरक्की में सिकोड़कर देखा जाता है।"[1] इस नजरिया तथा अलगाव को पहचानना हमारा कर्तव्य है। मगर आज हम इससे दूर हो रहे हैं। हमारे ऊपर यह परायी संस्कृति इस प्रकार हावी होकर घुलमिल गयी है कि हम आज यह पहचानने में अर्समथ हैं कि हमारा क्या है और क्या पराया। आधुनिकता की होड़ में हम यह भी भूल जाते हैं कि हम उनके तलवे चाटने लगे हैं। उसे हम भगवान मानने लगे हैं और उनके दिये हुए अभिशाप को भी आशीर्वाद मानकर अंधानुकरण कर रहे हैं।

5.1.2 पूंजीवाद तथा भूमंडलीकरण

पूंजीवाद का उद्देश्य सदैव शोषण पर आधारित रहा है। भले ही पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पादन एवं श्रम के नवीन अवसर प्राप्त हुए मगर यह व्यवस्था व्यक्ति को व्यकितवादी बनाती है। विकास के नाम पर समाज विघटित होने लगा है। यूरोप में जो परिवर्तन हुए उसकी हवा भारत में भी कालांतर बहने लगी। ओंकारनाथ श्रीवास्तव के अनुसार - "इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के साये में जब धीरे-धीरे भारत में उद्योगों का आना आरंभ हुआ तो स्वभावत: उसका रूप 'क्रांति' का नहीं रहा बल्कि उसने विकास का रूप ले लिया। फिर भी क्रांति हो चाहे विकास, दोनों ही में परिवर्तन की बात निहित है।"[2] भारत जैसे गरीब देश को विकास का मोह दिखाकर अंग्रेज छलने लगे और भारत उस छलावा का शिकार बनता गया। शहरीकरण, औद्योगीकरण आदि में पूंजीवाद का बाह्य रूप जहाँ सराहनीय था वहीं उजड़ते-टूटते-बिखरते गाँव परिवार पूंजीवाद को घृणित आंतरिक रूप से उजागर कर रहे हैं। आनंद पाटिल कहते हैं - "भारत का पूंजीवाद पहले शोषणाधारित नहीं था लेकिन अंग्रेजों ने शोषण मुक्त पूंजीवादी समाज का निर्माण किया और नतीजतन औद्योगीकरण हुआ, इसने शहरीकरण को बढ़ावा दिया, गाँव उजड़ गये तथा परिवार बिखर गये।"[3] अत: इस पूंजीवाद ने संगठन को नहीं व्यक्ति को महत्व दिया।विकास के नाम पर यह व्यकित को पैसे के पीछे दौड़ाना ही सिखाया। घरों से निकलकर

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 179

[2] हिंदी साहित्य : परिवर्तन के सौ वर्ष - ओंकारनाथ श्रीवास्तव, पृ.सं. 4

[3] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण - आनन्द पाटील, पृ.सं. 91

पूंजीवाद लोगों को बाजार में बिठा दिया जहाँ अपनी काबिलियत को बेचकर मुनाफा कमाना व्यक्ति का उद्देश्य बन गया।

भूमंडलीकरण को पूंजीवाद का उत्तर आधुनिक रूप मानने में गलत नहीं होगा। भारत को पुन: पराधीन अगर कोई कर सकता है तो वह है भूमंडलीकरण। उपनिवेशवाद भूमंडलीकरण के रूप में पुन: भारत पर कब्जा करने की रणनीति है। आनन्द पाटील के अनुसार - "भारत के संदर्भ में भूमंडलीकरण की शुरूआत सन् 1991 से मानी जा सकती है। यहाँ तक आते-आते भारत सरकार को लगने लगा था कि आर्थिक मामलों में हम कमजोर हैं और हमारे सामने अब कोई विकल्प नहीं है। सिवाय आर्थिक उदारीकरण के, भूमंडलीकरण के।"[1] हमारा देश गरीबी तथा अशिक्षा के कारण पश्चिम के सामने टिक नहीं पा रहा है। विश्व के अन्य विकसित देश विशेषकर अमेरिका अपनी राजनीति और प्रगति के कारण सारी दुनिया को नियंत्रित करता है। अमेरिका यह जानता है कि भारत का तकनीक तथा मानव संसाधन अमेरिका की तुलना में कम ही है इसलिए उसके लिए भारत एक सशक्त बड़ा बाजार बन गया। लेकिन इस ढोंगी व्यवस्था से समाज के गिने-चुने लोगों को मुनाफा हो रहा है। यह ऐसी घिनौनी व्यवस्था है जिसमें अमीर अधिक अमीर और गीरब और गरीब होने लगता है। आनंद पाटील का कहना है - "अगर भारत के किसी वर्ग को इसमें लाभ प्राप्त हो गया तो वह केवल चंद गिने-चुने लोगों को हो रहा है, जिनके पास बड़ी पूंजी है और जो इन कंपनियों से कहीं न कहीं जुड़े हुए हैं। इस तरह हमारा भूमंडलीकरण एकपक्षीय है, जिसमें 'विश्व पूंजी' ही के हित पूरे हो रहे हैं। जाहिर है देश की जनता के नहीं।"[2]

'आवां' उपन्यास में लेखिका इस पूंजीवाद तथा भूमंडलीकरण के विकृतियों को उजागर करती है। पूंजीपति वर्ग इसी की बदौलत गरीब लोगों का शोषण करते हैं। उन्हें तरह-तरह का प्रलोभन दिखाकर मुनाफा कमाते हैं। अंजना वासवानी तथा संजय कनोई जैसे पूंजीपति नमिता, गौतमी जैसे गरीब युवतियों का शोषण करते हें। अंजना वासवानी कहती हैं - "पैसे की ताकत मनुष्य की सबसे बड़ी ताकत है। पैसे की ताकत से एक बुद्धिहीन, अपाहिज, असमर्थ व्यक्ति बुद्धिमान का मस्तिष्क और

[1] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण - आनन्द पाटील, पृ.सं. 98
[2] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण - आनन्द पाटील, पृ.सं. 91

सबल की शक्ति खरीद, बड़ी आसानी से अपने हितों के लिए उसका उपयोग कर, समाज और संसार का सर्वाधिक समर्थ व्यक्ति बन सकता है। सत्ताधारी बन सकता है। प्रतिष्ठा अर्जित कर सकता है। लोगों पर शासन करने के लिए नोट की शकित पहचानो। सुख-सुविधाएँ जुटाने में उसकी भूमिका की कद्र करो....।"[1]

अर्थ केन्द्रित इस समाज में धनी वर्ग के लोग गरीबों को अपनी छद्म तथा पाखंडी मनोवृत्ति से फाँसते हैं। कोई सगा भी ऐसा नहीं करता है। इन पूंजीपतियों को यह भली भांति मालूम है कि किस प्रकार और कब वशीकरण करना है। अंजना वासवानी ने नमिता को गरीब जानकर ही मदद का हाथ बढ़ाया और बेशुमार तोहफों से उसका मुँह बंद कर दिया। नमिता अंजना वासवानी के एहसानों तले दबती गयी। मगर इसके पीछे बड़ी मछली संजय कनाई का हाथ होता है और संजय कनोई की चाल उपन्यास के अंत में ही पता चलती है जो दिल दहला देने वाली होती है।

'आवां' उपन्यास में पूंजीपतियों द्वारा गरीब मजदूरों का शोषण का मार्मिक चित्रण हुआ है। लेखिका स्वयं मजदूर आंदोलन के साथ जुड़े रहने के कारण इस शोषण पर पारखी नजर रखती हैं। श्रमिकों पर पूंजीपति लोग सदा ही कहर ढाते आ रहे हैं। कभी उन्हें मजदूरी न देकर उनके पेट पर लात मारना तो कभी उनके सर से छत उड़ाकर उन्हें घर से बेघर करना, ये इन पूंजीपतियों के ही कारनामे होते हैं। अन्ना साहब श्रमिक के निवास की समस्याओं पर बोल रहे थे - "कुछ चालियों के व्यवसायी दिमाग के मालिक दस-बारह रुपये किराये पर उठी खोलियों को श्रमिक भाड़ोक्रियों से खाली करवाने के लिए बिल्डरों से साठ-गांठ कर योजना बना रहे थे कि किरायेदारों को जोर जबरदस्ती से बेदखल कर उन्हीं भूखंडों पर बहुमंजिला इमारतें बनाई जाएं ताकि वे लाखों की रकम आसानी से पीट सकें।"[2] यह पूंजीपति हमेशा अपना ही स्वार्थ हासिल करने के लिए तत्पर रहते हैं। गरीबों को भले ही चाहे बलिदान देने पड़े मगर ये अपना घर ऊँचा करते जाते हैं। अन्ना साहब कहते हैं - "आठवले को उसकी खोली से बिल्डरों के गुंडों ने लहूलुहान कर बेदखल कर दिया। छुरों की नोंक पर उन्होंने चाल के शेष रहवासियों से भी जोर-जबरदस्ती खोलियाँ खाली करवा लीं। उसी रात सड़क के किनारे मय सामान घर से बेघर

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 201

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 71

हुए पड़े मजदूरों के दो बच्चे रेती-भरे ठेले के नीचे कुचलकर मर गए।"[1] पूंजीवादी समाज की दुर्गति यही है कि यहाँ धनी जोर-जबरदस्ती अपना पैसा लगाकर अधिक धनी बनता जाता है और गरीब इन पूंजीपतियों के शोषण का शिकार होकर अपना सर्वस्व लुटाकर नीचे दबता ही जाता है। महिला मजदूरों का भी हाल बदहाल है। उनपर ये पूंजीपति दया भाव नहीं दिखाते हैं। उन्हें मनुष्य ही नहीं माना जाता है। पवार अर्थकेन्द्रित समाज में महिला मजदूरों की दशा को इस प्रकार दर्शाता है - "जचकी का केस होने के बावजूद कंपनी ने पंढरी बाई को धमकी दी थी कि वह तत्काल काम पर लौटे वर्ना नौकरी खत्म समझे! इतनी लंबी छुट्टी कंपनी बर्दाश्त नहीं कर सकती। अंडर सेक्शन चार का केस था। कायदे से बच्चा पैदा होने के छह हफ्ते बाद ही उसे काम पर वापस लौटना था।"[2] इन गरीबों को डर है कि अगर काम चला गया तो इन्हें भूखा रहना पड़ेगा क्योंकि कंपनी का मालिक उनका भगवान है। अगर भगवान कोपित हो जाए तो सब कुछ तहस-नहस हो जाएगा। पवार कहता है - "कंपनी की धमकी से घबड़ाकर पंढरी बाई तुरंत काम करने पहुँच गयी। अधिक परिश्रम के चलते पेट के गीले टांके टूट गए।"[3]

यह गरीब इनके लिए मजदूरी कर-कर के मर जाते हैं मगर इनकी अवस्था में कुछ सुधार नहीं होता है। ना ही पूंजीपतियों के मुनाफे के हिस्सेदार हो पाते हैं। वातानुकूलित ऑफिसों में रंगरलियाँ मनाते हुए गरीबों की मेहनत को कैश कराते हुए धनाढ्य वर्ग को ही सभी सुख समृद्धि मुहैया कराई जाती है। संजय कनोई जो इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है वह नमिता से कहता है - "गौरतलब है, नए बजट में सरकार ने पूरी उदारता के साथ आभूषण उद्योग के विकासार्थ कई अनुकूल छूटें घोषित की हैं। आयात होने वाले कच्चा हीरा, सोना, विशेष मशीनें, कम्प्यूटर, उपयोगी औजार, पैकिंग आदि का सामान कर मुक्त कर दिए गए हैं। आभूषण व्यवसाय के आवश्यक कोई भी सामान अब बिना लाइसेंस विदेशों से मंगवाया जा सकता है। विदेशी मुद्रा का विनिमय किसी भी समय उनकी उचित कीमत के अनुसार बिना झंझट-झांटी के हो सकता है।"[4] भूमंडलीकरण का असली रूप यही है। खुले बाजार में अपना सामान बेचना, खरीदना इन पूंजीपतियों का जहाँ काम है वहीं शोषित वर्ग को बार-बार ठगा

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 72
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 97
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 97
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 270

जाता है। आनन्द पाटील कहते हैं - "पूंजीपति एकाधिकार की पोल खुलती थी और शोषित वर्ग को पता चल ही जाता था कि उन्हें अभाव में रखकर मुनाफा खूब कमाया जा रहा है। लेकिन भूमंडलीकरण में शोषण का रंग, रूप आधारहीन होता गया है जिनका शोषण होता है वे ही शोषक का पोषण करते हैं। उसके पक्ष में लड़ते हैं।"[1]

भूमंडलीकरण के इस भयंकर दौर में सभी बस पैसे कमाने के लिए पागल हैं। जीवन में और कोई रिश्ते-नाते व्यक्ति के लिए मायने नहीं रखते हैं जितना अपना काम। संजय कनोई अपने जीवन की यांत्रिकता को इस प्रकार बयां करता है - "दरअसल....कुछ विचित्र-सा ही है जीवन का ढर्रा। कारखाने और बाजार के बीच पसरी बदहवास भागमभाग में न सोने के लिए अपने घर का शयनकक्ष नसीब होता है न अपना पलंग तकिया1 अक्सर चलती गाड़ी की सीटें और थर्राती सड़क की छाती मेरा पलंग और तकिया हो उठते हैं। गंतव्य पर पहुँचने तक मैं निश्चिंत हो ऊंघ लेता हूँ या नींद गहराने पर सो....।"[2]

भूमंडलीकरण द्वारा भारतीय समाज में महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। पश्चिम संस्कृति के आक्रमणकारी प्रभाव का भारतीय स्वागत कर सुखद लगने वाली विपद में पड़ गया है। तकनीकी विकास के कारण भारत अब विदेशों से नजदीकी से जुड़ने लगा है। इसलिए यहाँ के लोग पर अमेरिका जाने का भूत सवार रहता है। 'पाँच आँगनों वाला घर' में बंटू पर भी यही नशा चढ़ा है। अपने पापा के पूछने पर वह कहता है - "सोचा नहीं पापा, जा रहा हूँ अमेरिका व्हयर एल्स? दैट इज द कंट्री।"[3] राजी सेठ भी अत्यंत सूक्ष्म रूप से भूमंडलीकरण के घिनौने रूप का चित्रण करती है। विशाल कहता है - " 'मैं' को नहीं, मुझे - बेटे को। भाई को। देवर को चाचा को। कुंवर साब को सबको पिघलकर बन जाना होगा - एक केवल एक। एक कोई कुत्ता। मार्था के द्वार पर लपलप करता हुआ।"[4]

उपरोक्त कथन में लेखिका इस सच को उजागर करना चाहती है कि कैसे भूमंडलीकरण के कारण हमारे मन में अमेरिका के प्रति अत्यंत मोह जगा है। विशाल जो अमेरिका की वास्तविकता से वहाँ रहकर परिचित हो गया है वह अपने लोगों के जहन से विदेशी संस्कृति के छलावा को मिटा नहीं

[1] संस्कृति बनाम अपसंस्कृतीकरण - आनन्द पाटील, पृ.सं. 99
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 267
[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 162
[4] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 115

पा रहा है। भारतीयों को लगता है विदेश में जीवन बड़े सुहावने हें। मगर सच्चाई कुछ और है जिसे विशाल जैसे चंद लोग ही समझ पाते हैं। भूमंडलीकरण ने जिस प्रकार के द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न की है उसमें फँसकर विशाल जैसे संवेदनशील लोग त्राहि-त्राहि तो करते हैं मगर उसे अनसुना कर दिया जाता है। विशाल वापस अमेरिका जाते हुए प्रलाप करता है - "लो, जाता हूँ, चिंटू। जाऊँगा नहीं तो झौआ भर चीजें कैसे आ पाएँगी। लो, जाता हूँ भैया। तुम्हारे हाथ में पोटली। सपनों के बीज। जाऊँगा नहीं तो धरती (?) किसे मिल पाएगी। सो, जाता हूँ भाभी। पूरियों की सुवास तुम रखो सहेजकर। मैं हैम बर्गर खाऊँगा। लो, जाता हूँ माँ। तुमने जगाना सीख लिया है मन। लो, जाता हूँ श्यामली। क्यारियाँ खुद चुकीं। लो, जाता हूँ पापा। तुमने कह दिया था। एक ही बार। सारा इकट्ठा। लो, जाता हूँ देश। तुम्हें मैं कभी देश-सुन-छू नहीं सका। मुट्ठी में जा पाने को ललकता रहा। मुट्ठी एक मिली मार्था। लो जाता हूँ मैं। गया नहीं तो सारे झूठ निथर आएँगे। झूठा कहलाऊँगा।"[1] इस कथन में भूमंडलीकरण की मार्मिकता को उजागर करने का भरपूर प्रयास लेखिका ने किया है। जो आज की वास्तविकता है।

5.1.3 उपभोक्तावादी संस्कृति

उपभोक्तावादी संस्कृति हमारे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन को बहुत पीछे ढकेलकर स्वयं समाज की कर्ता बन गयी है। संपूर्ण समाज पर यह इस तरह हावी हो गयी है कि इसे हम 'धर्म' की तरह पालन करने लगे हैं या यों कहें तो हमें यह एहसास भी नहीं होता है कि हम उपभोक्तावादी संस्कृति की चपेट में हैं। बड़े-बुजुर्गों से जब हम वार्तालाप करते हैं तब वे कहते हैं हमारे जमाने में तो हम बस दो जोड़ी कपड़े में वर्षों चला लेते थे हमें कभी ज्यादा की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। मगर आज के समय के साथ अगर उनकी तुलना की जाए तो हम एक साल में लगभग 12-15 शर्ट खरीदे होंगे। वास्तव में यही उपभोक्तावाद की चपेट है जिसके बहाव में हम स्वाभाविक रूप से बह चलते हैं। जहाँ जरूरत को नहीं 'उपभोग' को महत्व दिया जाता है। समाज में आज जिसके पास जितनी अधिक श्रम शक्ति है उसका स्थान उतना ही ऊँचा है। इसलिए व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन मूल्य, नैतिकता, ईमानदारी आदि के लिए समाज में स्थान नहीं बच पाया है। मनुष्य पैसे कमाने की होड़ में यंत्र बन गया

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 116

है। बस पैसे कमाना और बैंक बैलेंस बढ़ाते जाने में ही वह अपने जीवन का साफल्य मानता है। इस नयी बाजार व्यवस्था ने भ्रष्टाचार को ही नैतिक मूल्य बना दिया है। हर चीज आज खरीदी जा सकती है। इसी उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण ही लोगों में असमानता परिलक्षित हो रही है। जिसका मापदंड पैसा ही बन गया है। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल उपभोक्तावादी संस्कृति का यथार्थ चित्रण करती हैं। संजय कनोई नमिता जैसी गरीब लड़की को बहुमूल्य उपहार देकर उसे लालायित करते हैं। जिस वस्तु को कभी देखना भी नसीब न हो उसे प्राप्त करके अपने को खुशकिस्मत समझना उपभोक्तावादी संस्कृति का लक्षण है। संजय कनोई को इसकी पहचान होती है। नमिता संजय के कहने पर तीन घड़ियाँ पसंद करती है और कीमत की सीमा की जानकारी के बारे में संजय कनोई से पूछने पर वह कहता है - "घड़ी ऐसी हो जिसे देखकर देखने को मन ललक उठे कि इसे बहुत कम कलाइयों को पहने हुए देखा है।"[1] वास्तव में उपभोक्तावाद की चाल यही है। व्यक्ति में कभी समाप्त न होने वाली ललक पैदा करना। आज घड़ी के लिए तो कल हार के लिए तो परसों कार के लिए। गरीब अगर नहीं खरीद सकता है तो वह दुकान-दुकान घूमकर चीजों के दाम पूछकर ही संतोष प्राप्त कर लेता है। नमिता स्मिता के बारे में कहती है - "स्मिता को विंडो शॉपिंग की खब्त सी है। अपनी खब्त की बरक मिटाने के बहाने अनेक बार वह उसकी ना नुकुर अनसुनी कर जब-तब उसे गांधी मार्केट, फैशन स्ट्रीट, कुलाबा, भुलेश्वर, दादर, ताड़देव, सिंकिंग रोड घसीट ले जाती। ललच-ललच आग में घी-सी दुरकती हुई मनचीती साड़ियों, पोशाकों, चमड़े के नई चलन के पर्स, सैंडिल, ब्रा, पैंटी, जींस, ट्राउजर, सौंदर्य प्रसाधन......उलट-पुलट दाम पूछे बिना न रहती।"[2] चीजों को न खरीद पाने से भी देखकर ही नयनसुख किया जाता है और मन में यह बैठ जाता है कि किस उपाय से इन सामान को प्राप्त किया जा सकता है। 'कठगुलाब' उपन्यास में स्मिता कहती हें - "अच्छा, यह बतलाओ, यहाँ चीज की पचास-साठ किस्में क्यों बना दी जाती हैं? खरीदारों का बाजार है, जानती हूँ। भई अर्थशास्त्र पढ़ती हूँ कि नहीं। यहाँ माँग को पूरा करने के लिए बेचा नहीं जाता, बेच-बेचकर माँग पैदा की जाती है। रोज नयी चीज की।

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 307

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 185

खरीदो, फेंको-फेंको। नया लो। फिर नया। फिर-फिर नया।"[1] स्मिता अमेरिका में रहती और वहाँ पर यह उपभोक्तावादी संस्कृति तो आसमान पर है परन्तु हमारे देश को भी अमेरिका का ही रोग लग गया है। इससे यह निश्चित है कि यह पाश्चात्य संस्कृति है जो यहाँ पर भी घुसपैठ कर गयी है।

पश्चिम से आयी इस संस्कृति ने हमारे समाज के मूल्यों को तहस-नहस कर दिया है। व्यक्ति की नैतिकता और उसूल इस धरातल पर बेमाने लगते हैं। परिवार में जहाँ पर मोहब्बत के लिए जगह होती थी उस स्थान पर बाजारवादी चिंताधारा परिवार के सुख चैन को डांवाडोल कर रही है। नमिता जैसी उसूलों वाली लड़की भी इस मनोवृत्ति से पीड़ित है। वह कहती है – "संजय कनोई का उपहार ग्रहण कर उसने कोई भूल तो नहीं की? उनके उसूलों के खिलाफ वैसे भेंट कोई उन्होंने अकेले उसे ही नहीं दी। साढ़े चार हजार की पैठणी साड़ी खरीदकर दी है गौतमी को। ठीक ऐसी ही या उसकी पसंद की घड़ी वे उसे भी खरीदकर देंगे। सुविधा के बावजूद, मन टटोले तो घड़ी उसे ढेरों पुलकित कर गई। ऐसी कीमती नए चलन की सुंदर घड़ी कुंती मौसी की बेटी बहू के पास भी नहीं। उसकी कलाई पर जब भी उनकी नजर पड़ेगी, तबे पर छूटी रोटी-सी कोयला हो उठेंगी।"[2] आज इस संस्कृति ने हमारी नैतिकता का इस प्रकार अवमूल्यन कर दिया है जहाँ केवल हम दूसरों को जलाने या मेरे पास यह वस्तु है तुम्हारे पास नहीं है, की मनोदशा में आत्मसंतुष्टि पाते हैं। दूसरों के प्रति प्रेम, दया, सौहार्द आज खत्म होते जा रहे हैं। जीवन पर्यन्त व्यक्ति भौतिक सुख के पीछे ही भागता है। टी.वी., फ्रीज, कार, घर आदि में सुख ढूँढते हुए वह पिता, माता, भाई बहन आदि रिश्तों को भूलने या औपचारिक समझने लगा है। 'पाँच आँगनों वाला घर' में शांति देवी जो इस बदलाव को अपनी आँखों के सामने घटित हुआ देखती हैं वे दु:ख प्रकट करते हुए कहती हैं – "लोगों में कैसे एक-दूसरे के लिए प्रेम खत्म हो गया है! पहले घर के बाहर मोहल्ला-पड़ोस के लिए भी प्रेम था, सबके दुख में शरीक होने का स्वभाव था। अब अपने बीवी-बच्चों के बाहर प्रेम महसूस ही नहीं किया जाता। सिर्फ औपचारिकताएँ निबाही जाती हैं। सिर्फ अपना-अपना ख्याल। पहले खुशी देने में थी, अब लेने-पाने-हथियाने में ढूंढी जाती है। जीवन अपनी लीक पर चलने के बजाय दूसरों की नकल हो गया है। श्याम उन चीजों के लिए दौड़ता-फिरता है जिन्हें रखने के

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 29

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 310

लिए उसके इस छोटे से घर में ठोर भी नहीं है। उसे भी डबल बेड चाहिए, डाइनिंग टेबिल, फ्रीज, टीवी चाहिए। क्यों नहीं वह अपनी औकात और घर में जितनी जगह है, उसी अनुसार अपनी जीवन शैली रखता? क्यों नहीं उसमें खुश रह सकता? क्यों हमेशा यह कोशिश की कि उसके घर में दूसरों से कमतर न रहे। एक चीज के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी चीज घर ले आने की ताबड़तोड़ कोशिश।"[1] इन सब चीजों को प्राप्त करने से लोगों के पास पैसा होना जरूरी है। अत: इसी मनोवृत्ति के चलते हमारा समाज अर्थ केन्द्रित बन गया है। इसलिए अंजना वासवानी नमिता से कहती है – "छुट्टे में ताकत नहीं होती। ताकत होती है बड़े नोट में। बड़े नोट की मौजूदगी से तुम स्वयं अनुभव करोगी कि संकट की घड़ी में भी तुम्हारा आत्मविश्वास अविचलित बना हुआ है – गहरा अभाव है जिसका तुममें।"[2] संक्रमण के इस दौर में वाकई आज छुट्टे में ताकत नहीं रह गयी है। लोग ऐसे व्यक्ति को भाव ही नहीं देते हैं।

वित्तीय पूंजीवाद के व्यापक विकास के इस दौर में विश्व बाजार तंत्र और उपभोक्तावादी संस्कृति का काफी प्रभाव विस्तार हुआ है। उसी का नतीजा है कि बड़ी तेजी से विचारहीनता, मूल्यहीनता और कुल मिलाकर मनुष्यता विरोधी माहौल बनता जा रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति में औरत की देह केन्द्र में है। काम केन्द्रित समाज में स्त्री देह को बाजार में बेचकर ऊँची कीमत वसूल किया जाता है। अत: औरत एक बिकाऊ चीज या माल बनकर रह जाती है। यहाँ आभूषणों की बिक्री में आभूषणों को नहीं बल्कि उन्हें धारण किए स्त्री के देह को देखकर खरीदा जाता है। गौतमी नमिता से कहती है – "आभूषणों का सम्मोहन देखने वालों के सिर तभी चढ़कर बोलता है जब उन्हें धारण करने वाली स्त्री अपनी देह के जादुई स्पर्श से उन्हें जागृत कर ले .....।"[3] विडम्बना यह है कि स्त्री की इस स्थिति से खुद स्त्री ने भी खुशी खुशी ग्रहण कर लिया है। उसे यह छलावा मोहक लगता है। वह भी बाजारवादी समय में अपने रंग रूप के निखार के लिए ढेरों प्रसाधन सामग्रियाँ खरीदती है। गौतमी नमिता से कहती है – "बीसवीं शताब्दी में तुम तो अठारहवीं का नमूना हो। देह की आनुपातिकता में

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 126-127

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 201

[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 214

कहीं कोई कमी है तो उसे दूर कर लेने में कैसी अश्लीलता? पैडेड का इस्तेमाल करते ही तुम अनोखी मांसलता की फुटफुटी को रोम-रोम में महसूस कर सकोगी कि उन्नत वस्त्र तुम्हारे खूबसूरत व्यक्तित्व को चमत्कारी आत्म सुदृढ़ता से रहे हैं। मत भूलो, औरत के अस्तित्व का तिलिस्म उसकी देह से ही उपजता है।"[1] आज खुद स्त्री पैसे देकर पुरुष से दैहिक सुख प्राप्त करना चाहती है। बाजारवादी इस भयंकर दौर में इन्हीं अतृप्त स्त्रियों के कारण ही नील जैसा शिक्षित आदमी पुरुष वेश्या बनने के लिए मजबूर होता है। नील की इस उक्ति में यह साफ नजर आ रहा है कि स्त्रियाँ किस प्रकार से दिशाहीन होती जा रही है – "ब्लॉसम के साथ पहली भेंट याद आई। जब वह उनके शयनकक्ष में निवर्सन हुआ था .....फिर यास्मीन, शिल्पा, कुंतल, स्टैला .....नारी-शरीरों का गहरा सरोवर था, जिसमें वह लंबी-लंबी साँसे लेता हुआ डूब रहा था।"[2] फिल्म जगत की अभिनेत्रियां को तो हम देखते ही हैं कि किस प्रकार अपने शरीर को उन्मुक्त कर वे गर्व महसूस कर रही है। नौबत यहाँ तक आ पहुँची है कि शरीर के विभिन्न अंगों का अस्त्रोपचार कर उसे बाजार के लिए अधिक सुन्दर किया जा रहा है। ताकि उनके मूल्य में बढ़ोतरी हो।

उपभोक्तावादी विकृतियों के कारण प्रेम भी भोग प्रधान हो गया है। प्रेमी प्रेमिका के बीच संबंध में अब वह आत्मीयता, प्रतिबद्धता, विश्वास नहीं रह गया है। 'प्रेम' का रूप भी यांत्रिकता में तब्दील हो रहा है। प्रेम संबंध आज विकृत होता दिखाई पड़ रहा है। लैला मजनूं, हीर रांझा वाला प्रेम आज विरल है। नील नैन से प्रेम करते हुए भी दूसरों के साथ देह संबंध रखता है और अपने पेशे के बारे में नैन से छुपाकर रखता है। नैन नील से कहती है – "जब तुम मुझसे प्रेम का नाटक कर रहे थे तभी पारूल को गर्भवती भी बना रहे थे .....।"[3] प्रेम भी आज बाजार के अनुरूप ढल गया है। नैन कहती है – "प्रेम की ऐसी परिभाषा आज तक नहीं सुनी ....कि एक भोली-भाली लड़की के साथ ब्याह की तैयारी करो और दूसरी ब्याहता औरत के साथ सोया करो .....।"[4] बाजारवादी समाज में भावनाओं की कद्र नहीं होती है। 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास में शिवनाथ कहता है – "आज की दुनिया भावनाओं के सहारे नहीं

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 214
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 182
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 213
[4] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 213

चलती। मशीन अब इसकी अधिष्ठात्री देवी है तो प्रेम, प्यार, लगाव, संवेदना ये भी सब यांत्रिक हो गये हैं। न कोई किसी के लिए जीता है न कोई किसी के लिए मरता है।"[1] आज अगर साथी बिछड़ता है तो कल किसी और के साथ जिंदगी चल पड़ती है। गम मनाने के लिए किसी के पास वक्त नहीं है। अनित्य विभा से कहता है – "आज की दुनिया तीव्र गति से दौड़ रही है। गति की तीव्रता रिश्तों की चिंता नहीं करती।"[2] आज किसी के साथ किसी का लगाव नहीं है। 'कठगुलाब' उपन्यास में स्मिता का पति जिम उससे प्यार का नाटक करता है मगर शादी के बाद स्मिता को पता चलता है वह जिम के लिए मात्र एक गवेषणा का सॉब्जेक्ट है। 'आवां' उपन्यास में नमिता भी प्रेम के नाम पर ठगी जाती है। यहाँ तक कि पवार भी उससे अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए शादी करना चाहता है। सिद्धार्थ नमिता से कहता है – "संजय कनोई ठग है। कोई अलग अनुबंध वह तुम्हें दे नहीं सकता। मुझे विश्वास है – फेंक चुका होगा अब तक। न फंसी हो तो भली-भला। फँस चुकी हो तो खतरे से सावधान? मेरी चेतावनी का पाटिया गाड़ लो दिमाग में – आगे खतरा है? प्रेम में वह तुम्हें इस तरह प्रवृत्त कर देगा कि तुम स्वयवेम उसके लिए समर्पित हो जाओगी। प्रेममय होकर न तुम्हारे हृदय में ग्लानि उपजेगी कि तुम कोई अनैतिक काम कर रही हो, न यह कि कोई जबरन तुम्हारा शोषण कर रहा। उपभोक्तावादी प्रवृत्ति वह नहीं, जो मेरी है। परस्पर सहमति से उपभोग वह है, जिसे संजय कनोई प्रेम की आड़ में बोता-काटता है!''[3] वास्तव में उपभोक्तावादी संस्कृति में प्रेम आज ऐसा ही बन गया है। स्त्री शोषित होकर भी दु:खी नहीं होती है। नमिता की सहेली स्मिता अनेकों से प्रेम एक साथ रखती है। कपड़े की तरह वह बॉय फ्रेंड चेंज करती है। अपने प्रेमी के लिए स्मिता बोलती है- हर दूसरे-तीसरे रोज पगलाया सा फोन खटखटाता रहता है। मेरी हैलो सुनते ही टंडी रोना शुरू। फोन पकड़े मैं नि:शब्द उसकी गिड़गिड़ाहट सुनती रहती हूँ। कुछ देर बाद फोन रख देती हूँ। वैसे तो हरामखोर मर्द रोते नहीं ....साआल्ले, रूलाने पर ही रोते हैं, रूलाने वाला चाहिए।"[4]

---

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 369
[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 193
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 438
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 205

उपभोक्तवावादी संस्कृति ने जीवन को इतना खाली कर दिया कि आज सब कुछ खो जाने के बाद भी खुश रहता है। सारी दुनिया को वह खुद में बटोरने का प्रयास करता है। 'हम' आज 'मैं' में तब्दील हो रहा है।

5.1.4 नैतिकता का ह्रास

समाज जितना विकास करता जा रहा है उतना ही अपनी जड़ें तथा मूल्यों से च्युत होता जा रहा है। भौतिकवादी समाज में वह आसमान छूने के लिए अपने जमीन से खंडित होता जा रहा है। प्राचीन काल से जो सांस्कृतिक, पारम्परिक तथा नैतिक मूल्य हमारी धरोहर रही बीसवीं सदी तक ये सभी विघटित होने लगी हैं। समग्र विश्व में हमारी इस धरोहर को लेकर हमें गर्व है। इसी के बलबूते पर ही भारत श्रेष्ठ स्थान पर अवस्थापित है। मगर दु:ख की बात यह है कि आज आधुनिकता से हम इस तरह नेत्रहीन हो गये हैं कि नैतिकता के पालन में हमें शर्मिंदगी महसूस होती है। शहर में रहने वालों में आज यह बहुत कम ही देखने को मिलता है। भौतिक सुखों से घर भरते-भरते हम अपने दिलों को खाली करते जा रहे हैं। पश्चिमीकरण तथा उत्तर आधुनिकता की चकाचौंध भरी जिंदगी में मदमस्त होकर व्यक्ति यह भूल जाता है कि उसके घर में बूढ़े माँ-बाप अवहेलित हो रहे हैं। उनसे बतियाने के लिए भी पुत्र-पुत्री के पास समय नहीं। माता-पिता ने कभी अपने बच्चों के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था जिनके प्रेम में कभी भी कुछ पाने की ललक नहीं होती है। स्वार्थहीन प्रेम केवल माता-पिता ही देते हैं। मगर आज पुत्र यह देख रहा है कि माता-पिता से उसे जायदाद प्राप्त होगी कि नहीं धन के लालच में वह प्यार करने का नाटक मात्र ही करता है उसमें आत्मीयता की कमी होती है। यहाँ पर औलाद अपने माता-पिता के प्रति नैतिकता को बिसर जाते हैं। 'समय सरगम' उपन्यास में वृद्धा दमयंती की अवस्था अपने परिवार में दर्दनाक है। बच्चे उनको घर की एक अनचाही वस्तु ही समझ रहे हैं। अपने ही घर में वह मुक्त होकर साँस नहीं ले सकती है। दमयंती आरण्या से कहती है – "मैं वहाँ नहीं बैठ सकती, मेरे मेहमान नहीं बैठ सकते जबकि वहाँ का सब फर्नीचर, साज-सामान मेरा अपना बनाया हुआ है। और मैं किसी बेजान काठ की तरह देखी जाती हूँ।"[1] आधुनिक पीढ़ी के बच्चे इतने

[1] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 74

व्यस्त तथा अर्थ केन्द्रित हो गये हैं कि वे अपने माता-पिता के प्रति अपनी नैतिकता भूल जाते हैं। पैसे बटोरने के चक्कर में हम अपनी नैतिकता को पीछे छोड़ देते हैं। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में नील और भोला दोनों ही ऐसे पात्र हैं। अगर उनमें नैतिकता होती तो वे चाहे मजदूरी कर लेते मगर नील पुरुष वेश्या बनकर और भोला माफिया बनकर इतने नीचे नहीं गिरते। कुछ असुविधा होती है तो हम तुरन्त उससे उबरने के लिए असत्य पथ को अपना लेते हैं। इतना भी नहीं सोचते कि क्या हमें यह कार्य करना चाहिए या नहीं। लेकिन नील भले ही पुरुष वेश्या बनकर जितना पैसा कमा ले, कहीं-न-कहीं उसका अंतर्मन, उसकी नैतिकता उसका हनन करती है। भले ही वह उसको छू पाते मगर सच्चाई से वह मुँह नहीं फेर सकता। यह नील की नैतिकता ही है कि वह ब्लॉसम को यौन तृप्ति देकर पैसा लेता है तो उसे टीसता है। वह अपनी ही नजर में गिर जाता है। बढ़ती हुई धड़कन के बीच अचानक नील को यह अहसास हुआ – "ढली हुई मांस पेशियों की ग्लानि नोटों की झलक से विलीन हो गई और साथ ही ब्लॉसम का अपराधी सा चेहरा उसे अपराध-बोध से भर गया। उसने नोट लेकर जेब में डाल लिये। जब वह दरवाजे से बाहर निकला तो उसे लगा कि उसका सूक्ष्म, पारदर्शी रूपाकार उसे ऊपर से देख रहा है।"[1] यह सूक्ष्म, पारदर्शी रूपाकार नील की नैतिकता ही है जो उसे उसके घृणित कार्य के लिए बार-बार अपराधबोध से भर देती है। पारूल का भाई नितिन उसे फटकारते हुए कहता है – "तुम्हारी कोई नैतिकता नहीं? कोई आत्मसम्मान नहीं? मुलायम जिंदगी के लिए तुम खुशी-खुशी रंडी बनने को तैयार हो?''[2] वास्तव में नील पैसे कमाने के लिए गलत मार्ग चुनकर अपनी नैतिकता खो चुका था। जिससे वापस जाना नील के लिए असंभव था। सीधा-सादा भोलाभी माफिया का हिस्सा बनकर अपनी नैतिकता को गिराकर पश्चाताप करता है – "मुझे देखो, मथुरा में भाँग के आगे किसी चीज को हाथ नहीं लगाया। यहाँ कौन-सा नशा है, जो मुझे छूटा हो? एक दिन मांस न मिले, तो मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है ....कैसा पतन हो गया है मेरा?''[3]

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 77

[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 203

[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 157

'पाँच आँगनों वाला घर' उपन्यास में गोविन्द मिश्र ने समाज में हो रही नैतिकता के ह्रास का अत्यंत सजीव चित्रण किया है। आधुनिक समय तथा हमारी प्राचीन संस्कृति के बीच आज खाई बढ़ती जा रही है। सन्नी इस पर दु:ख जताते हुए कहता है – "यही स्वतंत्रता जिसे पाने के लिए इतने वर्षों संघर्ष चला था, इतने लोगों ने कुर्बानियाँ दी थीं। कहाँ गाँधीवाला समय जब अंतरात्मा, नैतिकता की बातें थीं, कहाँ यह समय जब पाखंड और बेपर्दा होकर सामने आ रहा है।"[1] आज लोगों में नैतिकता के प्रति आस्था टूटने लगी है। उन्हें यह सब बातें आज दकियानूसी लग रही है। युवा पीढ़ी में यह अधिक मात्रा में देखा जा सकता है। राजन जब अपने बच्चों में नैकिता का ह्रास होते हुए महसूस करता है तब वह अपने समय और अभी के समय में तालमेल बिठाने का असफल प्रयास करता है – "राजन जब छोटू की उम्र का था तो अपनी आलोचना कर लेता था, यह देखता था कि अपने आचरण से कितनों को कष्ट होगा। छोटू की चिंता का विषय यह है ही नहीं। उसके अनुसार तो सबसे ज्यादा कष्ट में वही है।"[2] राजन एक पिता होने के बावजूद भी अपने बच्चों को इस पतन से नहीं बचा पाता है। युवा पीढ़ी के लिए 'नैतिकता' को समझना भी दुष्कर कार्य है। इसी नैतिकता के पतन के कारण आज इन बच्चों में संस्कार की समाप्ति भी परिलक्षित होने लगी है। बड़ों के प्रति आदर सम्मान आज के युवा पीढ़ी में समाप्त होते जा रहे हैं। राजन अपनी बिट्टो के बारे में सोचता है – "इस घर से मिले संस्कारों, किताबों की पढ़ाई, अच्छे लोगों का साथ ....इन चीजों से काटा या कम से कम कराया जा सकता था, पर उनमें से कुछ भी बिट्टो के पास था नहीं। पढ़ाई तो उतनी ही जितनी मजबूरन करनी पड़े, उन लोगों के पास फटकना नहीं जो मूल्यों की बातें करते हों ...वे दकियानूसी हैं।"[3] व्यक्तिवादी समाज में आज कल के बच्चे बस अपने अंदर ही समाये रहना चाहते है। इन्हें ना अपने माता-पिता की फिकर है न ही आस-पड़ोस तथा समाज से। घर में आये हुए अपने चाचा-चाची के पास बैठकर बातें करने में भी उन्हें बोरियत होती है। उन्हें अंकल आंटी बुलाकर उनका मान कम करना भी आज एक फैशन बन गया है। मोहन और ओमी जब राजन के घर आते हैं तब राजन के बच्चों के पास उनके साथ दो पल के लिए

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 112
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 201
[3] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 153

बैठने के लिए भी तहजीब नहीं है – "बंटू बोला .....अच्छा अंकल ....मुझे जरा बाहर जाना है ....होप यू डोंट माइंड .....वह मुस्कुराते हुए उठा और बाहर निकल गया। छोटू उठकर अपने कमरे में चला गया। कमरे में 'शैक म्यूजिक' की तेज आवाजें बाहर आने लगीं .....टू-इन-वन में कैसेट भरा ही रहता है, बटन दबाने की देर।"[1] इस प्रकार के व्यवहार को संस्कृति का ह्रास ही कहा जा सकता है। पश्चिमी चाल-ढाल में मस्त होकर अपनी संस्कृति की अवमानना करने लगे हैं।

भारतीय संस्कृति में विवाह को महत्वपूर्ण माना गया है। माता-पिता अपने बच्चों के लिए योग्य पात्र ढूँढकर उनकी शादी कराते हैं क्योंकि विवाह जन्म जन्मांतर चलने वाला बंधन है और विवाह को इतनी मर्यादा केवल हमारे देश में ही दिया जाता है। यह हमारी संस्कृति है। मगर आज के आधुनिक बच्चों के लिए यह मान्य नहीं है। आज इसमें अपनी मनमानी करते हैं। अपने हिसाब से जीवन साथी चुनना आधुनिक जीवन का हिस्सा बन गया है। यहाँ तक कि युवा पीढ़ी बिना विवाह के एक साथ रहने लगे हैं। जिसे आधुनिक समाज में 'लिव-इन-रिलेशन' कहा जाता है जहाँ लड़का लड़की बिना विवाह किये एक छत के नीचे साथ-साथ पति-पत्नी जैसा रहते हैं। राजन-रम्मो का बड़ा बेटा बंटू एक विदेशी लड़की के साथ बिना विवाह के साथ रहता है। रम्मो जब उसे शादी की बात कहता है तो बंटू चिढ़कर बोलता है – " मम्मी, आप तो चार हाथ आगे उचक जाती हैं। शादी-वादी का अभी से कैसे सोचा जा सकता है, लेकिन हाँ शादी करने से मुझे अमेरिका में रहने की सहूलियत मिलती है तो व्हाइ नौट! हम दोनों ने यह सब अभी नहीं सोचा है। हम सिर्फ दोस्त हैं, ऐसे ही साथ रहेंगे।"[2] आज शादी में भी स्वार्थ सिद्धि को देखा जाने लगा है। जब तक स्वार्थ सिद्धि हो रही है तब तक ठीक है नहीं तो दोनों का पथ अलग अलग होने में समय नहीं लगता। 'निष्कवच' उपन्यास में विशाल और मार्था भी विवाह किये बिना साथ-साथ रहते हैं और यहाँ तक कि मार्था गर्भवती भी होती है। विशाल अमेरिका में रहने के कारण अपनी संस्कृति को भूल जाता है और अपनी माँ में जिस प्रकार संस्कृति के प्रति सम्मान होता है उसे वह तोड़ती है वह कहता है – "उसे क्या पता नियम पिघल चुके हैं। मनुष्यों के हाथों की स्वच्छंद डोरियों में फैसले उलझ चुके हैं। जिन बातों को वह स्थिर मानती होगी वह सबसे अधिक काँच है। सुन

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 142
[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 163

लेती कि मार्था से शादी ही नहीं हुई तो आघात में आ जाती। फेरों वाली शादी नहीं। कैसी भी शादी। इस अनुष्ठान के होने न होने का उस समाज में क्या कुछ फर्क पड़ेगा।"[1] वास्तव में आज हमारी संस्कृति तथा नैतिकता इसी पश्चिमीकरण के कारण 'काँच' बन गयी है। और युवा पीढ़ी उसे हर पल तोड़ते हुए आगे निकल जाती हैं। गोविन्द मिश्र ने सन्नी के माध्यम से यथार्थ का चित्रण किया है – "आज की मूल समस्या नैतिकता का ह्रास है। अगर लोगों की नैतिकता में आस्था हो तो वे सचेत रहेंगे, नेताओं में हो तो वे भी गिरने से बच सकते हैं। नैतिकता सध गई तो बाकी चीजें सध सकती हैं। नैतिकता खोई तो फिर कोई सीमा नहीं हम कहाँ तक गिरते चले जाएँ।"[2] मगर आधुनिक जीवन में अपनी नैतिकता तथा संस्कृति को बचाने में मानव असफल है।

5.1.5 अल्प परिश्रम और अधिक पाने की ललक

कम समय में बहुत कुछ पा लेने की ललक में व्यक्ति शॉर्ट कर्ट तरीके अपनाने लगा है। जिसे अंग्रेजी में आजकल शार्टकट तरीका कहा जाता है। सफल बनने के लिए मेहनत, धैर्य का महत्व उपभोक्ता संस्कृति में होने लगी है। इसके विपरीत व्यक्ति अपना दिमाग लड़ाकर, चापलूसी आदि गलत माध्यम से पैसा उपार्जन करना चाहता है कम समय के भीतर। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यासमें नील इसी शॉर्टकर्ट को अपनाकर पैसा कमाना चाहा है। महताब जी के पूछने पर नील कहता है- "आपके माध्यम से मैंने समृद्धि की शक्ति पहचानी है और मैं वही पाने की कोशिश कर रहा हूँ। मैंने शॉर्टकट का चुनाव किया है जो आपको खास गलत लग सकता है। आपको नये शहर में सिर्फ अपने सहारे अपनी जगह बनाने की जद्दोजहद नहीं करनी पड़ी इसलिए आपको ऐसे संघर्ष और उसकी पीड़ा का अंदाजा नहीं होगा। नैतिक दृष्टि लचीली होती है। वह व्यक्ति के साथ बदलती रहती है। हमारे समाज ने हजारों साल पहले एक स्त्री के पाँच-पाँच पतियों को स्वीकार किया है। मैंने अपने चुनाव के लिए जो तर्क आपको दिए हैं, उन्हें शायद आप इस समय स्वीकार न करें। लेकिन हर समाज में आखिरी मूल्यांकन की कसौटी सफलता ही होती है।"[3] विडम्बना यह है कि व्यक्ति अपनी नैतिकता के स्खलन

---

[1] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 90

[2] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द्र मिश्र, पृ.सं. 170

[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 148

को वर्तमान समय में सकारात्मक रूप में ग्रहण करने लगा है। बल्कि उसके लिए सफलता ही अंतिम मूल्यांकन है। भले ही वह सफलता किसी का गला काटकर ही क्यों न मिली हो। नील उच्च शिक्षित होने के बावजूद उपभोक्तावादी की चपेट में आ जाता है। महानगर की चकाचौंध से भरी जीवन शैली में उसे यह एहसास हुआ कि शिक्षा से उसे सफलता प्राप्त नहीं हो पाएगी और ना ही बाजार की इतने लुभावने चीजें शिक्षा मुहैया कर सकता है। नील कहता है – "मुझे अपना नया स्लॉट बनाना है। बंबई आने के पहले दिन उसकी यही चिंता थी। उसने ऐसा कर लिया है। अब संयोग से उसके लिए दूसरा स्लॉट भी निकल आया है। वह उसमें भी अपने को स्थापित करने की कोशिश क्यों न करे? मेहताब जी की नौकरी विश्वविद्यालय की अध्यापकी नहीं है। एक महीने की नोटिस पर कभी भी उसकी छुट्टी हो सकती है। फिर क्या नौकरीपेशा लोग ओवरटाइम नहीं करते?"[1] भोला जैसा सीधा सादा गाँव का आदमी भी मुम्बई में आकर पैसे कमाने की ललक में शॉर्टकट तरीका को ही अपनाता है। माफिया का अंग बनकर भले ही वह अधिक पैसा उपार्जन करने लगे परन्तु मानसिक शांति उसे नसीब नहीं होती है। मगर ऐसी तनावपूर्ण जिंदगी के दुख को दबाने के लिए भोला ने मादक द्रव्य का सहारा लिया है – "उसने भरी हुई सिगरेट का गहरा कश लिया। अब तंबाकू का पान काफी नहीं था। तनाव में इंद्रियों को समतल रखने के लिए अपेक्षाकृत गहरी चीज की जरूरत पड़ती थी।"[2] दोनों का जीवन इस शॉर्टकट पद्धति के चुनाव के कारण तहस-नहस हो जाता है।

महानगरीय आपाधापी में पैसे कमाने के लिए ऐसे ऐसे माध्यम का चयन करते हैं जो केवल और केवल उपभोक्तावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। जब लोगों को एक गलत मार्ग से सफलता मिल जाती है तब उनके पंख निकल आते हैं। फिर एक के बाद एक शॉर्टकट के नये तिकड़म अपनाये जाते हैं। नील जब पुरुष वेश्या बनने का तरीका अपनाकर सफलता पा जाता है तब उसमें आत्मविश्वास प्रबल हो जाता है। वह अपने उस पैसे के बल पर अधिक उपार्जन करना चाहता है। भोला जब पूछता है कि किस चीज का ऑफिस खोलेंगे तब नील उसे कहता है – "एस्टेट एजेंसी। उसमें भरपूर पैसा है। दो फीसदी कमीशन। बीस लाख से कम की डील तो इन इलाकों में होती ही नहीं। शुरू में हफ्ते में एक

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 82-83

[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 110

डील भी हो गई तो काम जमने लगेगा। खाते में इतना है कि छह महीने का गुजारा चल जाएगा और मीरा रोड – बसई – नालासोपारा में दो फ्लैट आ जाएँगे। पाँचेक साल किराए पर दूँगा। फिर कीमत दुगुना हो जाने पर बेचकर प्रॉफिट को फिर इन्वेस्ट कर दूँगा।"[1] नील हमेशा अपना रोना रोता है कि उसका कैरियर बिखर गया इसलिए उसे यह शॉर्टकट अपनाना पड़ा। पर वास्तव मे यह नील का दोष नहीं है। उपभोक्तावादी समाज लोगों को भौतिक सुख के प्रति लालायित करके उन्हें गलत रास्ता अपनाने के लिए मजबूर कर देता है। व्यक्तिवादी समाज में व्यक्ति की काबिलियत उसकी कामयाबी से तय की जाती है। कामयाब उसे ही माना जाता है जिसके पास बेशुमार पैसा हो। मोहिनी जब नील से कहती है कि – "तुम्हारे पास भी डिग्री थी। तुम यही रास्ते पर जा सकते थे।"[2] तब नील मोहिनी से कहता है – "साल में डेढ़ सौ रुपए के इंक्रीमेंट का रिवायती रास्ता मुझे मंजूर नहीं था। चलते हुए अगर माथे पर सोने का ताज आ जाए तो हर रास्ता सही होता है। मेरा अचानक छिन गया, तो मुझ पर थू-थू होने लगी। इस दुनिया में आखिरी कसौटी सिर्फ कामयाबी है। समझे? वो कैसे हासिल की गई, कामयाब इसे दरगुजर करने के लिए दूसरों को मजबूर कर देता है।"[3]

अल्प परिश्रम और अधिक कमाई के प्रभाव से स्त्री भी नहीं बच पायी है। शिक्षित तथा स्वच्छंद नारी भी इस मामले में पीछे नहीं रहना चाहती है। मॉडल गर्ल की शालू अपने देह के जरिए जीवन के तमाम सुख भोगना चाहती है। वह कहती है – "आखिर मैं क्या चाहती थी? तृप्ति! काहे की तृप्ति! मैं अतृप्त थी। मुझे अपने हुस्न और जवानी से शिद्दत से भोगना चाहिए था ताकि हर क्षण एक हजार क्षण हो जाए, एक लाख क्षण! बेशुमार, अनंत, फैल जाए। और मैं इसकी गोद में समा जाऊँ।" शालू और उसकी सहेली रोजी देह व्यापार में लिप्त रहकर जीवन का उपभोग करना चाहती है। शहर की लुभावनी जीवन शैली से आज औरत भी मुक्त नहीं हो पाई है। शालू रोजी से कहती है – "तुम चीप औरत हो। बिकती हो। हर शख्स की गोद में बैठने को तैयार – हर एक को लुभाने के लिए बेताब। इसलिए जाहिरी तौर पर तुम मुझसे ज्यादा कामयाब हो, लेकिन अंदर से खोखली ....ईर्षा से भरी हुई

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 244
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 237
[3] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 24

......ऊपर से जान निछावर करने वाली सहेली।"[1] अल्प परिश्रम और अधिक कमाई के उपाय से अर्थ उपार्जन करना आज इन नारियों के लिए 'फैशन' नाम ग्रहण कर लिया है। मॉडलिंग करके पैसा कमाने की ललक आज ज्यादातर महिलाओं में पाई जाती है। मगर 'मॉडलिंग' 'देह 'व्यापार' का ही आधुनिक रूप है। रोजी शालू से कहती है – "मैं ऐश करती हूँ .....बड़े से बड़ा फन्ने खाँ मेरे पाँव पर पड़ा है। मैं मुस्कुराहट को पल्लू में छुपाकर नहीं रखती। इसे बिखेरती हूँ। बगैर कुछ लिए-दिए मर्द मोहित हो जाता है और मेरे सौ काम करता है। वो मेरी मुस्कुराहटों को लूटता है और मैं उसे। अरी, ये सब लूट का सोदा है। मुझे वो भजन याद आता है – राम नाम की लूट मची है – लूट सके तो लूट!''[2] आज स्त्री जीवन की यही असलियत है। जो देह को कपड़ों के परतों में छुपाकर स्त्री महफूज महसूस करती थी वही स्त्री दलाली के दौर में 'देह' को बाजार में उछालने लगी है। बाजारवादी दौर में शॉर्टकट संस्कृति में उसके कपड़े भी दिन-ब-दिन शॉर्ट होते जा रहे हैं। नमिता में पढ़ने की इच्छा थी मगर वह भी चाहे-अनचाहे इस सत्य को पहचानने लगी थी कि केवल पढ़ाई करके कहीं पहुँचा नहीं जा सकता है। सिद्धार्थ उससे कहता है – "कैरियर बना भी लोगी तो भविष्य में पछताओगी नहीं। मॉडलिंग वह सब कुछ दे सकती है जीवन में जिसे पढ़ाई पूरी करके भी हासिल कर पाना संभव नहीं।"[3]

उपभोक्तावादी दौर में नैतिकता तथा मानवीय जीवन मूल्य का घोर अवमूल्यन हो रहा है। पैसे उपार्जन कर घर भरे के चक्कर में हम अपने दिलों को खाली करते जा रहे हैं। अल्प परिश्रम और अधिक कमाई की भावना को अपनाकर मानसिक शान्ति समाप्त होने लगी है। हम यह आज भूलते जा रहे हैं कि जो चीज कठिनाइयों को झेलकर प्राप्त होती है उसे पाने में बहुत खुशी होती है और वह खुशी जीवन पर्यन्त होती है। मगर अल्प परिश्रम से प्राप्त खुशी चंद लम्हों के लिए होती है। यह क्षणिक खुशी हमें भरती नहीं बल्कि खाली कर देती है।

---

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 45
[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 100
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 284

5.1.6 तकनीकी विकास का गलत प्रयोग

औद्योगीकरण के कारण देश में तकनीकी विकास को प्रोत्साहन मिला है। नये-नये तकनीक लोगों के बीच की दूरी कम करने लगे। नित्य नये तकनीक का व्यवहार कर आधुनिक मानुष अपडेटेड कहने में गर्व महसूस करता है। शहर में शुरू होते हुए अब यह गाँव को भी छूने लगा है। हर दिन बाजार में इतने नये-नये तकनीक से समृद्ध वस्तु उपलब्ध हो रही हैं जिसका जायजा ले पाना वाकई कठिन कार्य है। इस तकनीकी दुनिया में बस बटन दबाने भर की देरी होती है। बटन दबाते ही वह सब कुछ मुहैया हो जाता है जो कल्पना से परे है। इन्हीं सभी वस्तुओं का जीवन में प्रयोग कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में चार चाँद लगाने का प्रयत्न करता है और वह स्वयं को संपूर्ण समझता है।

मगर जहाँ इस प्रकार की उपलब्धि के कारण विकास को तीव्र गतिशीलता प्राप्त हुई है वहीं दूसरी ओर इसके कारण समाज में अनेक विसंगतियाँ भी विकसित हुई हैं। इन तकनीकी विकास के कारण युद्ध, पर्यावरण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भोगवादी लिप्सा के कारण हम इस पर ध्यान नहीं देते हैं। श्यामाचरण दुबे कहते हैं – भारत में एक भोगवादी समाज विकसित हो रहा है जो पश्चिम के अनुकरण में नये-नये उत्पादनों का अधिक से अधिक उपभोग करना चाहता है। उसकी जीवन शैली का आधार ही उपभोक्तावाद है। वह सुख की व्याख्या परिग्रह और उपभोग के मानकों से करता है। यह सच है कि हम इन नवीन तकनीकों का इस्तेमाल करके पश्चिम जैसा बनना चाहते हैं। इस मोहजाल में फँसकर हम यह भूल जाते हैं कि इसके नकारात्मक प्रभाव से समाज तथा व्यक्ति किस प्रकार ग्रसित है। विज्ञान के विकास ने जहाँ हवाई जहाज बनाकर देश-देश की दूरियों को कम किया है वहीं दूसरी ओर इसी विज्ञान ने 'बम', बंदूक बनाकर दुनिया में दहशत फैला दी है। इसी तकनीकी विकास के कारण ही आज समग्र विश्व में आतंकवाद कोहराम ढा रहा है। हर दिन कितने लोग आतंकवादी हमलों में अपनी जान गँवाते हैं। विडियो गेम में खोया व्यक्ति इससे अनजान है या न जानने की इच्छा। 'नरमेघ' उपन्यास में मनमोहन सहगल आतंकवाद के घिनौनेपन का चित्रण करते हुए इस तकनीकी विकास के नकारात्मक पक्ष को भी उजागर करते हैं। महेन्द्र नाथ आतंकवादी दहशत के बारे में कहते हैं – "इन आतंकवादियों के मारे नाक में दम है। जीवन इतना असुरक्षित और आतंकित हो गया है कि घर से

निकलना मौत सरीखा लगता है।"[1] आतंकवादी तो इंसान मात्र है। इंसान से इंसान डरता नहीं है मगर आतंकवादी कोई तभी बनता है जब वह हथियार उठाता है। हथियार के बल पर ही समाज में आतंक फैलाता है। बंदूक की नोक पर दुनिया को रखता है। तकनीकी विकास की बदौलत ही आम आदमी आतंकवादी बनता है। ज्यादातर गाँव के मासूम युवक जो अज्ञानी होते हैं उन्हें ही प्रशिक्षित करके हथियार देकर आतंकवादी बनाया जाता है। मनमोहन सहगल इसका चित्रण करते हैं – " 'आपरेशन काफिर इलिमीनेशन' की रिपोर्ट इमाम साहब को दी जा रही थी। पाकिस्तान सीक्रेट सर्विस एजेंसी के वे पन्द्रह सैनिक रहमत खाँ के खास कमरे में मौजूद थे, जिन्हें कल के ऑपरेशन में भेजी गई चार-चार नौजवानों की पंद्रह पार्टियों के साथ निरीक्षक बनाकर भेजा गया था। अपने विश्वस्त सैनिकों की देख-रेख में स्थानीय पथभ्रष्ट नौजवानों से अपराध करवाना, रहमत खाँ की पॉलिसी थी। स्थानीय नौजवानों को प्रशिक्षण और हथियार दिलवाने का काम पूरा होने के साथ-साथ जो ब्रेन वाश उन्हें दिया जाता था, वह उन्हें निर्मम, नृशंस और निर्दयी बना देता था।"[2] इसी उद्धरण से हम अंदाजा लगा सकते हैं कि तकनीक विकास आखिरकार समाज को किस ओर ले जा रहा है। चिंताजनक स्थिति यह है कि यह तकनीक वह असुर बन गया है जो खुद शिव से वर प्राप्त कर उनका ही वध करना चाहता है। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं तथा सुरक्षा के लिए जिस तकनीक का विकास करता है वही उसका विनाश का कारण बनता है। लेखक इस तकनीक विकास की भयावहता को इस प्रकार उजागर करते हैं – "हथियारों की सप्लाई-लाइन निर्बाध बनाए रखने में आबिद बड़ी सहायता करता है। सरहद के आर-पार हथियार पहुँचाने में एक प्रकार से उसे महारत हासिल है। वह रात के अंधेरों में सीमा प्रदेश की फसलों में हथियार छिपा देता है। दिन के उजाले में मौका पाकर हथियारों को वहाँ से निकालता और यथास्थान पहुँचाता है।"[3]

समाज में विज्ञान का गलत प्रयोग कर असुरक्षित वातावरण फैलाये जा रहे हैं। साम्प्रदायिकता की भावना ने आज जिस प्रकार देश को जड़ से हिलाकर रख दिया है इसका कारण यही है। खतरनाक

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 140
[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 154
[3] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 101

औजारों के आविष्कार के कारण ही साम्प्रदायिकता आज खत्म नहीं हो रही है बल्कि स्थिति बदतर होती जा रही है। 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में लोगों के शैतानी दिमाग किस प्रकार समाजघाती कार्य में लिप्त है इसका चित्रण हुआ है। कुछ लोग शरद से कह रहे हैं – "देखिए, हमें अमीर देशों की मदद नहीं मिल रही तो हाथ बाँध के तो नहीं बैठ जाना? हम अपनी मदद खुद करेंगे। पान जर्दा के टिनों में सल्फर और पोटेशियम नाइट्रेट ठूंसकर भरा है। यह बम है।"[1] लोग आज जानबूझकर केमिकल का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। कौन जाने जो बम वे विरोधियों के लिए रखा हो, उन्हीं के बच्चे उसका शिकार बनें। इसी केमिकल का गलत प्रयोग जानलेवा साबित हो रहा है। 'एसिड फेंककर महिला को घायल किया गया' ऐसी खबर आज सुर्खियाँ बनी हुई है। शरद लिख रहा है – "इस इलाके में जूतों के कारखाने हैं। जूतों के सोल जोड़ने वाला सोल्युशन तेजी से आग पकड़ता है और खाल से चिपक जाता है। उसे मिट्टी के कुल्हड़ों में भरकर, कुल्हड़ों के मुँह कपड़े से बाँधकर, इस्तेमाल के लिए तैयार रख दिया है।"[2] इस उद्धरण से हम विज्ञान की विनाशकारिता को देख सकते हैं। इसका गलत प्रयोग कर लोगों में साम्प्रदायिकता फैलायी जा रही है जो समाज को पतनोन्मुखी करता है। ऐसे त्रासदीपूर्ण समाज में आम लोगों में दहशत फैल गई है कि कभी भी उनकी जान जा सकती है। शहर में वे अपने को सुरक्षित नहीं मान रहे हैं। एक जमाना था जब शहर तथा महानगर तकनीकी विकास के कारण ही बसने लगा था। और गाँव के लोग शहर की ओर चल पड़े थे इसलिए कि तकनीकी विकास उन्हें सुखद जीवन मुहैया करेगा। मगर आज बदलते समय में यह दिवास्वप्न है। शहर के लोग ही इस तकनीक विकास के दौर में अधिक पीड़ित हैं। शहर के दहशत भरे जीवन के बारे में गीतांजलि श्री लिखती हैं – "यह तो अफवाहों में अफवाह निकली! अफवाहों का सरताज! कि गोली ही नहीं, बम था जो कहीं दूर से फेंका गया! गोली और बम का फर्क भी क्या आजकल नहीं मालूम पड़ रहा? क्यों नहीं पड़ रहा फर्क, गोली और बम का? सौ फीसदी पता पड़ रहा है – एक है हिंदू और एक है मुसलमान?"[3] विज्ञान

---

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 30

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 30

[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 326-327

के इसी नकारात्मक प्रभाव से लोग अपने लिए खुद गड्ढा खोदने लगे हैं। इसकी बदौलत आज समाज में हिंसात्मक कार्य में आनुपातिक रूप से वृद्धि हुई है।

सामाजिक जीवन तो त्रस्त है ही तकनीकी गलत प्रयोग पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन को भी विसंगत पूर्ण बना रहा है। विज्ञान के गलत प्रयोग के कारण ही गर्भपात एवं पुत्री भ्रूण हत्या जैसी विसंगतियाँ अपनी स्थिति दर्ज कराने लगी हैं। फलस्वरूप लोगों का जीवन अधिक उत्छृंखल बन रहा है। व्यक्ति तथा परिवार आज विघटित हो रहे हैं। गलतियों की पुनरावृत्ति होने लगी है। 'गर्भपात' आज इतना सहज हो गया है कि स्त्री-पुरुष दोनों को अपराध बोध से पीड़ित होने का मौका नहीं देता है। नतीजतन स्वच्छंद यौनाचार आम बात बन गयी है। अविवाहित युवक, युवती इस तकनीक का अत्यधिक फायदा उठाते नजर आ रहे हैं। शिक्षित नारी अपने कैरियर तथा सौंदर्य को बनाये रखने की खातिर बच्चा पैदा करना नहीं चाहती है। इसलिए वह गर्भपात को चुनती है। शालू भी ऐसी ही स्त्री है जो मॉडलिंग में अपना कैरियर बनाने के कारण बच्चा गिरा देना चाहती है। वही कहती है – "जिंदगी का सारा सुख-दुख ......संघर्ष ......भावनाएँ .....ख्वाब ......सब कुछ खत्म!"[1] बच्चे के कारण उसकी तमन्नाओं का गला घोंट देने के डर से वही गर्भपात करना चाहती हे जो आजकल बढ़ती तादाद के कारण सस्ता भी हो गया है। वह चाहती है गर्भपात करके तमाम परेशानियों से छुटकारा पा लेना ही अच्छा है। वह कहती है – "मैंने अपनी सहेलियों से गर्भपात के बारे में सुना था .... रोजी ने मुझे अपने किस्से सुनाए थे। वो खुद तीन बार गर्भ गिरा चुकी थी। उसे तज़र्बा था। वो उस डॉक्टर को भी जानती थी और उस नर्स को भी जो ये काम करती थी। बस पाँच हजार रुपये फीस।"[2] 'आवां' उपन्यास में नमिता भी गर्भपात कराना चाहती है। अविवाहित लड़की का गर्भवती होना हमारे समाज में ग्राह्य नहीं है इसलिए गर्भपात ही इसका समाधान है। शहर में तो यह आम बात है। स्मिता नमिता से कहती है – "एक काम कर ....तुरंत एक नर्सिंग होम ढूंढ। पैसे भर। सफाई करवा ले। दो ढाई घंटे में सब कर-करा घर लौट आएगी। बल्कि दूसरे रोज आराम से प्रशिक्षण केन्द्र जा काम में लग सकती है।"[3] आज

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 68

[2] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 68

[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 508

समाज किस प्रकार इन तकनीकी विकास के विनाशकारी दलदल में फँस रहा है इससे पता चलता है कि गर्भपात गैर कानूनी होने के बावजूद भी आज स्थिति पूर्ववत है। चोरी छुपे ऐसे कार्य चल रहे हैं। स्मिता इसलिए कहती है – "कल वापस नर्सिंग होम जा और सीधे बात कर डॉक्टर से। न कुछ हो पाए तो बताना, कोई उपाय और सोचेंगे। मुम्बई में लाला ......जिस गली चाहो, करवा लो ......।"[1] यह स्थिति व्यक्ति को विघटन की ओर ले जाती है। 'निष्कवच' उपन्यास में मार्था जो विशाल के बच्चे की माँ बनने जा रही थी, वह अपनी नारीवादी चिंतनशीलता के कारण गर्भपात कर लेती है। मार्था कहती है – "मैं अमिनोसण्टेसिस के लिए गयी थी। पता लगा, लड़का है। तब तो और भी आसाँ हो गया मेरे लिए फैसला। भला मैं क्यों उनकी नस्ल को बढ़ाना चाहूँगी – दीज ब्रूट्स। इन्होंने सदियों से हमें कुचलकर रखा है।"[2]

आज विडम्बना यह है कि 'सोनोग्राफी' के कारण आज यह पता चल जा रहा है कि पुत्र या पुत्री होने वाली है। इस तकनीक के कारण पुत्री भ्रूण हत्या आज हजारों की तादाद में होने लगी है। नमिता सोचती है – "सदैव उसे अवांछित महसूस करने वाली माँ ने चाहे-अनचाहे ही सही, उसका भ्रूण भार झेलने का अपार कष्ट उठाया ही होगा – बेटे की अगवानी में संघर्ष। मान लो, सोनोग्राफी की सुविधा तब हुई होती और माँ को पता लग जाता कि उनके बेटे के बदले में धूमधाम से वह चली आ रही है तो वह उसके साथ कैसा सलूक करती ?.....''[3] उपभोक्तावादी समाज में लोग नये-नये तकनीकी के प्रलोभन में फँसकर इसके नकारात्मक पक्ष को समझ नहीं पाते जो समाज, परिवार तथा व्यक्ति को विघटित करता है। इसमें संतुलन स्थापन अपरिहार्य है।

5.1.7 विज्ञापन का प्रभाव

पूंजीवादी व्यवस्था में विज्ञापनों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विज्ञापनों का मुख्य उद्देश्य है चीजों को आकर्षित तरीकों से पेश कर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना। 'विज्ञापन' व्यक्ति में ऐसी ललक पैदा करता है जिससे वह उस वस्तु को खरीद कर उपभोग करना चाहता है। बीसवीं

---

[1] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 509
[2] निष्कवच - राजी सेठ, पृ.सं. 92
[3] आवां - चित्रा मुद्‌गल, पृ.सं. 510

शताब्दी की उपभोक्तावादी संस्कृति की चलन के कारण 'विज्ञापन युग' कहने से अत्युक्ति नहीं होगी। उपभोक्ता को उपभोग के प्रति लालायित करने का कार्य विज्ञापन करता है। इस विज्ञापन की चकाचौंध का शिकार मुख्यत: मध्यम वर्ग ही होता है जो उपभोक्तावादी संस्कृति की उपज है। आनंद पाटील के अनुसार – "दूरदर्शन पर दिखाए जाने वाले विज्ञापनों का निशाना यही मध्य वर्ग है जो खुद को, अपनी जीवन शैली और अपने पूरे परिवेश को टेलीविजन के परदे के हिसाब से देखता-परखता है। जबकि टेलीविजन हमारी जिंदगी को ही एक 'प्रोडक्ट' बना रहा है।"[1] विज्ञापन की चकाचौंध में भ्रमित होकर लोग कुंठित हो रहे हैं। जो जरूरत नहीं भी होती है वह जरूरत बन जाती है। नतीजतन 'बाजार' घर में प्रवेश करने लगता है। परिवार विघटित होना शुरू हो जाता है।

'कठगुलाब' उपन्यास में असीमा का भाई असीम विज्ञापन की इसी चकाचौंध से बेहद प्रभावित था जो निम्न मध्यवर्गीय में साधारण माना जाता है। असीमा कहती है – "कौन-सी फिल्म में कौन तारिका है, कौन-सा गाना कितना हिट हुआ, बाल काढ़ने का ठीक क्या उन दिनों प्रथम स्थान पर है, उन्हें सब जानकारी रहती थी। टी.वी., बी.सी.आर., फ्रीज, कूलर आदि के क्या दाम हैं और वे जिंदगी के लिए कितनी अहम जरूरियात की चीजें हैं, यह भी अच्छी तरह जानते थे। मोटरसाइकिल के बिना जिंदगी कितनी बेजान, बेमतलब और टुच्ची है यह अहसास बराबर उन्हें कचोटता था।"[2] विज्ञापन का असली उद्देश्य यही है कि व्यक्ति को भौतिक सुख प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन दिखाना और व्यक्ति को जीवन का परम सुख इसी में ही नजर आता है। खासकर युवा वर्ग पर इसका प्रभाव अत्यधिक परिलक्षित होता है। असीम का भाई इन्हीं भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए अपनी माँ और बहन को छोड़कर अपने धनी पिता और सौतेली माँ के पास चला जाता है। विज्ञापन के मोहजाल में फँसकर उसे अपनी दुखियारी माँ जो पिता के छोड़ जाने के बावजूद अपने बलबूते पर उसे पाल-पोस कर बड़ा करती है उसका दु:ख भी दिखाई नहीं देता है। विज्ञापन का असर समाज पर गहरा पड़ता है। फिल्म देखकर उसे जीवन का सच मानने लगते हैं और ख्याली पुलाव बनाने लगते हें मगर वास्तविकता कुछ विकट होती है। नर्मदा बोलती है – "हाय दैया, मुझे तो नेकु सरम ना

---

[1] संस्कृति बनाम संस्कृतीकरण - आनंद पाटील, पृ.सं. 24

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 167-168

आयी, बस बल्लियों उछलता रहा हिया। बालों की चोटी गूँथी तो मन गजरा लगाने को कर आया जैसे फिल्मों में होवे हैं। देखा करूँ थी ना, असीमा के यहाँ, टी.वी. पे।"[1] बीसवीं सदी में पूंजीपतियों की ही चाल रही कि विज्ञापन के माध्यम से लोगों को बहला फुसलाकर बस अपना ही माल विक्रय करे और मुनाफा कमाये। इस घिनौने स्वार्थ सिद्धि के चलते समाचार पत्र में अफवाहें फैलायी जा रही हैं। यहाँ तक कि अखबारों में झूठ छापकर साम्प्रदायिकता में घी डाली जा रही है। 'हमारा शहर उस बरस' में श्रुति पत्रकार से कहती है – "अरे, आप दहशत और बढ़ा रही हैं। हम जानते हैं कि कहाँ क्या हो रहा है। आप एक जगह देखकर अखबार में शहर भर का ब्यौरा दे देती हैं। आप लोग ऐसे बढ़ा-चढ़ाकर लिख रहे हैं, तभी उनकी मान्यता बढ़ती जा रही है कि सारे हिंदू कौमवादी हैं। हमारा काम मुश्किल कर रही है।"[2] अखबारों में वही खबरें छपती हैं जिसकी बिक्री अधिक हो। भले ही समाज पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़े मगर उन्हें कुछ फर्क नहीं पड़ता है। भले ही वह झूठ हों। साम्प्रदायिकता एक संवेदनशील मामला है मगर समाचार पत्रों को कुछ मतलब नहीं होता है। उन्हें बस अपनी मसालेदार खबरें बेचना होता है। 'नरमेघ' उपन्यास में लेखक ने इन समाचार पत्रों के घिनौने रूप को दर्शाया है जो किस प्रकार लोगों में साम्प्रदायिकता फैला रहे थे। - "कश्मीर सरकार के समस्त विभागों में पाकिस्तानी एजेंटों का दखल सुलभ बनाया गया और जहरीले प्रचार-तंत्र को दो भागों में विभाजित करके एक ओर काश्मीरी जनता में भारत के लिए घृणा और पाकिस्तान के लिए मुहब्बत का जज्बा पैदा करने की कोशिश होने लगी तो दूसरी ओर भारतीय सुरक्षा बलों का मनोबल तोड़ने के लिए उन्हें जनता में अत्याचारी, बलात्कारी, दमन और द्रोह के कारिंदों के तौर पर बदनाम किया जाने लगा।"[3] कहा जाता है कि राष्ट्र के निर्माण तथा विकास में मीडिया का महत्वपूर्ण माध्यम है। इसी उद्देश्य से लेकर आरंभ होने वाला मीडिया बीसवीं शताब्दी में भ्रष्ट होने लगा। इन समाचार पत्रों को बड़े लोग खरीद लेते हैं या उनके अनुसार ही खबरें छपती है। 'आवां' उपन्यास में एक मजदूर कहता है – "एथी वजह है ऊकनी सिरफिरी। जो जी में आता है भड़काऊ लिख मारते हैं। पानी के बजाय तेल के पीपा उड़ेलेंगे सुलगते

---

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 151

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 80

[3] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 59

थैलों में, हरामखोर, तो, बस्ती में आग लगने से बचेगी? दंगा करके ही दम लेंगे साआले।"[1] उपभोक्तावादी समाज में अपनी किसी भी काबिलियत को बेचने के लिए विज्ञापन का सहारा लिया जाता है। जो वाकई अजीबोगरीब विज्ञापन है और जो बीसवीं सदी के अंतिम दशक की ही देन है। पैसे कमाने की नयी-नयी तरकीब अपनाये जाने लगे हैं और उसको स्वच्छंद रूप से विज्ञापित किया जा रहा है। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' का नायक नील 'जिगोलो' वृत्ति अपनाने के लिए समाचार पत्र में अपने विज्ञापन निकालता है – "क्या आपको अकेलापन चुभ रहा है? जिस्मानी पुनर्यौवन और भावात्मक स्थिरता के लिए इस नंबर पर संपर्क और काफका के मिलने-जुले अवतार को फोन करें। हम आपको विश्वास दिलाते हैं, जिंदगी में आपकी आस्था फिर जाग जाएगी। ऐसी गारंटी के बावजूद पारिश्रमिक वाजिब।"[2] बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाज इस प्रकार विसंगतिपूर्ण होने लगा है कि पैसा सभी को बंदर की तरह नचाता है। इसलिए समाज सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन मूल्यों के धरातल पर प्रताड़ित होने लगा है। इसलिए इस प्रकार के विज्ञापनों से समाचार पत्र भरे रहते हैं। नील कहता है – अखबारों में कुल मिलाकर लगभग एक हजार जगहें होंगी। अपारंपरिक विज्ञापन सिर्फ एक था, जिसने उसकी चेतना को झंकृत कर दिया : महिला के लिए शिक्षित सुसंस्कृत कंपेनियन चाहिए। अब लोग जीवन साथी चुनने के लिए भी विज्ञापन देने लगे हैं और अब उम्र की कोई सीमा नहीं रह गयी है। किसी भी उम्र में आज व्यक्ति शादी कर सकता है घर बसा सकता है। पश्चिमी सभ्यता का ही यह असर है। हमारे देश में आज यह ग्राह्य है। 'आवां' उपन्यास में मुनिया सोचती है – "ताई की जिम्मेदारी न होती तो वह अपनी सुन्दरी आई का दूसरा बयाह करा देती। पिछले हफ्ते ही उसे 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में एक सेवानिवृत्त, बाल बच्चों की जिम्मेदारी से सर्वथा मुक्त, विधुर की 'अच्छी, सुसंस्कृत पत्नी' के लिए पुकार सुनी। आई को उसने प्रौढ़ दूल्हे की पुकार से अवगत कराया। मन टोहा, राजी हों तो वह उनके गुण-अवगुण फोटो सहित विचारार्थ प्रेषित कर दे। आई ऐसे लजाईं जैसे उसने जबरन पकड़कर उन्हें बेदी पर बिठा दिया हो। क्रोध उन्होंने बाद में जताया – क्रोध का अभिनय करते हुए।"[3]

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 103
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 103
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 490

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में विज्ञापन के इस फैलाव ने स्त्री का अत्यधिक दोहन किया है। विज्ञापन का भार लिए स्त्री केवल 'देह' बनकर रह गई। चीजें भी स्त्री देह को देखकर ही बिकने लगी। समाचार पत्र से लेकर टी.वी. इंटरनेट हर जगह स्त्री के अधखुले शरीर प्रदर्शित होने लगे। स्त्री भी इससे सातवें आसमान पे चढ़ने लगी। इसी वजह से मॉडलिंग पेशा उभरने लगा। इस पेशे को अपनाकर नग्न होने के लिए स्त्री खुद को खुशनसीब समझने लगी। गौतमी नमिता से कहती है – "मैडम की इच्छा है पारंपरिक केश-विन्यास और वेशभूषा में सुसज्जित होकर नमिता ही गौतमी के द्वारा चयनित उन विशेष आभूषणों का प्रदर्शन करे, ताकि उनकी मन-मोहकता, कलात्मकता और विशिष्टता की महीनियों को संजय कनोइ्र प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें कि वे स्त्रियों द्वारा विशेष अवसरों पर धारण करने पर उनके व्यक्तित्व को कैसे अलंकृत कर वैशिष्ट्य प्रदान कर सकते हैं। उन्हें गरिमा मंडित बना सकते हैं। ठीक तीन बजे के करीब मिस्टर मारिया नमिता से श्रृंगार हेतु 'वान' ब्यूटी पार्लर ले जाएंगी। प्लास्टिक बुतों के माध्यम से उत्कृष्ट और अनूठे गढ़न के आभूषणों का प्रदर्शन मैडल को उनकी कारीगरी और महत्ता की उपेक्षा प्रतीत होती है।"[1] विज्ञापन युग में स्त्री बस चलती-फिरती बुत बन गई है। अपने शरीर पर भी उसका बस नहीं चलता है। सृत्री पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली बनकर रह गई है। आखिरकार पूंजीवादी समाज में विज्ञापन समाज को झूठ और फरेबी जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य कर रहा है।

5.2 सामाजिक विसंगतियों के परिणाम

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज में पारंपरिकता तथा आधुनिकता के बीच द्वंद्वात्मक स्थिति के कारण अत्यंत ऊथल-पुथल का समय रहा। विदेशी ताकत का नवीन अध्याय का शुरू समाज को जहाँ रोमांचित किया दूसरी ओर जाने-अनजाने में समाज इन द्वंद्वात्मक स्थिति में संतुलन स्थापन करने में सर्वदा असमर्थ रहा। यह हालात सदी के अंतिम पायदान पर आते-आते चिंताजनक होने लगी। अनेक विसंगतियाँ जो सर उठाने लगी थीं, उसके बारे में शायद ही कभी व्यक्ति ने सोचा होगा। बदलती परिस्थिति में बदलती विसंगतियों ने व्यक्ति स्थिति को चुनौतीपूर्ण बनाने लगा। समाज बहुरंगी होने लगा। समाज जिस एकसूत्रता के साथ जुड़ा हुआ था वह कड़ी टूटने लगी।

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 207

श्यामाचरण दुबे के अनुसार – "संस्कृति और परम्परा के प्रति इतना जबरदस्त लगाव लोगों का होता है कि उस लगाव का शोषण लोग करना चाहते हैं और उसके लिए संस्कृति और परम्परा में कुछ दूसरे मूल्य, जो उसके मूल स्वर से भिन्न हों, स्थापित किए जाते हैं।"[1] बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक की स्थिति को अगर हम विश्लेषित करेंगे तो ज्ञात होगा कि भारत जैसे सांस्कृतिक तथा पारम्परिक समाज को आधुनिकता के नाम पर शोषित किया गया है। अत: व्यक्ति तथा समाज में चिंतानजक विकृतियाँ उत्पन्न हुईं। उत्तर आधुनिकता के युग में विकास के नाम पर जिन विसंगतियों का हमला हुआ वे समाज को नोच खाने के लिए कमर कस लिए थे। अत: व्यक्ति तथा समाज उसके परिणाम भुगतने के लिए मजबूर बन गये। हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते हैं कि परिवर्तन ने समाज को सुविधा मुहैया नहीं करवाये। मगर साथ ही बीसवीं सदी के अंतिम दशक में समाज तथा व्यक्ति अत्यंत विघटित भी हुए। जिसके कारण समाज में हिंसा, संत्रास, हत्या आदि चरम पर रहे और व्यक्तिवादी समाज में स्वार्थ सिद्धि करते हुए व्यक्ति में कुंठा, निराशा, अकेलापन, तनाव, पागलपन, आत्महत्या आदि विकृतियाँ व्यक्ति को पतन की ओर ले गयीं। बदलाव सकारात्मक हो या नकारात्मक उससे समाज प्रभावित होना स्वाभाविक है। इसका परिणाम भुगतने के लिए समाज तथा व्यक्ति बाध्य होते हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में सामाजिक विंसगतियों के परिणाम से समाज और व्यक्ति किस प्रकार ग्रसित हैं उससे हम उपन्यासों के माध्यम से अवगत होंगे।

5.2.1 अकेलापन

अकेलापन आधुनिक युग की ही देन है। व्यक्तिवादी समाज की बदौलत 'अकेलेपन' की स्थिति सामान्य हो गयी है। व्यक्ति भौतिक सुख के पीछे दौड़ते-दौड़ते वह मानसिक स्तर पर एकाकी हो गया है। एक समय में जब व्यक्ति समाज के साथ अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए तादात्मय स्थापित करता है दूसरे ही क्षण स्यार्थ उसे एकाकीपन देता है। विसंगतिपूर्ण परिस्थिति से गुजर कर व्यक्ति अपने समाज तथा परिवार में अकेला महसूस करने लगा है या मजबूर होता है। आधुनिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी कारणवश अकेलेपन का शिकार है। स्त्री, पुरुष, बच्चा वृद्ध सब इससे ग्रसित होने के

[1] संस्कृति जनसंचार और बाजार - नंद भारद्वाज, पृ.सं. 158

लिए मजबूर हैं। कुछ उपन्यासों में 'अकेलेपन' का यथार्थ चित्रण हुआ है जिसमें भिन्न-भिन्न परिस्थिति में लोगों को इससे पीड़ित होते हुए दिखाया गया है। 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास की नायिका बलात्कार पीड़िता सुमिता अकेलेपन की झेलने के लिए मजबूर है। विडम्बना यह है कि वह खुद बलात्कार का शिकार है लेकिन समाज उसे ही दोषी ठहराता है। उसका पति अजित उसे ग्रहण कर उसके ऊपर दया किया जैसा सोचता है। सुमिता के बलात्कार होने के बाद ऊपरी स्तर पर भले ही वे साथ-साथ हैं मगर अंतर्मन में वे दोनों अकेले थे। एक दूसरे को झेलने के लिए मजबूर हैं। सुमिता अजित से कहती है – "एकाएक मुझे लगा कि उनका स्पर्श हिम शिखर सा ठंडा और भारी हो आया है। मैं न उसे हटा सकती हूँ। उसी आवेश में मैं बोलती रही, सच बताओ, क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि जिसे हम अपना मान रहे हैं वह पछतावा है? चारों ओर फैली संवादहीनता की असह्य वेदना के बीच उधार की मुस्कान चिपकाये कब तक बैठी रह सकूंगी मैं और तुम भी .... मुझे बताओं अजित, मैं क्या करूँ? मैं कैसे जिऊँ? कब तक ओढ़े रहूँ अपरिचित संतोष की छद्म ज्योत्सना? मैं मानती हूँ, तुम मेरी भावनाओं का बहुत ख्याल रखते हो। मुझे दोषी नहीं मानते। इसी कारण ऊपर से हमारे जीवन में सामंजस्य दिखता है, पर क्या यह भी सच नहीं है कि हम सब अपने-अपने स्थान पर निपट अकेले हैं?"[1] सुमिता के पति अजित भी कहीं न कहीं इसी कारण से अकेलापनके शिकार हैं। हमारे समाज में बलात्कार वह विसंगति है जो व्यक्ति के अंतर्मन को झकझोर देता है। समाज के बने-बनाये चलन के कारण बलात्कारी से अधिक पीड़ित वह स्त्री होती जो इस घिनौनेपन का शिकार है। अपने मन को जितना भी समझाना चाहे, मगर इससे मुक्त नहीं हो पाती है और अपने अंदर ही कैद हो जाती है। तभी अजित श्यामला से कहता है – "मेरे दोस्त, मेरा परिवार है फिर भी मैं अकेला हूँ। उस अकेलेपन के लिए मैं स्वयं जिम्मेदार हूँ। अपने प्रति मैं स्वयं अपराधी हूँ।"[2]

'कठगुलाब' उपन्यास नायिका स्मिता का बलात्कार उसके खुद का जीजा करता है। इस वजह वह जीवन भर अकेलेपन को झेलती है। अपने दीदी जीजा का घर अकेले ही छोड़कर चली जाती है फिर अमेरिकन जीम से शादी कर लेती है। मगर वह उसे धोखा देता है। तमाम जीवन स्मिता अकेलेपन

[1] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 24

[2] अर्धनारीश्वर - विष्णु प्रभाकर, पृ.सं. 76

में ही काटती है। काम करके व्यस्त होकर वह अपने अकेलेपन से छुटकारा पाना चाहती है। स्मिता कहती है – "मैं अकेली तो थी पर खाली नहीं। इसलिए पैसे की किल्लत कभी नहीं हुई। यूँ अकेले रहने की मुझे आदत थी मेहनत करने की तरह। पर यहाँ का अकेलापन कानुपर के अकेलेपन से अलग था। यहाँ चारों तरफ फैली हरियाली तक अजनबी थी।"[1] परिवार में ही बलात्कार का शिकार होने के कारण वह घर से भाग तो जाती है मगर दुनिया के किसी भी कोने में वह अपने अकेलेपन से मुक्त नहीं हो पा रही है।

आधुनिक समाज में अकेलापन आम बात है। शहर की आपाधापी तथा व्यक्तिवादी समाज में आज किसी के पास समय नहीं कोई किसी के साथ बात करे। एक परिवार में रहते हुए भी सभी अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं। हर अवस्था में व्यक्ति आज अकेला है। अब संबंध बस नाम मात्र के रह गये हैं। व्यक्ति भीड़ में रहकर भी खुद को अकेला महसूस कर रहा है। दु:ख की बात यह है कि आधुनिक समाज में व्यक्ति का अकेलापन किसी की समझ के बाहर है। अपने चुने हुए रास्ते में जाकर भी कम दिनों में मोह भंग होने लगता है फिर अकेला होना नसीब बन जाता। विशाल मार्था से कहता है – "अपनी पहचान की चीजें ढूँढता है – दुकानें, साइनबोर्ड, रास्ते, आकाश का रंग, आवाजें, बच्चे-बूढ़े, चेहरे का रंग। सब कुछ मिस करता है ......आलमोस्ट एवरीथिंग। पर जानती हो क्या मिलता है चारों ओर। सब कुछ एकदम अलग ..... डिफरेंट। थोड़े दिन तो कुछ इण्डरेस्टिंग लगता है, फिर खालीपन दबोचने लगता है। हर पल लगता है – मैं कहीं और हूँ .....कहीं बाहर .....और अकेला।"[2] पारिवारिक विघटन के दौर में व्यक्ति घर के बाहर ही सुख ढूँढने लगता है। और मनुष्य से अधिक वह जड़ वस्तुओं में लिप्त होना चाहता है ताकि अपने अकेलेपन से निजात पा सके। विशाल मार्था से प्यार करके भी अकेलेपन का शिकार है। दोनों का प्रेम भौतिकवादी प्रेम है। मार्था ने इसे अपने एहसान तले दबाकर रखा था पर अंतर्मन में वह विशाल से प्रेम नहीं करती है। बाजार में सुख ढूंढने के कारण विशाल घर से भागकर अमेरिका चला गया था। पूरे परिवार के साथ होकरभी वह एकांत रहताहै। वह कहता है – "मैं खाली होना चाहता हूँ। बिल्कुल रीता। अकेला। इतना अकेला कि बस 'मैं' रहूँ जो मैं कभी नहीं होता।

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 26-27

[2] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 73

कभी नहीं होता 'यहाँ' और कभी नहीं हो पाता 'वहाँ'।" विघटन के विकट दौर में व्यक्ति की हालात यही है उसे कहीं भी अपनापन नहीं मिल पाता है और वह अकेला हो जाता है। 'पाँच आँगनों वाला घर' उपन्यास में शांतिदेवी भी वृद्धावस्था में अकेलेपन को झेलती है। जिस घर में कभी सभी मिलजुल कर रहते थे अब वहाँ केवल शांतिदेवी अकेलेपन के साथ रहती हैं। उनके सारे बच्चे नौकरी के लिए शहर में जा बसे और उन्हें गाँव में अकेले छोड़ दिए। वह कहती हैं – "अब तो बिटिया रश्मि ही कभी-कभार आ जाती है। वरना अकेले रहना। थोड़ा समय पूजा – पाठ में निकला, गाने थोड़ा मन बहलाने को बाहर हो आए .....बाकी गर्मी की दोहपरी-सा फैला अकेलापन। शांति की असली बीमारी यही थी, बुढ़ापा तो खैर था ही।"[1] अंतिम दशक में विडम्बना यह है कि व्यक्ति आज अकेलेपन में ही रहना सीख गया है। बदलते वक्त में उसे इस अकेलेपन में ही सुख नजर आता है। आरण्या कहती है – "अकेले रहते-रहते जान लेगी कि यह स्थिति भी कम अच्छी नहीं। अकेले होने पर आप अपने से दूर नहीं होते। अपने में खोजते हैं उन संभावनाओं को जो मूल्यवान हैं। आप अपने नजदीक होते जाते हैं।"[2] अंतिम दशक में पारिवारिक विसंगतियों के कारण तथा शहीकरण के कारण व्यक्ति अकेला पड़ गया है। शीतांशु जिंदगी के इस प्रकार के बिखराव के बारे में सोचते हैं – "जिंदगी बदल गयी है ...सब व्यस्त है। सब अकेले हैं। महानगर में सब अकेले होते हैं। साथ रहकर भी अकेले। इसी अकेलेपन में जीते युवक प्रौढ़ हो गये हैं।''[3] यही अंतिम दशक की असलियत है।

5.2.2 तनाव

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में सामाजिक तथा पारिवारिक विसंगतियों के कारण लोग तनावपूर्ण जीवन जीते हैं। बहुत कुछ पाने की चाह रखकर जब व्यक्ति असफल होता है तब उसमें क्षोभ, उत्तेजना उत्पन्न होती है। 'आवां' उपन्यास में लेखिका ने व्यक्ति की इस तनावपूर्ण स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। नमिता के पिता लकवेग्रस्त हो जाने के कारण घर में सदैव तनावपूर्ण परिवेश रहने लगा। उसकी माँ अपने पति तथा बेटियों के साथ खराब व्यवहार करती है। उसे न तो अपने पति के

---

[1] पाँच आँगनों वाला घर - गोविन्द मिश्र, पृ.सं. 112
[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 82
[3] शिखर पुरुष - देवेश ठाकुर, पृ.सं. 139

प्रति और ना ही अपनी बेटियों के प्रति प्रेम है। वह केवल अपने बेटे से ही प्रेम करती है। जब तक नमिता के पिता देवी शंकर कमाते थे तब तक परिवार की स्थिति अच्छी थी मगर देवी शंकर की तबीयत खराब हो जाने के कारण घर में हमेशा तनावपूर्ण स्थिति रहती। नमिता की माँ हमेशा इन बेटियों को मारती-पिटती है ताना मारती है। नमिता की छोटी बहन "मुनिया ने अपना क्षोभ बांटा। माँ के गलत समझने से वह जितनी आहत हुई है, उससे कहीं अधिक भयाक्रांत हुई है। उनकी मार-कुटाई से। अपनी दफे अगर उन्होंने उस पर उसी जोश से मुंगेरी चलाई तो वह उसी मुंगेरी से अपना सिर फोड़ लेगी और प्राण दे देगी।"[1] एक माँ होकर अपनी ही निर्दोष बेटी को इस तरह मारने के कारण परिवार में तनाव पूर्ण स्थिति हो गई है। देवी शंकर की मृत्यु के पश्चात भी नमिता की माँ में कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ता है। नमिता कहती है – "बाबूजी की शय्या के स्थान प वह दीपक जलाकर रख रही थी कि माँ और मौसी के समवेत ठहाकों ने माथा घुमा दिया। वितृष्णा से भर उसने माँ को टोंका। हँसने की मनाही नहीं, मगर क्या वे धीमे से नहीं हँस सकतीं कि बंद दरवाजे उनकी उद्दंडता पर परदा डाल सकें?''[2] इस तरह नमिता के घर में पैसे की तंगी तथा संबंध के बिखराव के कारण हमेश तनाव बना रहता है।

'चाक' उपन्यास में लेखिका सारंग एवं रंजीत के बीच तनाव का चित्रण करती है। विभिन्न कारण से अंतिम दशक मे ंपति-पत्नी के संबंध में टूटन दिखाई पड़ती है। रंजीत राजनीति में घुसकर सारंग को भाव नहीं देता है। अपने पुरुषत्व को दिखाने के लिए वह कहता है- "एSSSS ? धमकी किसे दे रही हो? इसी वक्त दफा हो जाओ और फिर कभी मत आना। किसको परवाह है तुम्हारी? उस भइया का गुमान दिखा रही हो, जिसने हमारे संकट में दाँत दिखा दिए। साला बना है धनासेठ। तुम भी वहीं पधार जाओ, यहाँ से रोज की चिकचिक भी चली जाएगी।"[3] 'आवां' उपन्यास में भी निर्मला कनोई तथा संजय कनोई के बीच तनाव है जिस वजह से संजय नमिता के प्रति आकर्षित होता है। संजय कहता है – "मैं नहीं चाहता मेरी और तुम्हारी परस्परता के बीच निर्मला उपस्थित हो। निर्मला, निर्मला, निर्मला ......सिर चढ़े प्रेत सी खूंदती रहती है वह प्रतिपल मेरे दिमाग को, दिल को। घृणा है मुझे उससे।

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 210

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 403

[3] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 300

उसकी परछाई से।"[1] अंतिम दशक में व्यक्तिवादी चिंताधारा के चलते पति-पत्नी भी एक दूसरे को सहन नहीं कर सकते। स्त्री की स्वावलम्बनशीलता और पुरुष के सत्तावादी स्वभाव के कारण दोनों में अहं का टकराव होने लगा। अत: किसी को किसी के जीवन में दखल देना सहन नहीं हुआ। एक छत के नीचे रहकर भी दोनों के संबंध तनावपूर्ण तथा कड़वाहट से भरे रहते हैं। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया और नरेन्द्र के बीच भी ऐसा ही संबंध है। प्रिया कहती है – "मैंने कनखियों से देखा, नरेन्द्र का चेहरा घृणा से विकृत हो रहा था। है भगवान! यह कम-से-कम अभी कोई उत्पात न मचाए। यों भी विदेश-यात्रा के समय और खासकर व्यापारिक कामों से जाना पड़े तो तनाव से माथा फटने लगता है। कभी लगता है – अरे, यह चीज नहीं मिल रही,रही, कभी कुछ .....और इसी समय नरेन्द्र का .....मगर नहीं। वह कुछ क्यों होता! आँखें चार होते ही फिर चीखने लगा।"[2] उन दोनों का जीवन नर्क समान हो जाता है। प्रिया कहती है – "चोट ही तो लगती रहती है ...अधिक क्या ....ऐसी मानसिक त्रासदी में कौन-सा आनंद है? तिल-तिल कर मरता हुआ आदमी खुशी से नाचे-गाए?''[3] बदलते समय में पति-पत्नी संबंध में बहुत अंतर आ गया है। पत्नी का बाहर निकलकर पुरुष सत्ता को चोट पहुँचाना दोनों में दीवार खड़ा करता है। दोनों के बीच 'मैं' की स्थिति ही उनमें तनाव पैदा करती है। 'मॉडल गर्ल' का शालू, बॉबी, 'अपनी सलीबें' की नीलिमा, ईशु भी इस तनावपूर्ण स्थिति से जूझने के लिए मजबूर होते हैं।

महानगर में रहते हुए नील और भोला जिस कुपथ पर चल पड़े हैं, इस कारण दोनों का जीवन तनावपूर्ण हो गया है। पैसे कमाकर उच्च वर्ग के रहन-सहन के साथ ताल मिलाने के लिए दोनों ने विसंगत तरीका अपनाया है। अत: भले ही उनके पास पैसों की कमी न हो, परन्तु वे दोनों शांति से जीवन निर्वाह करने में असफल हैं। भोला सोचता है – "अब परिणाम के विचार से वह डरने लगा था। परिणाम की सीमा-रेखा तक अपनी कल्पना के पहुँचने को वह भरसक रोकने की कोशिश करता था।"[4] नील पुरुष वेश्यावृत्ति में फँसकर जान-बूझकर अपने जीवन को नर्क की ओर ठेलता जाता है। मेहताब

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 419
[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 10-11
[3] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 158
[4] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 109

जी कहती है – "मैंने तुम्हें मानसिक शक्ति की तलाश में मदद के लिए रखा था। लेकिन पिछले कुछ महीनों से मेरा तनाव बढ़ने लगा है। मेरा यह एहसास अब गहरा हो गया है कि तुम्हारी एक समानांतर पोशीदा जिंदगी है।"[1] यहाँ पर मेहताब जी की जिंदगी का अवलोकन किया जा सकता है। उन्होंने मानसिक शांति के लिए नील को रखा था ताकि नील उनके मानसिक तनाव को हरण कर उन्हें शांति दे। इस प्रकार की चिंताधारा अंतिम दशक की है जहाँ मानसिक शांति बाहर ढूँढी जाती है और विडम्बना है कि घर के काम करने के लिए नौकर चाकर रखने जैसा मानसिक शांति देने वाले को रखा जाता है। अत: जाहिर है कि शांति के बदले तनाव ही प्राप्त होगा।

5.2.3 हिंसा

अंतिम दशक में विसंगतियों के परिणामस्वरूप हिंसा चरम पर रही है। ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अंतिम दशक के समाज में हिंसा की संस्कृति चल पड़ी थी। व्यक्तिगत स्वार्थ हासिल करने के लिए हिंसा सशक्त माध्यम बन गया है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में हिंसा नहीं हो रही थी, मगर आधुनिक युग में हिंसा के दृश्य सीमा का उल्लंघन करते जा रहे हैं। राजकिशोर कहते हैं – "व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन में बढ़ती हुई हिंसा पश्चिमी संस्कृति की देन है, जहाँ व्यक्तिवाद की कोई सीमा नहीं रह गई है तथा हर आदमी का यह बुनियादी हक माना जाता है कि वह हथियार रख सके। ऐसा समाज दुनिया में कभी देखा नहीं गया था। समृद्धि और प्रतिद्वंद्विता के कारण इस समाज में आदमी की ऊँगली मानो हमेशा पिस्तौल की ट्रिगर पर होती है और कभी भी, कहीं भी गोली चल सकती है।"[2] भूमंडलीकरण तथा उपभोक्तावाद के कठिन दौर में लोगों में धन के प्रति अद्भुत तथा अंतत: चाह बढ़ी, फलस्वरूप इस प्रवृत्ति ने मनुष्य को संघर्षशील बनाया। वर्ग व्यवस्था में विसंगति के कारण उच्च वर्ग तथा निम्न वर्ग में हिंसात्मक स्थिति पैदा हुई। 'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने पूंजीपति वर्ग तथा मजदूर वर्ग के बीच की हिंसात्मक प्रवृत्ति को दिखाया है। कभी पूंजीपति अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए हिंसात्मक रवैया अपनाते हैं तो कभी मजदूर वर्ग इन शोषक वर्ग के रवैये से परेशान होकर बदला लेने की भावना से हिंसा का सहारा लेते हैं। आर्थिक विषमता के

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 147

[2] हिंसा की सभ्यता - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 6

चलते लोगों में हिंसात्मक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। शाहबेन नमिता से कहती है – "बापू बोत परेशान ठेरा। मुलुक को हुआ क्या? जानवर, जानवर को मार के खाता । वो तो खाता ही है। जानवर होएंगे। माणस माणस को मारके खाने लगा?"[1] हिंसात्मक आधुनिक समाज का यही लक्षण है। आज कोई किसी से बात कर के शांति से मामला सुलझाने के पक्ष में नहीं है। हथियार पकड़े वह हिंसा करने के लिए कमर कस लेता है। एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या, घृणा, क्रोध भाव के कारण आधुनिक समाज में कोई किसी को सहन नहीं कर पाता है। राजकिशोर के अनुसार – "उदारीकरण की भोगवादी संस्कृति ने इस हिंसकता को और उकसाया है जिसकी शुरूआती अभिव्यक्ति दहेज हत्याओं में हुई थी, लेकिन अब जिसके नये-नये रूप रोज सामने आ रहे हैं।"[2] आज कोई सुरक्षित नहीं है। अन्ना साहब एक मजदूर संघ के महासचिव होकर भी सुरक्षित नहीं है। लोगों से नजदीक से जुड़ने के बावजूद उन्हें खुद यह नहीं पता कि कौन उनका घात लगाके बैठा है। पवार नमिता से कहता है- "जिस सुबह मंगतराम पेट्रोल पंप पर अन्ना साहब बिड़ला कंपनी के कामगारों को तनख्वाह बढ़ोत्तरी के प्रश्न पर संबोधित करने वाले थे, आठवले जोचिम कंपाउंड में रह रहे अपने मुस्लिम दोस्त करीम नबी के घर से कोमड़ी (मुर्गी) काटने के बहाने उससे तेज धार वाला छुरा मांग लाया और सभास्थल में अन्ना साहब की घात लगार बैठ गया।"[3] मनुष्य में आज मनुष्य के प्रति ऐसी हिंसात्मक प्रवृत्ति बनती जा रही है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माफिया तथा गुंडागर्दी के कारण भी हिंसा बढ़ रही है। सुपारी देना तथा गोली से किसी को उड़ा देना यह सब अंतिम दशक में आम बात है। नमिता कहती है – "भरी दोपहरी कुहराम मच गया लोखंडवाला कांप्लेक्स की गगनचुम्बी इमारत 'अग्रदूत' में। अरुण गवली और छोटा राजन के गिरोह में जमकर मुठभेड़ हुई। गवली के दो साथी मुठभेड़ में दम तोड़ बैठे।"[4] महानगर में आज यह आम बात बन गयी है कि दिन दहाड़े व्यस्त सड़क पर भी गोलीबारी होती है लोग जान गँवाते हैं। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में लेखक ने मुम्बई में व्याप्त माफिया के हिंसा के बारे में बारीकी से चित्रण किया है। भोला जैसे अनपढ़ तथा भोला भाला इंसान भी माफिया का हिस्सा बन

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 87
[2] हिंसा की संस्कृति - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 8
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 72
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 46

गया है जिससे यह पता चलता है कि हिंसा की प्रवृत्ति दिन-ब-दिन महानगरीय जीवन शैली का हिस्सा बन रही है। भोला जैसा गाँव का साधारण इंसान जो हनुमान भक्त है, वह महानगर आकर माफिया में शामिल होकर हथियार पकड़ने लगा है। वह कहता है – "किसी ने उससे कहा नहीं था, पर उसने छुरा साथ रख लिया था। यह छुरा उसे खोली की सफाई करते हुए मिला था। बहुत तेज और हँसकर।"[1] इस तरह वह हिंसात्मकता का शिकार होने लगा था। भोला खुद गोली का शिंकार होने के बावजूद भी माफिया गैंग को नहीं छोड़ता है – "पल भर भोला की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। तभी मोड़ से गोली चली और भोला की दाई बाँह के नंगी तार को छूने जैसा झटका लगा। अगले पल वह घुटनों के बल जमीन पर झुक गया।"[2] आधुनिक समाज में हिंसा एक प्रिय सच बन गया है। जिससे मुक्ति पाना असंभव है। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "आँकड़े तो थे ही बेमाने! इतिहास ही हो गया था बेमाने। बार-बार सन्त से हो जाने वाले हमारे मन-मस्तिष्क के लिए सन्त से हो जाना हो चुका था बेमाने। अजूबी किस्म की लूट, मारकाट, बलात्कार की खबर सुनकर ओफ़्फो, च् च् च् च् चSS जैसी प्रतिक्रियाएँ भी बेमाने।"[3]

साम्प्रदायिकता के नाम पर भी समाज में हिंसा फैलाई जा रही है। 'धर्म' की आड़ में दो सम्प्रदायों में गलाकाटा जा रहा है जो एक अनवरत प्रक्रिया बन गयी है। गीतांजलि श्री लिखती हैं – "फिर दंगे होते, फिर कर्फ्यू लगता, फिर जरा ढील दी जाती। फिर हम सर्वधर्म सभा और शांति मार्च करते।"[4] दुख तथा शर्मिंदगी की बात यह है कि धर्म स्थल भी हिंसा से मुक्त नहीं है। वहाँ पर भी लोगों की जान ली जाती है गोली चलाई जाती है। कापड़िया कहता है – "उस मस्जिद-कम-मंदिर में गोली तब चली, जब मुसलमान नाम की चिड़िया भी डरकर नहीं फटक रही थी।"[5] 'आवां' उपन्यास में भी इसका चित्रण हुआ है। किशोरी बाई पर हमला इसलिए किया जाता है क्योंकि वह मुसलमानों की हिमायती है। मुनिया नमिता से कहती है – "शिंदे अंकल बता रहे थे माँ से कि कांजूर मार्ग की

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 53
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 57
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 125
[4] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 125
[5] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 98

झोपड़पट्टी में कोई किशोरी बाई रहती हैं। परसों रात सेना के गुंडों ने उनके ऊपर हमला बोल उन्हें मार डालने की असफल कोशिश की। घर के किवाड़ तोड़ गुंडे भीतर घुस गए। अपने मकसद में वे कामयाब होते कि तभी किशोरी बाई का आर्तनाद सुन चाली वाले जग गए। लाठी-डंडों से गुंडों को मार भगाया चाली वालों ने। माँ के कारण पूछते ही शिंदे अंकल ने बताया कि सेना वालों को किशोरी बाई पर संदेह है कि वे मुसलमानों की हिमायती हैं। उनके गुंडा तत्वों को अपने घर में संरक्षण देती है। उनके हथियार छिपाकर रखती हैं।"[1] साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण लोगों में सद्भावना की कमी दिखाई देती है और दिन-ब-दिन स्थिति अधिक विकृत बनती जा रही है। आज कोई सुरक्षित नहीं है। नमिता कहती है – "कट्टरपंथियों का कोई भरोसा नहीं। उनकी संकीर्णताओं के विरूद्ध किसी ने कमर कसी नहीं कि उन्होंने उसे जड़ मूल से नष्ट किया नहीं। कोई नहीं सोचता। इस तरह से वे किसी आत्मघाती दुर्गुण को खत्म नहीं कर सकते। बल्कि प्रतिद्वंद्विता में अपने जैसे ही हिंसक प्रवृत्तियों के खात्मे के बहाने पुनर्जीवन दे देते हैं।"[2]

परिवार में भी अंतिम दशक में हिंसा बढ़ने लगी थी। अर्थ प्रधान समाज के व्यक्तिवादी रवैये की बदौलत परिवार विघटित होने लगा। अत: एक छत के नीचे रहते हुए भी आत्मीयता की बात तो दूर कोई किसी की उपस्थिति को भी सहन नहीं कर पा रहे हैं। पति-पत्नी, भाई-बहन आदि आत्मीय संबंध में भी हिंसा भाव जागृत हो रहे हैं। पति अपनी पत्नी को जानवर की तरह मारता-पीटता है। भाई-भाई के बीच पैसों के कारण हत्याकांड भी होता है जो परिवार को पतनोन्मुखी करता है। गौतमी अपनी माँ को अपने सौतेले बाप से पिटते हुए देखती है। वह कहती है – "हर रात उसने क्रूर पिता के उन्मादी बूटों तले माँ को कुटते देखा था। दहलकर वह चीख उठती। शनै:-शनै: चीखें कंठ में जनमते ही घुमड़ घुमड़कर घुटने लगी। फटी आँखों से वह उत्पीड़न का नंगा नाच देखती रहती।"[3]

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 479-480
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 481
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 323

'मॉडल गर्ल' उपन्यास में बॉबी अपनी प्रेमिका शालू को ही गोली मारकर घायल कर देता है। भूषण बेहोशी की हालत से उठे शालू से कहता है – "उसने गुस्से में तुम्हारे ऊपर गोली चलाई? और गोली तेरी छाती के दाईं ओर से चीरती हुई गुज़र गई। खून का फब्बारा बह निकला।"[1]

अंतिम दशक में सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन हिंसा से तर बतर होने लगा था। लोग अपनी बात मनाने के लिए प्रेम का नहीं हिंसा का सहारा लेते हैं।

5.2.4 संत्रास

बदलते परिवेश में समाज अत्यधिक विसंगतिपूर्ण होने के कारण साधारण लोगों का जीवन विपदपूर्ण हो गया। मनुष्य का जीवन अब सुरक्षित नहीं रह गया। आज हर व्यक्ति किसी-न-किसी कारणवश भयपूर्ण जीवन निर्वाह करने के लिए मजबूर है। आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, चोरी, माफिया, बलात्कार आदि के साये में व्यक्ति का जीवन दु:खमय तथा भययुक्त बन गया है। सामान्य तथा शांतिपूर्ण जीवन आज उसके नसीब में नहीं है। घर बाहर हर जगह स्थिति एक सी है। वैभवशाली बनने की चाह में मनुष्य अपने लिए स्वयं गड्ढा खोदने लगा है। इसी कारण जब वह दूसरों से सुख छीनकर खुद पाना चाहता है तब इसके विपरीत अनेक अराजक शक्तियाँ उभरने लगीं। अत: हमारा समाज अन्याय से परिपूर्ण होने लगा। लोगों में संत्रास उत्पन्न हुए। उपन्यासों में विसंगतियों के कारण व्यक्ति में जो संत्रास पैदा हो रहा है उसका चित्रण हुआ है। 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में लेखिका ने साम्प्रदायिकता के कारण आम आदमी किस प्रकार भयमुक्त जीवन जी रहे हैं उसका सजीव चित्रण किया है। शहर आज सुरक्षित नहीं है। न ही शहर में रहने वाले लोग। लेखिका कहती है – "घबराकर जिन शहर में निकल गए थे वे तीन अपराध और अपराधी घायल और मुर्दे, सबको निकाल लाएँगे। साफ-साफ देख लेंगे और जैसा साफ देख लेंगे वैसा ही साफ दिखा देंगे। शरद, श्रुति और हनीफ। जिन्होंने ठान लिया था कि जो हवा चल रही है, वह हवा नहीं, बवंडर है; जो हमें कहीं उखाड़ न दे।''[2] अपने समाज से तथा जड़ से उखड़ जाने के डर से आज सभी ग्रसित हैं। हर पल व्यक्ति का जीवन साम्प्रदायिकता की आग में झुलसता है। लेखिका कहती है – "उस बरस एक बार सड़कों पर ऐसी ही

---

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 132

[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 7

नदियाँ बहने लगी थीं, पर मुहल्लों ने जहर के डर से खोलकर बहा दिया था।"[1] गीतांजलि श्री खुद इस शंकाकुल जीवन से त्रस्त रहने के कारण अपना अनुभव ही लिखती हैं। वह खुद यह मानती हैं – "तीनों समझते थे कि सब कुछ वहीं बाहर था जो हमें इतना भयभीत और व्याकुल कर रहा था। उन्हीं का डर था, जो मुझमें भी भर गया था। मैं घबराने लगी।''[2] साम्प्रदायिकता तो राजनीति का खेल है। मगर इसमें आम आदमी का जीवन तबाह हो जाता है। हर पल वह सोचता है – "यह वीभत्स जीभ जो हमारे शहर को लपलप लीलती जा रही है, उसके खिलाफ गवाही क्या बचेगी? क्योंकि क्या पता, यह जीभ कल हमें भी, तुम्हें भी.....? और हम भी न रहें तो...... ?''[3] इस उक्ति में हम आम आदमी के संत्रास को महसूस कर सकते हैं। दोनों सम्प्रदायों के लोगों में असुरक्षा भाव प्रबल होता है। लेकिन इसका हल नहीं ढूँढा जा रहा है। क्योंकि शासन की गद्दी पर बैठे लोगों के लिए आम आदमी का जीवन व्यर्थ है। अत: साधारण इंसान को संत्रास में रखकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना ही इन सत्ताधारियों का लक्ष्य है। इन्हीं लोगों के कारण साधारण आदमी का जीवन दिन-ब-दिन भयाकुल बनता जा रहा है। श्रुति, हनीफ जो साम्प्रदायिक कट्टरता को अपने पैरों तले कुचलकर, सर्वोपरि प्रेम को अपने जीवन में महत्व देते हुए पति-पत्नी बनते हैं, वे भी किसी दूसरे की कट्टरता को झेलने के लिए बाध्य हैं। श्रुति हनीफ से बहुत प्रेम करती है, इसलिए शहर में बह रहे साम्प्रदायिकता की गरम हवा उन तक भी पहुँच रही है। हनीफ मुसलमान होने के कारण और साम्प्रदायिकता सद्भावना फैलाने के कारण हिंदू उसके खिलाफ हो गये हैं। इसलिए श्रुति अत्यंत भयभीत रहती है। कहीं कुछ गलत ना हो जाए – "श्रुति बाथ रूम की खिड़की से उसे सड़क पर जाते देखती है। सड़क पर अकेला साया। गिर जाए अचानक तो क्या करूँगी? गिरा दे कोई ......वह भयभीत होकर देखती है, जैसे अभी किसी तरफ से कोई सड़क पर कुछ आएगा।"[4]

'नरमेघ' उपन्यास में आतंकवाद की दहशत से आतंकित लोगों के त्रस्त जीवन का वर्णन किया गया है। नरेन्द्र उस समाज का प्रत्यक्षदर्शी है वह कहता है – "सीने में घाटी का दर्द छिपाए श्रीनगर से चंडीगढ़ तक की यात्रा के दौरान आतंक की एक काली छाया हम पर छायी रही है और हमें अभी भी

[1] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 7
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 7
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 12
[4] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 331

ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कोई हथियारबंद युवक यहीं कहीं छिपा हमारी बात सुन रहा होगा और आपके इधर-उधर होते ही ए.के. 47 की गोलियों से एक बौछार हम पर गाज बनकर गिरेगी।"[1]

कश्मीर में आतंकवाद के कारण लोगों का जीवन जहन्नुम बन गया है। लोग अपने घर में भी सुरक्षित नहीं, कोई कब घर के अंदर घुस आएगा और गोली मारकर चला जाएगा। इस संत्रास में जीते-जीते उनके होंठ से हँसी छुट गई है। हिंदू मुसलमानों में जो रही-सही सहानुभूति बच गई थी वह इस भय के कारण अविश्वास में बदलती जा रही है। नरेन्द्र कश्मीर छोड़कर आ जाने के बावजूद भी आतंक से वह मुक्त नहीं हो पाया है – "आतंकित मानसिकता से अभी तक वह इतना त्रस्त है कि उसके चाचा के कथनानुसार रात में सपनों में भी चीख-चीख उठता है। बहन के साथ क्या बीती।"[2] लोग आज भले स्वयं को जितना भी प्रगतिशील क्यों न समझे लेकिन आतंक उनकी जड़ को हिला देता है। समाज के दलदल में फँसकर आतंक में रहना सामान्य बन गया है। अपना जीवन बचाने के लिए वह दूसरे के जीवन को हेय समझता है। कश्मीर में एक परिवार के सभी सदस्यों को गोली से भून देने के बावजूद भी आतंकित लोग पड़ोसी के नाते सहानुभूति जताने भी नहीं आते हैं। लेखक कहते हैं – "हँसना-खेलता परिवार एक मिनट में धूल में मिल गया। हैवानियत का नंगा नाच। मुहल्ले में कोई सहानुभूतिवश भी हरकत नहीं हुई। आतंक, स्वार्थ और अमानुषिकता! क्या यही हमारी प्रगतिशील तहजीब की उपलब्धि है?''[3] हम चाहे जितनी प्रगति कर लें पर आज लोगों की यही नियति है।

अंतिम दशक में जिस प्रकार माफिया का संजाल फैलता गया साधारण लोग और भी अधिक असुरक्षित महसूस करने लगे हैं। 'आवां' उपन्यास में नमिता भरी दोपहरी में माफिया गिरोह में मुठभेड़ के कारण आतंकित लोगों के बारे में कहती है – "अग्रदूत के ही नहीं अगल-बगल की 'अभिषेक' और 'नूतन अभिषेक' इमारतों के रहवासी भी अपने-अपने घरों में सांसे रोके हुए गोलियों की बौछारों की तड़तड़ाहट सुनते रहे। किसी की मुस्तैदी पर जैसे ही पुलिस घटनास्थल पर पहुँची, दोनों गिरोह के

---

[1] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 1
[2] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 6
[3] नरमेघ - मनमोहन सहगल, पृ.सं. 154

अपराधी उड़न-छू हो गए। अपराधियों के पाँवों में निश्चित ही पर उग आए होंगे।"[1] विडम्बना यह है कि माफिया के कारण लोग जितने आतंकित हैं उतना ही पुलिस तथा सुरक्षाकर्मियों की नाकामयाबी से भी हैं। अपराधी वर्ग का धीरे – धीरे इस मात्रा में सशक्त होना और पुलिस के चकमा देने के कारण लोग और भी अधिक भयभीत रहते हैं। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में भोला खुद माफिया का हिस्सा बनकर भी आतंक के साथ दिन काटता है क्योंकि वह जानता है इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है। जरूरत पड़ने पर गला भी काटा जा सकता है। वह सोचता है कि – "अब वह समझ चुका था, अब तक वह कितनी दफाओं का उल्लंघन कर चुका है। सजा हो, तो कुल मिलाकर कम-से-कम पचास साल के लिए अंदर जाएगा। मुर्तजा, गफूर, किट्टू – सभी हवालात की थोड़ी बहुत हवा खा चुके हैं। एक दिन मुझे भी जेल जाना है – रामतौर भैया की तरह। उसने सिर झटका। सुबह-सुबह वह क्या अमंगली बातें सोच रहा है .....''[2] काले धंधे में फँसकर भोला की जिंदगी असुरक्षित बन गयी है। उसके पास अब कोई चारा नहीं। यह अब ऐसा काँटा बनकर उसके गले में उटक गया है जिसे वह न निकाल पाता है और ना ही निगल पाता है। बस प्रतिपल आशंकित जीवन जीता जा रहा है। शादी कर लेने के पश्चात तो वह अधिक आतंकित रहने लगा है। अब वह शालू के लिए जीना चाहता है मगर, उसके जीवन का कोई भरोसा नहीं। वह सोचता है – "भोला अपनी आशंका से सहमा हुआ था। अगर कोई अनहोनी हो गई तो? अब घर उसके जीवन की धुरी हो गई थी, जहाँ शालू थी।"[3]

परिवार के अंदर खुश रहकर भी मनुष्य आज सुरक्षित नहीं है। प्रतिद्वंद्विता के प्रखर युग में व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य उत्पन्न ईर्ष्या, अहं, तनाव आदि के कारण वह अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित रहता है। उपभोक्तावाद के कठिन दौर में जिस प्रकार परिवार विघटित होता जा रहा है, व्यक्ति में आतंक, संत्रास आदि स्थिति स्वाभाविक बन गयी है। 'कठगुलाब' उपन्यास में स्मिता का बलात्कार उसका सगा जीजा करने के पश्चात उसमें अजीब सा आतंक जन्म लेता है जिसके कारण वह जीवन भर आईना का सामना नहीं कर पाती है। तेज रोशनी से डरती है। वह कहती है – "कब से

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 46
[2] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 109
[3] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 109

सुपर मार्किट जाना टाल रही हूँ। मन नहीं करता। डर? जो समझो। अच्छा, बतलाओ भला, इतनी तेज रोशनी किये रखने में क्या तुक है?''[1] अपने ही घर में सगा भाई के द्वारा बलात्कार का शिकार बनी प्रिया आतंकित जीवन जीने के लिए बाध्य होती है। प्रिया कहती है – "मैं रात-रात भर सो नहीं पाती थी। अब मैं बड़ी हो गई थी। बी.ए. फाइनल की पीरक्षा थी और पढ़ने में ध्यान भटक जाता था। घर जाने को मन नहीं करता। सूरज डूबने के साथ मुझे दहशत घेर लेती। आज भैया कहाँ सोएँगे? भाभी जी की यदि तबीयत ठीक होती तब तो वे अपने कमरे में नहीं तो ..... ?''[2] अंतिम दशक का यही दु:ख है कि लड़की को अपने ही परिवार में संत्रासपूर्ण जीवन जीना पड़ रहा है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में असुरक्षित वातावरण की बदौलत मनुष्य घर और बाहर असुरक्षित जीवन बिताने के लिए मजबूर हो गया है। विकास के नाम पर जो अराजकता समाज में सर उठाये है वह इंसान के सुख चैन का हरण कर उन्हें संत्रास मुहैया कराता है।

5.2.5 कुंठा

अंतिम दशक में कुंठित जीवन जीने के लिए हर कोई मजबूर है। बदलते परिवेश में समाज में अनेक ऐसे तत्व मुखर हो रहे हैं जो व्यक्ति को कुंठित बनाते हैं। सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में मची हर उथल-पुथल के कारणवश व्यक्ति की अनेक इच्छाएँ दमित होती हैं जो उसे दूसरों की तुलना में कुंठित बनाती हैं। वर्ग व्यवस्था हो या वर्ण व्यवस्था में जब ऊँच-नीच, धनी-गरीब का भेदभाव होने लगता है तब ऊँच के सम्मुख नीच तथा धनी के सम्मुख गरीब कुंठा से ग्रसित होने लगता है। हमारी सामाजिक व्यवस्था तथा जीवन शैली और अपार इच्छाएँ हमें अनेक परिस्थिति में कुंठित कर देती हैं। कोई व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति तथा समाज या स्थिति में खुद की तुलना करता है और स्वयं को कमतर पाता है तब निराशा के कारण वह कुंठित हो जाता है। भौतिकवादी समाज में रहते हुए व्यक्ति में यह प्रतिद्वंद्विता लगी रहती है कि हम दूसरों से श्रेष्ठ कहलायें, जब स्थिति इसके विपक्ष जाती है तब व्यक्ति में कुंठा जन्म लेती है। उपन्यासों में अनेक ऐसे कुंठित पात्रों का चित्रण किया गया है।

[1] कठगुलाब - मृदुला गर्ग, पृ.सं. 29

[2] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 47

'दीक्षांत' उपन्यास में शर्मा सर शिक्षा जगत में व्याप्त तानाशाही, पक्षपात तथा छात्रों का गलत आचरण के चलते एक कुंठापूर्ण जीवन जीते हैं। एक अच्छी योग्यता होने के बावजूद उन्हें हमेशा नीचा दिखाया जाता है। शिक्षा प्रशासन तथा अद्दंड छात्र उनके भोलेपन तथा सादगी का फायदा उठाते थे। पिता के द्वारा दिये गये सभी जीवन मूल्यों तथा नैतिकता को अपने जीवन में उतारने के बावजूद भी उन्हें इस सौतेला समाज में कुंठित व्यक्तित्व ही प्राप्त होता है। वास्तव में इस विघटन के दौर में आज ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूल्यों के लिए स्थान नहीं है। दु:ख की बात यह है कि ऐसे कुंठित दमित जीवन जीते हुए शर्मा सर आत्महत्या जैसे जघन्य पथ को चुनने के लिए मजबूर होते हैं। 'यातनाघर' उपन्यास में भी विष्णु नारायण जैसे ईमानदार व्यक्ति शिक्षा जगत की विसंगतियों से घिरकर कुंठित हो जाते हैं। ईमानदारी से काम करने की ताकत को कुछ तानाशाही अध्यापकों के द्वारा दबाया जाता है। एक प्रशासनिक अधिकारी को अध्यापकों का नीचा दिखाना और औकात याद दिलाना विष्णु नारायण के अंतर्मन को झकझोर देता है। लेकिन उनके लिए दूसरा रास्ता कुछ नहीं होता है। वह कहते हैं – "इस दृष्टि से वह संस्थान कभी-कभी उसे अपनी ओर ऐसे ही कुछ लोगों की वधशाला कहने का अहसास कराने लगता था।"[1]

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में फिल्म जगत की असलियत को दिखाया गया जहाँ हर कोई कुंठित तथा तनावयुक्त जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होता है। तेजी से बदलते फिल्म जगत में आज जो स्टार होता है वह कल नीचे गिर जाता है। ऐसी अवस्था में कितना भी बड़ा कलाकार हो वह अचानक आसमान से जमीन पर आ गिरता है। अभिनेत्री वर्षा से पांडे जी कहते हैं – "एक वक्त के बाद स्टार बासी हो जाता है। आकर्षण बनाये रखने के लिए बाहरी रंग-रोगन की जरूरत पड़ती है।"[2] हर्ष भी ऐसे ही अहं और कुंठा भरी जीवन जीते हुए परास्त होकर आत्महत्या को वरण करता है। वह कहता है – "मैं उस 'डमकोफ' का साइडी बनूँगा? एक्टिंग तो बहुत दूर की बात है। पहले मैं उसकी एक हजार एक पीढ़ियों को यह सिखाऊँ कि कैमरे के सामने खड़े कैसे होते हैं!"[3]

[1] यातना घर - गिरिराज किशोर, पृ.सं. 19
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 407
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 407

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया को जो कुंठित बचपन प्राप्त हुआ है वह आगे चलकर उसके संपूर्ण जीवन को ग्रस्त करता है। पुत्र-पुत्री में भेदभाव के कारण प्रिया बचपन से कुंठा में जीने लगी थी। सगी माँ का ऐसी भेदभावपूर्ण रवैया तथा सगे भाई के द्वारा बलत्कृत होने तथा पति के अहंकारी तथा पुरुषवादी स्वभाव के कारण प्रिया का जीवन कुंठापूर्ण हो जाता है। तभी तो वह कहती है – "हाँ फिलिप! मैं एक अस्त होती हुई शताब्दी का परिणाम हूँ, और नीना तथा निधि जैसी हजारों-लाखों स्त्रियाँ हमारे भविष्य का उजाला हैं। मैं, बस चाहती हूँ कि अब मैं धीरे-धीरे और लिखना शुरू करूँ। हमारे समाज में हर बेटी की माँ अपने को हीन भावना से देखती है और हर लड़की जब बड़ी होती है तो समाज, परिवार, स्वजन, परिजन उसको अनाम गुनाहों के बोझ तले दबाते चले जाते हैं।"[1]

'आवां' उपन्यास में चित्रा मुद्गल ने ऐसे ही कुंठित पात्रों का चित्रण किया है। उपन्यास की नायिका नमिता भी कुंठित व्यक्तित्व वाली है। परिवार के तंगी हालात तथा उसके जीवन में आये अनेक झंझावात के कारण वह हमेशा कुंठा में जीती है। अपने जीवन के बारे में वह सोचती है – "दु:स्वप्नों की कोई एक सुरंग नहीं। कई-कई सुरंगे हैं। बारूद-बिछी, उसके छोटे से जीवन में। जिनमें हुए विस्फोटों ने उसके विश्वास को चिंदी-चिंदी मौत के हवा में बिखेर दिया है। अस्तित्व के खंडित टुकड़ों सा।"[2] वर्ग व्यवस्था की विसंगतियों के कारण गरीब नमिता में कुंठा भाव जागृत होता है। धनिक सिद्धार्थ के साथ व्यवसायिक संबंध स्थापन करते हुए वह खुद को बहुत नीचा समझती है। वह कहती है – "मामूली से मजदूर की बेटी हूँ मैं। तंगी की चाबुक ने जिस्म पर खाल नहीं छोड़ी। पचास हजार की रकम पूरी जिंदगी कमाकर भी नहीं जोड़ पाऊँगी मैं।"[3]

इस तरह से बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में सामाजिक विसंगतियों के परिणामस्वरूप व्यक्तिवादी समाज में व्यक्ति विभिन्न मानसिक विकृतियों के साथ एक त्रासदी पूर्ण जीवन जीने के लिए मजबूर है। विसंगतिपूर्ण समाज की यही नियति है।

[1] छिन्नमस्ता - प्रभा खेतान, पृ.सं. 182-183
[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 300
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 293

5.2.6 हत्या

सामाजिक विसंगतियों के परिणामस्वरूप अंतिम दशक में हत्या के वारदात सामान्य बन गये थे। अर्थ तथा काम को जीवन में महत्व दिए जाने के कारण लोगों में हिंसा की प्रवृत्ति बलवत्तर होने लगी और इसी हिंसा भाव के चलते आज कोई किसी की जान लेने के लिए भी अपराध बोध नहीं करता है। राजकिशोर के अनुसार – सुखपूर्वक जीना पूरे समाज के विरूद्ध एक षड्यंत्र बनता जा रहा है और सब कुछ ठीक है या 'सब कुछ चलेगा' जब सिर्फ इश्क और युद्ध ही जायज नहीं रह गया।"[1] ऐसा समय आ पहुँचा है जहाँ हम यह ज्ञात नहीं कर सकते हैं कि किसके दिमाग में दूसरे के प्रति कैसा मनोभाव है। कब वह क्रोधित है कब खुश यह पता लगना दुविधापूर्ण है। ठीक उसी तरह आज समाज में हत्याएँ भी विभिन्न कारणों से हो रही हैं। लोगों के जीवन की कीमत आज शून्य है। हिंसात्मक संस्कृति के चलते दूसरों का खून बहाके ही व्यक्ति मानसिक शक्ति प्राप्त करता है। 'स्वार्थ सिद्धि' की जीवन में बढ़ते अहमियत के कारण 'हत्या' के मामले में बढ़ोत्तरी हुई है। राजनीतिक हिंसा, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, यौन हिंसा तथा पारिवारिक हिंसा के कारण हत्या आज मामूली बात बन गयी है। साहित्यकार 'हत्या' की दहशत भरी दास्तान को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

'आवां' उपन्यास में मजदूर नेता अन्ना साहब की हत्या के बारे में चित्रण हुआ है। मजदूर का दुख सुनने वाले लाखों दिलों में राज करने वाले अन्ना साहब की दिन दहाड़े हत्या कर दी जाती है। वे राजनीति के दाँव पेंच या रूष्ट बिल्डरों का शिकार होते हैं कुछ पता नहीं चल पाता है। पवार कहता है – "मुम्बई शहर की नाकेबंदी कर दी गई है। विभिन्न आपराधिक माफियाओं के अड्डों पर अस्सी छापे मारे जा चुके हैं। पुलिस का अनुमान है कि मजदूर नेता अन्ना साहब की हत्या सुपारी ठेका की कार्रवाई है।"[2] कुछ अज्ञान दुश्मनों के द्वारा उनकी हत्या कर दी जाती है। कामगार आघाड़ी की कार्यकर्ता सुनंदा की हत्या भी कर दी जाती है। साम्प्रदायिक कट्टरता के चलते उसके प्रेमी सुहेल के परिवार विमला बेन सुनंदा जैसी बहादुर स्त्री की हत्या की निंदा करते हुए विमला बेन से बोलती है – "कूपमंडूक पुरुषों से हमें सीखना होगा कि स्त्रियों के लिए क्या शास्त्रसम्मत है, क्या नहीं? निर्दोष स्त्री की नृशंस हत्या करना

---

[1] हिंसा की सभ्यता - संपा. राजकिशोर, पृ.सं. 29

[2] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 535

शास्त्र सम्मत है, पाटिल? नहीं, तो पूछो अपने हृदय से कि क्यों हमसे किसी ने प्राण ले लिए? मैं कंधा किसी औरत की मय्यत को नहीं दे रही, उस स्त्री चेतना को दे रही हूँ, जिसका गला घोंटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है!''[1]

'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास में गीतांजलि श्री साम्प्रदायिकता के कारण समाज में किस तरह हत्या हो रही है उस पर भी नजर दौड़ाये हैं। मठ के महंत जो साम्प्रदायिकता फैला रहे थे, उन्हें किसी ने मार डाला। आज समाज ऐसा हो गया है जहाँ जो भला करता है वह भी मरता जो बुरा करता है वही मरता है। मठ का महंत जो राजगद्दी पाने की लालसा में लोगों में धार्मिक कट्टरता फैला रहे थे उनकी किसी अज्ञात व्यक्ति ने हत्या कर दी है। हनीफ कहता है – "बूढ़े महंत मारे गए।"[2] हत्या के कारण पूछे जाने पर हनीफ कहता है – "पता नहीं, पर उनके अंदरूनी झगड़ों का नतीजा हो सकता है।"[3] आज हम अपने लिए खुद कुआँ खोद रहे हें। सत्ताधारी बनने के लिए लोगों को एक दूसरे से लड़ा देते हैं और उससे फायदा पाना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में हम अनगिनत शत्रु बना बैठते हैं। इसलिए मठ के महंत की हत्या के बारे में दद्दू कहते हैं – "यह तो होना ही था। राक्षस पैदा करोगे तो एक न एक दिन वह अपने ही माँ-बाप को निगल जाएगा।"[4] साम्प्रदायिक जहर के कारण हर समय कहीं न कहीं लोगों की हत्या हो रही है। कहीं बम फटते हैं तो कहीं गोलीबारी तो कुछ। साम्प्रदायिक हत्या आज लोगों की प्रवृत्ति बन गयी है। लेखिका कहती है – "हमने तो नहीं मारा न उन्हें, हमारी औरतों-बच्चों ने क्या किया, देखिए न देखिए उनके रक्त में है .....दुख दे-देकर मारने की प्रवृत्ति ......''[5]

'नरमेघ' उपन्यास में आतंकवाद के कारण हो रहे अनेक हत्याकांड का दर्दनाक चित्रण किया गया है। कश्मीर के लोगों की त्रासदी का यथार्थ वर्णन हुआ है। साम्प्रदायिकता आतंकवाद का रूप में कहर ढा रही है। हत्या की वहाँ गणना करना मुश्किल है। लोगों का जीवन चिंटियों के जीवन जैसा प्रतीत हो रहा है, किसी भी दुर्वुत घर में घुसकर परिवार के सभी सदस्यों की हत्या कर डालते हैं। ऐसे

---

[1] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 153
[2] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 323
[3] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 323
[4] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 323
[5] हमारा शहर उस बरस - गीतांजलि श्री, पृ.सं. 130

असुरक्षित जीवन के कारण बाध्य होकर लोगों को अपनी मातृभूमि छोड़कर दर-दर भटकना पड़ता है। यह दिल दहला देने वाला है। हत्या की प्रवृत्ति लोगों में दिन-ब-दिन बढ़ती ही जा रही है।

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मुख्यत: अंतिम दशक का को सुपारी युग कहने में अत्युक्ति नहीं होगी। महानगरों में यह सामान्य बन गया है। भरी दोहपरी में लूट-पाट, हत्याकांड आदि आम बात है। भूमंडलीकरण के माध्यम से अराजकता को न्यौता दिया गया है। इस कारण भेदभाव, शोषण, हिंसा, हत्या, बलात्कार, माफियावाद आज सर चढ़कर बोलने लगे हैं। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' उपन्यास में नील की हत्या करने के लिए महानगर विशिष्टि उद्योगपति सोमपुरिया सेठ ने सुपारी दिया था। उसकी हत्या के पश्चात मुर्तजा भोला से कहता है – "ऐसे आदमी की सुपारी आई कि इनकार नहीं कर सका ....और कर भी देता, तो उसे बचा लेता क्या? यहाँ पाँच सौ रुपये में कातिल मिल जाता है।"[1] सुपारी का ठेका देना बीसवीं सदी की ही देन है। चिंताजनक तथा शर्मिंदगी की बात यह है कि आज पाँच सौ रुपये में हत्या करने वाले मिल रहे हैं। मनुष्य के जीवन का कोई मूल्य नहीं बचा है। दूसरी बात यह है कि नील जिस विसंगत पूर्ण कार्य में लिप्त था और कइयों का घर तोड़ा था नतीजतन उसकी हत्या कर दी गई।

अंतिम दशक में परिवार में भी हत्या होने लगी थी। सदस्यों में एक दूसरे के प्रति घृणा, ईर्ष्या, द्वेष तथा क्रोध के कारण परिवार टूटने लगा, संबंधों में तिक्तता आने लगी। जिसके कारण कोई किसी की हत्या करके भी पश्चाताप नहीं करता है। चिंताजनक बात यह है कि केवल शहर तथा महानगर में ही नहीं गाँव में भी यही स्थिति है। 'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी लिखती है विधवा रेशम का पराये मर्द के साथ संबंध होने के कारण उसका छोटा जेठ डोरिया ही उसकी हत्या कर देता है। उपन्यास का प्रारंभ ही इसी हत्या घटना से होता है – "काश यह मौत होती? मगर यह हत्या! पवित्र स्त्री, गर्भिणी औरत की हत्या। सारंग की बहन रेशम मौत के घाट उतार दी गई....."[2]

काम प्रधान समाज में यौन स्वच्छंता की बदौलत भी अनेक हत्या कर मामला घटित हुआ है। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास में शालू की यौन उच्छृंखलता के कारण तथा अनेक पुरुषों के साथ काम संबंध

---

[1] दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 246

[2] चाक - मैत्रेयी पुष्पा, पृ.सं. 7

रखने के कारण उसके जीवन में अनेक दुर्घटनाएँ घटती हैं। शालू का मंगेतर बॉबी का चचेरा भाई राकेश का शालू के प्रति आकर्षित होने के कारण बॉबी क्रोध में आकर राकेश का खून कर देता है। शालू के साथ राकेश के छेड़छाड़ करते समय बॉबी देख लेता है और गुस्से में आपा खो बैठता है। शालू कहती है – "दोनों गुत्थमगुत्था हो गए। बॉबी ने उसे जोर का धक्का दिया और जेब से रिवॉल्वर निकाला और फायर कर दिया। राकेश लड़खड़ाहट गिरा। गोली उसकी छाती में लगी। खून का फब्बारा छूट पड़ा। और राकेश ने दम तोड़ दिया।"[1]

'समय सरगम' उपन्यास में वृद्ध प्रभुदयाल की हत्या जायदाद के लिए उनके बेटों ने ही अत्यंत चालाकी से कर दी है। इसीलिए किसी को पता ही नहीं चल पता है कि बेटों ने प्रभु दयाल को मौत के घाट उतारा है। लेखिका कहती है – "पोस्टमार्टम की रिपोर्ट के अनुसार उनकी मृत्यु गला घोंटने से हुई। शव मिला हिंडन से कुछ किलोमीटर आगे छप्पर के किनारे इमली के पड़े तले।"[2]

विघटनवादी इस प्रखर दौर में रिश्ते-नातों की अहमियत खत्म हो रही है। पारस्परिक लगाव का स्थान हिंसा ने ले लिया है। इसलिए हत्या विभिन्न रूप में दहशत फैलाने में सफल हो रही है।

5.2.7 आत्महत्या

अंतिम दशक के व्यक्तिवादी समाज में व्यक्ति आत्मकेन्द्रित बन गया है। समाज तथा परिवार से दूर जाकर भले ही स्वयं शांति ढूँढता हो, मगर अनेक परिस्थितियाँ ऐसी आती हैं जहाँ वह अकेला पड़ जाता है। भय, कुंठा, तनाव, अकेलापन आदि मानसिक विकारों के कारण वह दूसरों से संबंध स्थापित नहीं कर पाता अथवा करना ही नहीं चाहता। संघर्षशील परिस्थिति से जूझकर वह आत्महत्या करने के लिए विवश हो जाता है। सत्येन्द्र त्रिपाठी आत्महत्या के संदर्भ में कहते हैं – "मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत के अनुसार हत्या तथा आत्महत्या दोनों ही आक्रमण की चरम स्थिति के रूप हैं। इस आक्रामक स्थिति का लक्ष्य स्वयं वही व्यक्ति होता है, और खुद पर आक्रमण करता है तथा दूसरे का लक्ष्य अन्य व्यक्ति होते हैं, जिसमें आक्रामक व्यवहार का प्रभाव दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों पर

[1] मॉडल गर्ल - बलवंत गार्गी, पृ.सं. 122
[2] समय सरगम - कृष्णा सोबती, पृ.सं. 112

पड़ता है।"[1] प्रत्येक समाज में तथा प्राचीन काल से ही आत्महत्या के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। परन्तु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाज के जो नये-नये रूप सामने आने लगे, उसमें व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाने के कारण भी व्यक्ति ही अधिक विघटित हुआ है। समाज के साथ अत्यधिक लगाव और बहुत कुछ पाने की चाह में वह इन दोनों के मध्य संतुलन स्थापन करने में असमर्थ होने के कारण आत्महत्या करता है। विशेषकर इसी कारण इसी कारणवश आधुनिक समाज में आत्महत्याएँ बढ़ने लगी हैं। सत्येन्द्र त्रिपाठी के अनुसार – "समूह से पूर्ण अलगाव या अत्यधिक लगाव आत्महत्याओं को बल देता है। समूह के साथ संतुलित एकीकरण तथा सामाजिक नियमों की उपस्थिति ही आत्महत्या को रोक सकती है।"[2] अंतिम दशक मुख्य रूप से नियमहीनता का समय रहा जो व्यक्ति को आत्महत्या की ओर उन्मुख करता है।

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में नायक हर्ष समाज के साथ संतुलन हटाकर आत्महत्या कर लेता है। इसलिए वर्षा हर्ष को कायर बोलती है। अपनी स्वार्थ पूर्ति में जब हर्ष असफल होता है तब वह आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार की मृत्यु को मनोविश्लेषक कायरता कहते हैं। हर्ष एक अच्छा कलाकार होने के कारण उसमें 'अहं' अत्यधिक हो गया था, जिसके कारण अन्य कलाकारों के साथ अहं का टकराव होने लगा। नतीजतन व्यक्तिगत विघटन उसे आत्महत्या की ओर ले जाता है। वर्षा कहती है – "यह निर्णय कंटक-पथ साबित होगा, यह समझना मुश्किल नहीं था।"[3] आत्महत्या को समाज में पाप माना गया है। यहाँ तक शास्त्रों में भी इसे घृणित कार्य कहा गया है। परन्तु विडम्बना यह है कि आधुनिक युग में सारे घृणित कार्य होने लगे हैं। सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के दम तोड़ने के कारण समाज जटिल बनता जा रहा है। इस जटिल परिस्थिति में विवश होकर व्यक्ति आत्महत्या करता है। अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते इस घटना में इतनी बढ़ोत्तरी होने लगी जिसके कारण आत्महत्या सामान्य बात बन गयी। इसीलिए हर्ष के आत्महत्या कर लेने पर दिव्या कहती है – "आत्महत्या इतनी

---

[1] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 159

[2] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 165

[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 553

जघन्य नहीं है। यह एक काले क्षण में आदमी के कमजोर पड़ जाने का नतीजा है।"[1] हर्ष जिस द्वंद्वात्मक तथा संघर्षशील स्थिति से गुजरता हुआ आत्महत्या का वरण करता है वह आधुनिक समाज में साधारण बात है। मगर आत्महत्या करने वाला से अधिक कष्ट उसके निकटतम लोगों को होती जो यह पीड़ा सहने के लिए पीछे रह जाते हैं। वर्षा कहती है – "आत्महंता को पता नहीं होता कि अपने निकटतम लोगों को वह कैसे सर्वग्रासी दुख के शिकंजे में कसा छोड़ रहा है। अपनी टुच्ची खुदगर्जी में वह सिर्फ अपने दर्द में डूबा रह जाता है – कुत्ते की तरह अपने घाव को चाटता हुआ। वे पीछे छूटे लोग वंदनीय हैं, जो पीड़ा के दंश से चीखते हुए फिर अपने कर्मपथ पर वापस लौटते हैं।"[2] भौतिक संस्कृति में 'मैं' में जी कर व्यक्ति विघटन की ओर बढ़ता है। भारतीय संस्कृति की खिलाफत करती यह चिंताधारा व्यक्ति को रसातल में ले जाती है। इसलिए आत्महत्या व्यक्ति की दुर्बलता की पहचान है। वर्षा इसलिए कहती है – "यह दुर्बलों और कायरों की अपनी बौनी क्षमता को पहचानने की स्वीकृति है। सच्चे और महान वे हैं जो अपनी असफलता की कचोट के साथ जिंदा रहते हैं। अपने निकृष्टतम रूप में भी जिंदगी मौत के सर्वश्रेष्ठ ढंग से बेहतर है।"[3]

'विश्रामपुर का संत' उपन्यास में कुँवर जयंती प्रसाद सिंह जो राज्यपाल जैसी उच्च गद्दी पर आसीन होने के बावजूद भी अपने आत्मकेन्द्रित स्वभाव तथा स्वार्थपरता के कारण जीवन में असफल होते हैं और उन्हें आत्महत्या तक खींच लेता है। कुर्सी पाने की लालच में जीवन भर उन्होंने दूसरों का एक तरह से शोषण ही किया है। उनकी आत्महत्या के बारे में बहुत छानबीन तथा चिंतन-मनन के बाद उनका विवेक कहता है – "वह उनके वर्ग के बहुत से दूसरे व्यक्तियों जैसा ही था। लगभग वे सभी आत्मकेन्द्रित होते हैं, सिर्फ अपने लिए रहते हैं, परिवार वालों को अपनी जीवन शैली में दला हुआ देखना चाहते हैं। वे अपने छोटे-छोटे अहंकारों के साथ आत्मतुष्ट जीवन बिताते हैं। छोटी-छोटी महत्वाकांक्षाएँ पालते हैं और जाने-अनजाने एक दूसरे को ठेलते धकियाते हुए उनसे आगे निकलना चाहते हैं। ऐसी जीवन शैली में आत्महत्या तक खींच ले जाने वाला व्यर्थता बोध किसी गहरे चिंतन का

---

[1] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 549
[2] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 549
[3] मुझे चाँद चाहिए - सुरेन्द्र वर्मा, पृ.सं. 549

नतीजा नहीं हो सकता।"[1] जयंती प्रसाद अपने स्वार्थ एवं अहंकार में रहकर अपने बेटे के सुख पर भी ध्यान नहीं देते हैं। जब विघटन के चरम क्षण में उन्हें यह अहसास होता है तब वे जल समाधि ले लेते हैं। डॉ. सुरेश पटेल कहते हैं – "प्रेम में असफल व्यक्ति अंत में खुदकुशी की ओर ही जाता है। कुँवर जयंती प्रसाद को सभी नायिकाओं से निराशा ही हाथ लगी। विवेक का सारा जीवन उन्हीं के कारण एक बहुत बड़ी ट्रैजडी बन गया।"[2]

'आवां' उपन्यास में भी आत्महत्या की विकृतियों का चित्रण मिलता है। एक लड़की ट्रेन से कूदकर आत्महत्या करना चाहती है जिसे नमिता बचाती है। नमिता कहती है – "खट से मेरे दिमाग में अनहोनी कौंधी। झपटकर मैंने उस लड़की को पीछे से धर दबोचा। मामला भाँप एक दो अन्य महिलाएँ भी मेरे पीछे लपकीं। छटपटाकर लड़की ने मेरी जकड़ से छूटने की कोशिश की। उन महिलाओं ने भी मेरी मदद की। घसीटकर हम उसे सीट पर ले आए। आशंका निर्मूल नहीं थी – आत्महत्या के इरादे से लड़की खाड़ी में छलांग लगाना चाह रही थी।"[3] किरपु दुसाध जेल में ही आत्महत्या कर लेता है। नमिता कहती है – "घाटकोपर पुलिस हवालात में किरपु दुसाध ने आज तड़के आत्महत्या कर ली। आत्महत्या कैसे की, विवरण उपलब्ध नहीं।"[4] किरपु दुसाध अनीसा की हत्या के कारण जेल जाता है। मगर हत्या के पश्चाताप के कारण ही उसने आत्महत्या कर ली। किरपु दुसाध खुद अपने अंतिम पत्र में लिखता है कि उसने अनीसा की जघन्य हत्या के पश्चाताप स्वरूप आत्महत्या करती है। वास्तव में विसंगतपूर्ण अंतिम दशक में व्यक्ति जब अपनी इच्छा पूर्ति में असफल हो जाता है तब अपने को दूसरों से काट लेता है। इस अजनबी अकेलापन की स्थिति में आत्महत्या को ही वह श्रेष्ठ समझता है। सत्येन्द्र त्रिपाठी कहते हैं – "साटोकिन ने भौतिक संस्कृति की वृद्धि और आत्महत्या की दर में वृद्धि में घनात्मक सह संबंध पाया है। समाज भौतिक संस्कृति के शीर्ष बिंदु पर पहुँच कर जटिलतम हो जाता है। ऐसे समाज में व्यक्तियों में ऐंद्रिय सुख के लिए संघर्ष तीव्रतम हो जाता है। अत: व्यक्ति की

[1] विश्रामपुर का संत - श्रीलाल शुक्ल, पृ.सं. 203
[2] श्रीलाल शुक्ल : एक अध्ययन - डॉ. सुरेश पटेल, पृ.सं. 63
[3] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 321
[4] आवां - चित्रा मुद्गल, पृ.सं. 405-406

मानसिकता और समाज की नैतिकता के बीच का संतुलन बिगड़ जाता है।"[1] अंतिम दशक में इसी कारणवश आत्महत्या के मामले बढ़ने लगे थे। निर्णयहीनता, हताशा तथा टूटन की स्थिति में पथ भ्रष्ट हो जाने पर जीवन से विरक्त होकर ऐसा आत्मघाती कदम उठाने के लिए बाध्य होता है। 'दीक्षांत' उपन्यास में शर्मा सर जैसे आदर्शवादी, ईमानदार अध्यापक भी शिक्षा जगत में व्याप्त विसंगतियों के कारण आत्महत्या कर लेते हैं। अस्थायी शिक्षक की दयनीयता तथा उनकी ईमानदारी का मजाक उड़ाया जाना और यहाँ तक कि दो वक्त का खाना नसीब न हो पाना यह सब उन्हें आत्महत्या जैसे जघन्य पथ की ओर ले चलते हैं।

[1] सामाजिक विघटन - सत्येन्द्र त्रिपाठी, पृ.सं. 173

उपसंहार

जीवन और समाज सदा परिवर्तनशील है। यह सृष्टि का नियम है। समय के साथ इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु परिवर्तन स्वत: नहीं होता है। इसे प्रेरित करने वाले अनेक कारक होते हैं। और ये कारक भी प्रत्येक समय के अनुसार होते हैं जो उसी काल खंड में सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरक तत्व बन जाते हैं। और एक बात हमें ज्ञात रहे कि यह परिवर्तन कभी पूर्ण रूप से नहीं होता है। अनेक ऐसे होते हैं जो अगले काल खंड में भी यथास्थिति रहते हैं। इसी कारणवश आज भी हम अपनी परंपरा से जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि शताब्दियों पुरातन रीति-रिवाज, पर्व, आचार संहिता आधुनिक जीवन का हिस्सा बने हुए हैं। और यह आगे भी जारी रहेगा। फिर भी परिवर्तन का गहरा प्रभाव समाज पर पड़ता ही है। जीवन में उन्नति या विकास के लिए परिवर्तन का समाज भी स्वागत करता है। मगर यह ध्यान देने योग्य है कि यह किस प्रकार से समाज को प्रभावित करता है? वाकई यह समाज के विकास के लिए उत्तरदायी है या समाज को रसातल में ले जाता है। यह मान्य है कि विकास के मूल में हमेशा समाज का हित होना अनिवार्य है, तभी हम उसे विकास कह सकते हैं अन्यथा इसे 'समाजघाती' या 'समाज विरोधी' या 'संक्रमण' ही कहा जा सकता है। अत: मेरा यह मानना है कि विकास के लिए हमें सर्वप्रथम अपनी जड़ों को टटोलना चाहिए। जमीन से जुड़ना तथा व्यक्ति से जुड़ना अत्यंत आवश्यक है। परन्तु बीसवीं शताब्दी में हम इसमें एक तरह से असफल ही रहे। इस असफलता के लिए अनेक कारक उत्तरदायी हैं, जिसे गिनाना संभव नहीं है। समाज के विकास में जो बाधा डालते हैं उसे हम विसंगति के रूप में नामांकित कर सकते हैं। देखा जाए तो प्राचीन काल से ही समाज विसंगतियों से घिरा रहा। इसका कारण यह हो सकता है कि विशाल भूभाग में इसे रोक पाना दुष्कर कार्य है। सकारात्मक दृष्टि से अगर देखा जाए तो इन विसंगतियों से रहित समाज विकास की गत्यात्मकता में बाधा पहुँचाता है।

बीसवीं शताब्दी विकास की यात्रा में मील का पत्थर साबित हुई है। इस सदी की ऐसी अनगिनत उपलब्धियाँ हैं जो इसे दूसरे सदियों से महत्वपूर्ण ठहराती हैं। इस विकास धारा को अगर हम पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में विभाजित करके देखें तो उत्तरार्द्ध में पूर्वार्द्ध का विपर्यय ही असलियत बनकर

उपस्थापित होता है। पूर्वार्द्ध में जो-जो विकास अभियान छेड़े गये थे, देश की आजादी, नवजागरण, धर्मनिरपेक्षता, समता, मूल्यों की रक्षा स्त्री जागरण आदि उत्तरार्द्ध में चरमराने लगे। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में जनतंत्र, स्वतंत्रता, वैज्ञानिक तकनीकी विकास पर आधारित प्रगति, बुद्धि, विवेक पर भरोसा और समाजवादी सभ्यता के जन्म ने मनुष्य को नई ऊर्जा तथा उत्साह से भर दिया। लेकिन सदी केअंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते समस्त ऊर्जा का उत्साह सामाजिक विसंगतियों में रूपायित होने लगा। सामाजिक संतुलन में भारी अंतर दृश्यमान होने लगा। बीसवीं शताब्दी के मध्य में हम अंग्रेजों के उपनिवेशवाद से स्वतंत्र हुए यह सत्य तो है मगर अंतिम दशक तक आते-आते भूमंडलीकरण नव्य उपनिवेशवाद के रूप में हमारे समाज को तहस-नहस करने के लिए पुन: कमर कस लिया था। अब उपनिवेशवाद भूमंडलीकरण के नये रूप में प्रकट हुआ जिसे नवउपनिवेशवादी दौर कहा जाने लगा है। इसके साथ-साथ बाजारवाद या उपभोक्तावाद के मकड़जाल में हम इस प्रकार फँसे हुए हैं कि हमें चाहे अच्छा लगे या बुरा, लेकिन अपनी अपार शक्ति के साथ बाजार हमें चारों ओर से घेरता जा रहा है। परम्परागत आस्थाएँ, अस्मिताएँ, संस्थाएँ या तो नष्ट होती जा रही हैं या बाजार शक्ति के आगे लाचार होकर आत्मसमर्पण करती जा रही हैं। लोगों में बस 'लूटने' की मनोवृत्ति प्रबल हो रही है। अपार धन की प्राप्ति तथा मृत्यु पर्यंत उसे बनाये रखना आज जीवन का मंत्र बन गा है। शताब्दी का अंतिम दशक वह दौर है जब सूचना क्रांति ने सदियों पुराने भारतीय समाज के ताने-बाने को तहस-नहस कर दिया। फलस्वरूप मानवीय मूल्य के मान घटने लगे। लोग अपनों से दूर होने लगे। एक ऐसा आत्मकेन्द्रित समाज का गठन हुआ जहाँ केवल अपने स्वार्थ को ही श्रेय दिया जाने लगा।

अत: बीसवीं सदी के अंतिम दशक में इन्हीं सब पाश्चात्य शक्तियों के कारण भारतीय समाज तीव्र राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक बदलावों के बीच संघर्षरत है। सामाजिक जीवन दयनीय बन गया है। इनके प्रभाव से सामाजिक जीवन का प्राय: प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित हुआ। चार पुरुषार्थ में से केवल 'अर्थ' और 'काम' को ही सर्वस्व माना गया। इसलिए अंतिम दशक को अर्थ तथा काम केन्द्रित समाज आख्यायित करने में अतिश्योक्ति नहीं होगी। उपभोक्तावाद के दबदबा के कारण भौतिक सुखों को ही श्रेष्ठ माना गया। अर्थ प्राचुर्य के कारण काम प्रवृत्ति में स्वच्छंदता आयी, इसलिए लोगों में

पैशचिक प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी। पूर्ण रूपेण ऐसा कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक अनेक विसंगतियों से भरा समाज है।

इसी कारणवश अंतिम दशक में साहित्यकारों ने सामाजिक विसंगतियों को अपने रचना संसार का हिस्सा बनाया। समाज के साथ निकट संबंधता बनाये रखने के कारण साहित्यकार सभी पहलुओं को सूक्ष्मता के साथ हृदयंगम करने में सक्षम है। इसी सूक्ष्म दृष्टि के कारण साहित्यकार साधारण मनुष्य से अलग ठहरता है। विशेषकर उपन्यास में ही लेखक की अंतर्दृष्टि को विस्तृत फलक पर उभारकर लोगों के पास संदेश पहुँचाया जाता है। फलस्वरूप आधुनिक समाज में कल्पनाशीलता को नहीं यथार्थ को महत्वपूर्ण माना गया है। राजा, महाराजाओं की गाथा या स्वप्ननगरी की कल्पना या जासूसी तिलस्मी का वर्णन बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उपन्यास का विषय नहीं रह गया है। अब समय यथार्थ का उद्घाटन का समय है। अत: यथार्थ का चित्रणा जितने सशक्त रूप में उपन्यास साहित्य में होता है उतना अन्य विधा में कष्टसाध्य है। यथार्थ का विवेचन तथा विश्लेषण कर उपन्यासकार जिस विद्वता के साथ घटना का चित्रण करता है ऐसा लगता है यह हमारी गाथा है जो उपन्यास बन गया है। यह निकट संबंधता ही उपन्यास को और भी अधिक जीवंत बनाता है। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में समाज में जो कुछ घटित हो रहा था वे सभी उपन्यासों के विषय बने।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में जिस तेजी के साथ समाज में परिवर्तन आया तथा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आने लगा, उसे हिंदी उपन्यासों ने भी चित्रित करने की भरपूर कोशिश की है। वरन् ऐसा कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी सर्वाधिक अराजकतापूर्ण सदी होने के कारण साहित्य में उन समस्याओं का चित्रण बहुल मात्रा में होने लगा है। लगभग सभी उपन्यासों में सामाजिक विसंगतियों का चित्रण मिलता है। अत: विसंगतियों की गंभीरता के आधार पर मैंने 1991-2000 की अवधि के अंतर्गत के बीच उपन्यासों का चुनाव किया है। जो वास्तव में उस समय का मूक साक्षी है। समाज में व्याप्त तमाम विसंगतियों का चित्रण इन उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य रहा।

अंतिम दशक में समाज को कलुषित करते हुए भ्रष्टाचार, बलात्कार, समलैंगिकता, साम्प्रदायिकता, आतंकवाद, बाल यौन शोषण जिस प्रकार की दहशत फैलाये हुए थे वे लगभग सभी उपन्यासकारों का चिंतन-मनन का विषय रहा।

सामाजिक जीवन जिस प्रकार विसंगतियों के प्रभाव से तहस-नहस हो रहा था वह भी उपन्यास में चित्रित हुआ है। 'धर्म' का सबसे विकृत रूप इसी अंतिम दशक में ही उभरा है। धार्मिक भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, आतंवाद यह सभी धर्म विकृति का भी फलाफल है। साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद का दिल दहलाने वाला रूप आम आदमी के साथ जानवर से भी बदतर पेश आ रहा था। गीतांजलि श्री के उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में साम्प्रदायिकता से त्रस्त आम आदमी का जीवन को नजदीक से देखा जा सकता है। 'कितने पाकिस्तान', 'आवां', 'चाक' आदि उपन्यास में भी इसका सजीव चित्रण हुआ है। आतंकवाद की दहशत को मनमोहन सहगल का उपन्यास 'नरमेघ' तथा गीतांजलि श्री का उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में देखा जा सकता है। धार्मिक कट्टरता के कारण सम्प्रदायों के बीच का संबंध विषैला बन गया है। लोगों में धर्म के नाम पर गलतफहमियाँ फैलाकर एक दूसरे का दुश्मन बनाना इसी सदी की देन है। 'धर्म' का जो हिंसक रूप 'नरमेघ' उपन्यास में मिलता है उससे मन व्यथित होता है। अंतिम दशक में धर्म के नाम पर रक्तपात मचा हुआ था। अपने को श्रेष्ठ मनवाने के उन्माद में लोगों में आतंक फैलाया जा रहा था।

अंतिम दशक में 'अर्थ' और 'काम' में जितनी विकृतियाँ परिलक्षित होती हैं, वह अन्यथा दुर्लभ है। धन प्राप्त करने के सैकड़ों विसंगत साधन इसी समाज की देन है। महानगरीय जीवन शैली की चकाचौंध में लोग इस प्रकार अंधे बन गये हैं उनमें सही-गलत की समझ मानो समाप्त हो गयी है। या फिर समझ होने से भी वे लाचार हैं। उपभोक्ता संस्कृति के कारण उसे दुनिया की तमाम चीज जरूरी लगती है जिसे प्राप्त करने के लिए उसमें बेशुमार धन के प्रति ललक पैदा होती है। ऐसी स्थिति में वह यह नहीं सोचता है कि धन गलत माध्यम से अर्जन करने का परिणाम क्या हो सकता है! माफिया, चोरी, घूसखोरी, नग्न प्रदर्शन, पुरुष वेश्या (Gigolo), कोख का विक्रय (Surrogacy), सत्ता लोलुपता इत्यादि इसी अर्थ प्रधान संस्कृति की ही देन है। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता', 'मॉडल गर्ल',

'आवां' आदि उपन्यास में इसी विसंगत माध्यम से धन उपार्जन के बारे में चौंकाने वाला चित्रण हुआ है। वास्तव में इन उपन्यासों को पढ़ने के पश्चात ही ज्ञात होता है समाज किस प्रकार रसातल में चला जा रहा है। इस अर्थ प्रधान समाज का यही सच है कि "पेट भरने का एक ही रास्ता है, अपनी किसी काबिलियत को बाजार में बेच पाना।" मगर सच्चाई यह है कि पेट कभी भरता ही नहीं। अंतिम दशक में लालच एक पवित्र मनोवृत्ति बन गया है। जिसे हर कोई चाहे-अनचाहे स्वीकार कर रहा है।

अर्थ प्राचुर्य के कारण 'काम' भी विकृतियों की चरम पर बना रहा। पैसा फेंककर काम सुख पाना आधुनिक समाज में स्वाभाविक बन गया है। स्त्री सशक्तिकरण के इस दौर में जहाँ स्त्री समानता की नारेबाजी चल रही है, वहीं स्त्री स्वावलंबी बनकर अधिक स्वच्छंद बन गयी है। नारीवाद की गलतफहमी में रहकर अपनी शक्ति का गलत इस्तेमाल अंतिम दशक की स्त्री का आचरण बन गया है। मुक्तभोग, समलैंगिकता स्त्री की स्वच्छंदता का नतीजा है। विवाह के बिना माँ बनना, गर्भपात आदि को वह अपनी स्वतंत्रता की निशानी मानती है। पुरुष के साथ प्रतिद्वंद्विता कर वह हमेशा बदले की भावना में तरबतर दिखाई पड़ती है। पाश्चात्य संस्कृति ने स्त्री को भी नहीं छोड़ा है। 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में उच्च वर्ग की स्त्री के काम उन्माद के कारण जिगोलो संस्कृति ही चल पड़ी है। शराब पीना, पव में जाना नग्न प्रदर्शन करना स्त्री के लिए मामूली बात बन गया है। परन्तु सच्चाई तो यह है कि अंतिम दशक में स्त्री की स्थिति बाजारवाद के चलते देह से परे कुछ नहीं रह गयी है। स्त्री उपभोग की वस्तु मात्र बन गई है। बलात्कार की दहशत से वह अभी भी त्रस्त है। शिक्षित, स्वावलंबी बन जाने के बावजूद उसे इस व्याधि से मुक्ति नहीं मिल पाई है। भूमंडलीकरण के भयानक दौर में स्त्री भी बाजार का हिस्सा बन गई है। स्त्री को स्वतंत्रता के नाम पर अंतिम दशक में बुरी तरह से छला गया है। 'मॉडल गर्ल' उपन्यास की शालू हो या 'आवां' उपन्यास की नमिता अथवा गौतमी सभी इस स्त्री बाजार में लुण्ठित, प्रताड़ित हुए हैं। 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास में बलात्कार की जिस वीभत्स छवि को उकेरा गया है इसे देखकर ऐसा नहीं लगता है कि स्त्री वाकई स्वतंत्र हो पायी है। अंतिम दशक में इसी अर्थ तथा काम से लवरेज समाज का अवलोकन करने के पश्चात सुरेन्द्र वर्मा ने बहुत सही कहा है कि "दुनिया की सारी लड़ाई बस, यही सिमटकर रह गई है - पेट, और उससे नीचे की जगह।"

सदी के अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते सामाजिक व्यवस्था भी पश्चिमीकरण की चपेट में आ गयी है। वर्ग व्यवस्था जिस प्रकार विकृत होकर गरीब, अमीर के बीच को खाई को चौड़ा करता गया, वहीं दूसरी ओर एक ऐसे मध्य वर्ग ने जन्म लिया जिसका जीवन वाकई त्रासदीपूर्ण बन गया। 'आवां' उपन्यास में वर्ग व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों का यथार्थ चित्रण हुआ है। गरीब मजदूरों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण और उनके साथ कीड़े मकोड़े जैसा व्यवहार वर्ग व्यवस्था के घिनौनेपन को ही दर्शाता है। वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप को 'अपनी सलीबें', 'चाक', 'आवां' आदि उपन्यास में सार्थक रूप दिया गया है। पढ़ी लिखी नीलिमा जहाँ स्वतंत्र नारी बनती फिरती है वहीं अपने पति के नीच कुल के होने के कारण उससे दूर हो जाती है। और जीवन भर दूर रहकर ईशु को अनाथ मरने के लिए असहाय छोड़ देती है। इससे दुखदायी और क्या हो सकता है!

अंतिम दशक में शिक्षा व्यवस्था का ढाँचा चरमराता नजर आ रहा है। शिक्षा के मूल्य में विघटन दृश्यमान हो रहा है। शिक्षा संस्था अब केवल डिग्री प्राप्त करने का माध्यम बन गयी है। शिक्षा के पाश्चात्यकरण के कारण बड़े-बड़े शिक्षानुष्ठान में बच्चे प्राप्त करने के लिए उच्च डोनेशन देकर इसलिए पढ़ते हैं ताकि विदेश जाकर धन कमा सकें। अर्थ प्रधान अंतिम दशक में शिक्षा मात्र अर्थ प्राप्त करने का माध्यम है। इस यांत्रिकता के चलते गुरू शिष्य संबंध में वह आत्मीयता, सम्मान भाव आज नहीं रह गया है। बदलते परिवेश में दोनों का रूप विकृत हो गया है। अनुशासनहीनता, उद्दंडता, पक्षपात, आज इनके चरित्र में शामिल हो गया है। फलस्वरूप शिक्षा के स्तर में गिरावट आई है। शिक्षा जगत भी साम्प्रदायिकता, राजनीति, भाई भतीजावाद से मुक्त नहीं रह पाया है। गिरिराज किशोर 'यातनाघर' उपन्यास में देवेश ठाकुर 'शिखर पुरुष' सूर्यबाला के ‘दीक्षान्त’, मैत्रेयी पुष्पा 'चाक' उपन्यास में शिक्षा व्यवस्था की तमाम विसंगतियों का सजीवता से चित्रित किया गया है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक पहुँचकर परिवार सबसे अधिक त्रासदियों को झेलने लगा था। परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई होने के कारण तमाम पाश्चात्य प्रभाव के छलावा से परिवार अछूता नहीं रह पाया है। संयुक्त परिवार का एकल परिवार में तब्दील होकर संबंधों में तिक्तता आने लगी है। पारिवारिक संबंध में तनाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-

पुत्र, पुत्री, भाई-भाई के संबंध में स्वार्थ की बू आने लगी है। परिवार में वृद्धों की स्थिति दयनीय बन गयी है। परिवार में यौन शोषण भी काम केन्द्रित समाज की देन है। पति-पत्नी के संबंध सबसे अधिक विघटित होने लगे हैं। पति-पत्नी में अहं का टकराव, प्रतिद्वंद्विता के मनोभाव के कारण विवाह विच्छेद, विवाहेत्तर संबंध अंतिम दशक में चरम पर रहा। 'छिन्नमस्ता', 'कठगुलाब', 'चाक', 'पाँच आँगनों वाला घर', 'आवां' आदि उपन्यासों में पारिवारिक विघटन का सजीव चित्रण हुआ है। शोध-कार्य के दौरान मुझे यह पता चला कि अंतिम दशक में सबसे अधिक विघटित परिवार ही हुआ है। पारिवारिक संबंध में वह आत्मीयता, स्नेह, धैर्य, प्रतिबद्धता नहीं रह गये हैं। जो आदर्श परिवार मानदंड हैं। लगभग समस्त उपन्यासों में संबंध की टूटन तथा परिवार की टूटन की व्यथा क्या उपलब्ध है।

समाज में व्याप्त विसंगतियों का ज्यों का त्यों चित्रण कर देना ही इन उपन्यासकारों का लक्ष्य नहीं है। बल्कि उन कारकों को भी ढूँढ निकालने के लिए वचनबद्ध हैं जो इन विसंगतियों के लिए उत्तरदायी हैं। ताकि लोगों में चेतना विकसित हो। इन कारकों की भयावहता को वे हृदयंगम ही नहीं बल्कि इनका प्रतिरोध भी कर सकें। इस मानवतावादी मकसद से उपन्यासकार कटिबद्ध हैं। तकनीकी विकास का गलत प्रयोग आदि कारकों का उपन्यासों में पर्दाफाश किया गया है। और इन तमाम विसंगतियों के कारण में समाज का तथा व्यक्ति का क्या हश्र होता है इसे भी उपन्यास में दर्शाया गया है। अर्थ केन्द्रित समाज व्यक्ति को जितना आशावादी बनाता है उससे कहीं ज्यादा असहाय बनाता है। आत्मकेन्द्रित बनकर व्यक्ति जहाँ स्वयं में सुख ढूंढता है, वहीं दूसरी ओर अकेलापन, संत्रास, कुंठा, तनाव, हिंसा, निराशा, पागलपन, विद्रोह आदि विकृतियों को झेलने के लिए मजबूर होता है। इन परिस्थितियों से अगर उसे छुटकारा नहीं मिल पाता है तब वह लाचार होकर हत्या तथा आत्महत्या जैसे जघन्य कांड करने के लिए बाध्य होता है। समस्त उपन्यासों में व्यक्ति के इस प्रकार विघटन का मार्मिक चित्रण हुआ है। 'आवां' की नमिता, 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' का नील और भोला, 'अर्धनारीश्वर' की सुमिता, 'विश्रामपुर का संत' का कुंवर जयंती प्रसाद, 'कठगुलाब' की स्मिता, नमिता, विपिन, 'छिन्नमस्ता' की प्रिया, 'मॉडल गर्ल' की शालू, 'चाक' की सारंग, 'यातनाघर' का

विष्णु नारायण, 'शिखर पुरुष' का डॉ. शीतांशु, 'दीक्षांत' उपन्यास के शर्मा सर आदि सभी का व्यक्त्वि खंडित हुआ है। चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने ये सभी व्यक्तिगत विघटन के कगार पर आ खड़े हुए हैं।

इस विसंगतिपूर्ण समाज में हर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से प्रताड़ित हुआ है। क्योंकि इसका लक्ष्य यही है। समाज की क्षुद्रतम इकाई को खंडित करके ही समाज पर अपना अधिकार व्यक्त किया जा सकता है। जीवन मूल्यों तथा मानवतावाद पर कुठाराघात कर चन्द लोगों के हाथ आर्थिक स्वाधीनता मुहैया कराकर पुन: हमारे समाज में अराजकता फैलाना ही इन बाहरी शक्तियों का मूल उद्देश्य है। इसे हमें समझना होगा। व्यक्ति तथा समाज में समझ पैदा करने के लिए ही हमारे साहित्यकार कटिबद्ध हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में व्याप्त सामाजिक विसंगतियाँ उस समय के उपन्यासों में साकार रूप में मात्र उपस्थित ही नहीं बल्कि लोगों में चेतना विकसित करते हुए आगामी पीढ़ी को पथ प्रदर्शित करती है। इन तमाम विसंगतियों की भयावहता मानव समाज पर इसका खौफनाक प्रभाव डालती है साथ ही साथ व्यक्ति को चिंतन-मनन का मौका भी देती है जो आगे के समय में इन विसंगतियों का परिष्कार करके अच्छे जीवन मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करने में सहायक साबित हो सकते हैं।

****

संदर्भ ग्रंथ सूची

I. आधार ग्रंथ

क्र.सं.	लेखक/लेखिका का नाम	पुस्तक का नाम	प्रकाशक	संस्करण
1.	कमलेश्वर	कितने पाकिस्तान	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
2.	कृष्णा सोबती	समय सरगम	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
3.	गिरिराज किशोर	यातना घर	राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली	1997
4.	गीतांजलि श्री	हमारा शहर उस बरस	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
5.	गोविन्द मिश्र	पाँच आँगनों वाला घर	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
6.	चित्रा मुद्गल	आवाँ	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली	1999
7.	देवेश ठाकुर	शिखर पुरुष	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1995
8.	नमिता सिंह	अपनी सलीबें	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1995
9.	प्रभा खेतान	छिन्नमस्ता	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
10.	बलवंत गार्गी	मॉडल गर्ल	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
11.	मनमोहन सहगल	नरमेध	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1992
12.	मृदुला गर्ग	कठगुलाब	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1996
13.	मैत्रेयी पुष्पा	चाक	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1997
14.	राजी सेठ	निष्कवच	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1994
15.	विष्णु प्रभाकर	अर्धनारीश्वर	किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली	1993

16.	वीरेन्द्र जैन	पंचनामा	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1996
17.	श्रीलाल शुक्ल	बिस्रामपुर का संत	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
18.	सुरेन्द्र वर्मा	मुझे चाँद चाहिए	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1993
19.	सुरेन्द्र वर्मा	दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
20.	सूर्यबाला	दीक्षांत	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	1992

II. सहायक ग्रंथ

क्र.सं.	लेखक/लेखिका का नाम	पुस्तक का नाम	प्रकाशक	संस्करण
1.	अरविंद जैन	न्यायक्षेत्रे : अन्याय क्षेत्रे	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2002
2.	आनंद पाटील	संस्कृति बनाम अपसंस्कृतिकरण	उज्ज्वल ध्रुवतारा प्रकाशन, इलाहाबाद	2010
3.	संपा. डॉ. आनंद प्रकाश सारस्वत	साम्प्रदायिकता और भारतीय समाज	सरूप एंड सन्स पब्लिशर्स, मेरठ	1989
4.	इन्द्र देव	भारतीय समाज	आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन, आगरा	1969
5.	डॉ. ए. विजयलक्ष्मी	समकालीन हिंदी उपन्यास, समय से साक्षात्कार	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली	2006
6.	कमलेश भारद्वाज	प्राचीन भारत में समाज एवं राज्य	पोइन्टर प्रकाशन, जयपुर	1999
7.	गोपाल राय	हिंदी उपन्यास का इतिहास	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2005
8.	डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर	गाविन्द मिश्र का औपन्यासिक संसार	भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
9.	जगमोहन सिंह राजपूत	शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ	विद्याविहार प्रकाशन, नई दिल्ली	2006

10.	ज्योतिष जोशी	उपन्यास की समकालीनता	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली	2007
11.	नरेन्द्र मोहन	धर्म और साम्प्रदायिकता	प्रभात प्रकाश्यान, दिल्ली	1996
12.	नंद भारद्वाज	संस्कृति, जनसंचार और बाजार	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
13.	निर्मल कुमार सिंह	अपराध और भ्रष्टाचार की राजनीति	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
14.	प्रकाश नारायण नाटाणी, प्रज्ञा मिश्र	भारत में सामाजिक समस्याएँ	पोइन्टर प्रकाशन, जयपुर	2000
15.	प्रदीप कुमार जोशी	प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित गार्हस्थ आश्रम	क्लासिकल प्रकाशन, नई दिल्ली	1996
16.	डॉ. प्रमोद कुमार अग्रवाल	भारत की समस्याएँ और समाधान	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	1998
17.	डॉ. प्रमोद कोव्वप्रत	भारतीय जीवन मूल्य और ज्ञानपीठ पुरस्कृत हिंदी कवि	सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली	2003
18.	संपा. बृजबिहारी शर्मा	जहरमोहरा	कतार प्रकाशन, इलाहाबाद	1993
19.	भरत झुनझुनवाला	वर्ण व्यवस्था	श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली	2008
20.	मधुरेश	हिंदी उपन्यास का विकास	सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद	1998
21.	एम.एन. श्रीनिवास	आधुनिक भारत में जाति	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2001
22.	मस्तराम कपूर	समसामयिक प्रतिक्रियाएँ	लेखक मंच प्रकाशन, दिल्ली	1986
23.	मोहम्मद जमील अहमद	अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का चित्रण	अन्नपूर्णा प्रकाशन	2006
24.	मानचन्द खेडेला	आधुनिकता और महिला उत्पीड़न	पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर	2004

25.	रमेशचन्द्र दीक्षित, डॉ. गिरिराज शाह	मानवधिकार : दशा और दिशा	साहित्य निकेतन, दिल्ली	2009
26.	रवीन्द्र नाथ मुखर्जी	सामाजिक विचारधारा	विवेक प्रकाशन, दिल्ली	1992
27.	डॉ. रवीन्द्रनाथ	जीवन प्रणाली की रूपरेखा	किताब महल, इलाहाबाद	1999
28.	राघवेन्द्र पान्थरी	प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1987
29.	संपा. राजकिशोर	हिंसा की सभ्यता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
30.	संपा. राजकिशार	स्त्री परम्परा और आधुनिकता	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	2007
31.	संपा. राजकिशार	भ्रष्टाचार की चुनौती	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	2000
32.	डॉ. रामजी तिवारी	भविष्य पुराण एक अनुशीलन	वैशाली प्रकाशन, मेरठ	1986
33.	डॉ. रामचन्द्र त्रिपाठी	हिंदी का गद्य साहित्य	विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी	2000
34.	रामदरश मिश्र	हिंदी उपन्यास एक अंतर्यात्रा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1968
35.	विजय मोहन सिंह	बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2005
36.	विजय बहादुर सिंह	आओ खोजें एक गुरू	श्रेया प्रकाशन, इलाहाबाद	2006
37.	विभूति नारायण राय	साम्प्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	2000
38.	डॉ. वी. एन. सिंह	भारतीय सामाजिक चिंतन	विवेक प्रकाशन	1986
39.	डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह	प्राचीन भारतीय संस्कृति	अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद	1997
40.	वीरेन्द्र कुमार शर्मा	भारतीय सामाजिक संस्थाएँ	पंचशील प्रकाशन, जयपुर	1997
41.	श्यामाचरण दुबे	समय और संस्कृति	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1996

42.	श्यामाचरण दुबे	भारतीय समाज	नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली	2006
43.	श्यामाचरण दुबे	संक्रमण की पीड़ा	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	1998
44.	श्यामाचरण दुबे	शिक्षा और समाज	सातवाहन प्रकाशन, नई दिल्ली	2003
45.	सहदेव सिंह	हमारे सामाजिक विघटन की कहानी	आदित्य प्रकाशन, इटावा	1994
46.	डॉ. सविता नागर	भारतीय समाज में कार्यशील महिलाएँ	क्लासिक पब्लिशर्स, जयपुर	1998
47.	सत्येन्द्र त्रिपाठी	सामाजिक विघटन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	2002
48.	सच्चिदानंद सिन्हा	जाति व्यवस्था : मिथक वास्तविकता और चुनौतियाँ	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	2006
49.	सव्यसाची ब्रह्मचार्य	आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली	1990
50.	डॉ. सुरेश पटेल	श्रीलाल शुक्ल : एक अध्ययन	साधना प्रकाशन, कानपुर	2009
51.	सुमित सरकार	सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौती	ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली	1997
52.	क्षमा शर्मा	औरतें और आवाजें	आलेख प्रकाशन, दिल्ली	2005
53.	क्षमा गोस्वामी	परिवार में सौहार्द्र	ज्ञानभारती प्रकाशन, दिल्ली	2005
54.	डॉ. ज्ञानचन्द्र शर्मा	आधुनिक हिंदी कहानी में वर्णित सामाजिक यथार्थ	राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली	2003

III. सहायक ग्रंथ (अंग्रेजी)

1. Emile Durkheim – The Division of Labour, Translated by George Simpson, Free Press & GLencoe, 1947
2. Emile Durkheim, Suicide, Translated by Spaulding and Simpson, Glencoe, 1945

3. Talcott Parsons, The structure of Social Action, Mc Graw, Hill Book co. Newyork, 1937
4. Talcott Parsons, The social system, The Free Press, Glencoe, 1951

IV. कोश ग्रंथ

1. ऑक्सफोर्ड एशेन्सियल, अंग्रेजी-हिंदी कोश, ऑक्सफोर्ड, राधा प्रेस, दिल्ली, संस्करण – 2006
2. स्वर्गीय चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा तारिणीश झा, रामनारायण बेनी प्रसाद प्रकाशक, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण – 1971
3. जर्जिया होले, सारा हकर, ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी संक्षिप्त कोश, विश्वविद्यालय प्रेस, वाराणसी, संस्करण 2003
4. बी.एन. तिवारी, व्यावहारिक हिंदी-अंग्रेजी कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण – 1979
5. डॉ. ब्रजमोहन, डॉ. बदरीनाथ कपूर, मीनाक्षी हिंदी-अंग्रेजी कोश, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, संस्करण – 1982
6. भोलानाथ तिवारी, हिंदी पर्यायवाची कोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण - 1984
7. भोलानाथ तिवारी, महेन्द्र चतुर्वेदी, हिंदी शब्द कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण – 1998
8. राममूर्ति सिंह, मानक हिंदी – अंग्रेजी कोश, प्रभात प्रकाशन, संस्करण – 1993
9. डॉ. हरदेव बाहरी, राजपाल अंग्रेजी – हिंदी कोश, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 1996
10. डॉ. हरदेव बाहरी, राजपाल हिंदी शब्दकोश, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2003

V. पत्रिकाएँ

1. अक्षरा, अक्तूबर-दिसंबर, 2000, विजय कुमार देव, भोपाल
2. आलोचना, जनवरी-मार्च 2001, जनवरी-मार्च 2004, अक्तूबर-दिसम्बर 2004, नामवर सिंह, नई दिल्ली
3. मधुमती, दिसम्बर, 2004, पूनम दइया, उदयपुर
4. वागार्थ, सितम्बर 2001, हिमांशु जोशी, दिल्ली
5. हंस, अगस्त 2004, राजेन्द्र यादव, नई दिल्ली